हाकवि बिहारी की अमर कृति--

बिहारी-सतसई

[मूलपाठ, समीक्षा तथा टीका]

श्री देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' एम० ए०

हिन्दीविभाग

आगरा कॉलेज, आगरा।

विनोद पुस्तक मन्दिर

हास्पिटल रोड, आगरा।

समर्पण

परम-पूजार्ह पितृतुल्य गुरुवर

श्री पं० जगन्नाथ जी तिवारी

(अध्यक्ष-हिन्दी-विभाग आगरा कॉलेज, आगरा)

के

कर-कमलों में

—विनीत

देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र'

दो-शब्द

महाकवि बिहारी का हिंदी साहित्य में अत्यन्त गौरवपूर्ण स्थान है। इसका ज्वलन्त प्रमाण यही है कि बिहारी को अपने एकमात्र ग्रन्थ "बिहारी सतसई" से उतनी कीर्त्ति मिली जितनी कि अन्य महाकवियों को अनेक ग्रन्थों का निर्माण करने पर भी नहीं मिल पाई। हिंदी श्रृंगार-काव्य में 'बिहारी सतसई' का सृजन एक आलोक-स्तंभ के रूप में हुआ है। बिहारी ने इस कृति की रचना करने के अनन्तर श्रृंगाररस की कविता के सम्मुख जैसे लक्ष्मण-रेखा खींच दी है जिससे आगे की साहित्यिक भूमि उसके लिए उपेक्षणीय बन गई। विश्वप्राण 'तुलसी' के "मानस" के पश्चात् यदि किसी ग्रन्थ पर इतनी अधिक टीकाएं एवं समीक्षात्मक कृतियाँ प्रकाशित हुई हैं तो वह "बिहारी सतसई" ही है। स्व० रत्नाकरजी ने अपनी टीका में अन्य ५२ टीकाओं का उल्लेख किया था; तत्पश्चात् इस ग्रन्थ पर अद्यावधि शोध एवं समीक्षण कार्य अनवरत रूप से होता रहा है।

आधुनिक काल में "बिहारी सतसई" पर तीन श्रेष्ठ ग्रन्थों का प्रकाशन हुआं है। महाकवि रत्नाकरजी ने अत्यन्त परिश्रमपूर्वक बिहारी सतसई का मूल पाठ शोधन, वैज्ञानिक एवं व्याकरणिक आधार पर किया तो लाला भगवानदीन जी ने "बिहारी बोधिनी" रचकर इस अनुपम ग्रंथ के आलंकारिक सौन्दर्य का निरूपण किया। इस ग्रन्थ का शास्त्रीय तथा समीक्षात्मक विवेचन आचार्य विश्वनाथ प्रसादजी मिश्र ने "बिहारी की वाग्विभूति" एवं "बिहारी" नामक ग्रन्थों में प्रस्तुत किया है। वस्तुत: सभी उपर्युक्त ग्रन्थ परस्पर एक दूसरे के पूरक हैं।

'बिहारी रत्नाकर' (रत्नाकर कृत) के अलंकाराभाव, 'बिहारी-बोधिनी' (ला० भगवानदीन कृत) के मूल पाठ की शुद्धि के अभाव तथा 'बिहारी' (विश्वनाथप्रसाद मिश्र कृत) के टीकागत अभाव को ध्यान में रखकर ही प्रस्तुत पुस्तक की रचना करने का प्रयास किया गया है। इस पुस्तक में प्राय: सर्वत्र ही तुलनात्मक अध्ययन करने की चेष्टा की गई है। साथ ही साथ यह ध्यान भी रखा गया है कि महाकवि बिहारी तथा उनकी 'सतसई' के मूल्यांकन में आचार्य पद्मसिंह शर्मा तथा मिश्रबन्धुओं जैसी एकांगी पूर्वाग्रहग्रस्त प्रभाववादी समीक्षा पद्धति से भी बचा जा सके। भूमिका के सम्पूर्ण प्रबंध को विविध शीर्षक देकर स्वतन्त्र निबन्धों के रूप में प्रस्तुत किया गया है। अन्तिम दो निबंधों में रीति-

दो-शब्द

महाकवि बिहारी का हिंदी साहित्य में अत्यन्त गौरवपूर्ण स्थान है। इसका ज्वलन्त प्रमाण यही है कि बिहारी को अपने एकमात्र ग्रन्थ "बिहारी सतसई" से उतनी कीर्त्ति मिली जितनी कि अन्य महाकवियों को अनेक ग्रन्थों का निर्माण करने पर भी नहीं मिल पाई। हिंदी शृंगार-काव्य में 'बिहारी सतसई' का सृजन एक आलोक-स्तंभ के रूप में हुआ है। बिहारी ने इस कृति की रचना करने के अनन्तर शृंगाररस की कविता के सम्मुख जैसे लक्ष्मण-रेखा खींच दी है जिससे आगे की साहित्यिक भूमि उसके लिए उपेक्षणीय बन गई। विश्वप्राण 'तुलसी' के "मानस" के पश्चात् यदि किसी ग्रन्थ पर इतनी अधिक टीकाएं एवं समीक्षात्मक कृतियाँ प्रकाशित हुई हैं तो वह "बिहारी सतसई" ही है। स्व० रत्नाकरजी ने अपनी टीका में अन्य ५२ टीकाओं का उल्लेख किया था; तत्पश्चात् इस ग्रन्थ पर अद्यावधि शोध एवं समीक्षण कार्य अनवरत रूप से होता रहा है।

आधुनिक काल में "बिहारी सतसई" पर तीन श्रेष्ठ ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ है। महाकवि रत्नाकरजी ने अत्यन्त परिश्रमपूर्वक बिहारी सतसई का मूल पाठ शोधन, वैज्ञानिक एवं व्याकरणिक आधार पर किया तो लाला भगवानदीन जी ने "बिहारी बोधिनी" रचकर इस अनुपम ग्रंथ के आलंकारिक सौन्दर्य का निरूपण किया। इस ग्रन्थ का शास्त्रीय तथा समीक्षात्मक विवेचन आचार्य विश्वनाथ प्रसादजी मिश्र ने "बिहारी की वाग्विभूति" एवं "बिहारी" नामक ग्रन्थों में प्रस्तुत किया है। वस्तुत: सभी उपर्युक्त ग्रन्थ परस्पर एक दूसरे के पूरक हैं।

'बिहारी रत्नाकर' (रत्नाकर कृत) के अलंकाराभाव, 'बिहारी-बोधिनी' (ला० भगवानदीन कृत) के मूल पाठ की शुद्धि के अभाव तथा 'बिहारी' (विश्वनाथप्रसाद मिश्र कृत) के टीकागत अभाव को ध्यान में रखकर ही प्रस्तुत पुस्तक की रचना करने का प्रयास किया गया है। इस पुस्तक में प्राय: सर्वत्र ही तुलनात्मक अध्ययन करने की चेष्टा की गई है। साथ ही साथ यह ध्यान भी रखा गया है कि महाकवि बिहारी तथा उनकी 'सतसई' के मूल्यांकन में आचार्य पद्मसिंह शर्मा तथा मिश्रबन्धुओं जैसी एकांगी पूर्वाग्रहग्रस्त प्रभाववादी समीक्षा पद्धति से भी बचा जा सके। भूमिका के सम्पूर्ण प्रबंध को विविध शीर्षक देकर स्वतन्त्र निबन्धों के रूप में प्रस्तुत किया गया है। अन्तिम दो निबंधों में रीति-

काल की विविध ललितकलाओं का ऐतिहासिक तथा सामाजिक परिप्रेक्ष्य में सही-सही मूल्याङ्कन करने का प्रयत्न भी किया गया है। हमारी यह निश्चित धारणा है कि अब तक रीतिकाल की कविता की निरंकुशतापूर्ण एक-पक्षीय आलोचना की गई है जो कि उस युग की कविता एवं कवियों के प्रति घोर अन्याय है। रीतिकालीन कविता को न तो केवल 'घृणित-कामोद्दीपक तथा यौन' कह कर ही अस्वीकार किया जा सकता है और न केवल उसके अलंकार-प्रसंग—अनुभाव एवं रस निरूपण से ही काम चल सकता है। हिंदी के आलोचकों का यह परम कर्त्तव्य है कि वे रीतिकाल के प्रति हुए अनुत्तरदायित्व-पूर्ण-विरोध का निषेध कर के उसका सही-सही ऐतिहासिक तथा सामाजिक परिवेश में पुनर्विश्लेषण तथा सम्यङ् मूल्याङ्कन करने का प्रयत्न करे।

प्रस्तुत पुस्तक के लिखते समय अनेक सम्मान्य लेखकों की विचार-सामग्री एवं महार्घ ग्रन्थों से प्रचुर दिङ्निर्देश प्राप्त हुआ है, तदर्थ कृतज्ञता एवं आभार ज्ञापन करना मैं अपना सर्व प्रथम कर्त्तव्य समझता हूँ। समय समय पर मेरे साहित्यिक मित्र एवं बन्धुगण सर्व श्री राजनाथ शर्मा, विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, डा० रमेशकुमार शर्मा, रामगोपालसिंह चौहान, ज्वालाप्रसाद शर्मा, राममूर्त्ति शर्मा 'शास्त्रीजी' तथा कुन्दनलाल उप्रैति के जो मूल्यवान् परामर्श मिलते रहे हैं, उनके लिए धन्यवाद देना मैं उनकी सद्भावनाओं का अवमूल्यन करना समझता हूँ। श्री तोताराम शर्मा 'पंकज' ने समय-असमय, नागरी-प्रचारिणी-सभा के पुस्तकालय से जो आवश्यक सामग्री देकर सहायता की है वह भी भुलाई नहीं जा सकती। अन्त में, मैं 'विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा' के मुद्रक एवं प्रकाशक सर्व श्री राजकिशोर अग्रवाल, भोलानाथ अग्रवाल एवं विनोदकुमार अग्रवाल एम० ए० तथा प्रेस के प्रधान व्यवस्थापक श्री नानकराम शर्मा (पण्डितजी) का भी हृदयेण-आभारी हूँ जिनके अमूल्य सहयोग एवं अहर्निश-उद्योग के कारण यह पुस्तक आपके हाथों में आरही है। प्रेस के उन कम्पोजीटरों को धन्यवाद देना भी मैं 'अब्रह्मण्य' नहीं समझूँगा जो कि प्रूफ तथा मुद्रण की सहज अशुद्धियों के लिए अनावश्यक रूप से अवहेलना (किन्तु मेरी समवेदना) के पात्र समझे जाते रहे हैं।

विजयादशमी २०१५ विक्रमी

देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र'
प्राध्यापक हिन्दी-विभाग
आगरा-कॉलेज, आगरा।

विषय-सूची

१—समीक्षा

महाकवि बिहारी का जीवन वृत्त

प्राचीन भारतीय संस्कृत साहित्य की ओर यदि दृष्टिपात किया जाए तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि संस्कृत के प्रायः सभी प्रसिद्ध कवियों, नाटककारों एवं विचारकों की जन्मतिथियाँ, निवासस्थान तथा उनके जीवन के बहुविध चित्रों का मिलना अत्यन्त दुष्कर रहा है। महाभारत तथा रामायण जैसे प्रसिद्ध सांस्कृतिक काव्यग्रन्थों के कवि व्यास एवं बाल्मीकि ने यद्यपि देश की आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक तथा नैतिक परिस्थितियों का व्यापक वर्णन इन दोनों ही ग्रन्थों में किया है किन्तु वे स्वयं के विषय में मौन ही रह गए हैं। आगे चलकर संस्कृत के 'क्लासिकलयुग' के महाकवियों में भास, कालिदास, अश्वघोष, भवभूति तथा दण्डी और सुबन्धु जैसी प्रतिभाओं का उदय हुआ। इन महाकवियों ने भी परम्परानुसार अपने लिए एक पंक्ति तक नहीं लिखी—बाणभट्ट तथा हर्ष इसके अपवाद हैं। हिन्दी साहित्य के जाज्वल्यमान नक्षत्र सूर तथा तुलसी आदि ने भी अपनी व्यक्तिगत-जीवन-सम्बन्धिनी सूचनाओं से हमको वंचित रखा है। यही बात महाकवि बिहारी पर भी अक्षरशः लागू होती है। इस प्रवृत्ति का मूल कारण यही है कि हमारे देश के महाप्राण कवियों एवं दार्शनिक विभूतियों ने आत्मविज्ञापन एवं यशोलिप्सा के लिए साहित्य-सृजन नहीं किया। उनके सम्मुख साहित्यसृजन का कार्य गुरुतर उत्तरदायित्वपूर्ण था। व्यक्तिगत परिचय की अपेक्षा उन्होंने सम्पूर्ण देश का अनेक-मुखी-चित्रण करना ही अपना पुनीत अनुष्ठान स्वीकार किया।

यद्यपि महाकवि बिहारी की 'सतसैया' का साहित्यिक मूल्याङ्कन एवं उस पर टिप्पणी तथा व्याख्या-लेखन का कार्य उनके जीवन में ही प्रारम्भ हो चुका था तथापि इन टीका–लेखक एवं व्याख्याकारों ने भी 'सतसई' को ही अपना प्रतिपाद्य बनाया। बिहारी का जीवनवृत्त देने की दृष्टि से वे भी उदासीन ही रहे फिर भी बिहारी विषयक अनेक किवदन्तियों तथा कतिपय अन्तर एवं बाह्य साक्ष्यों के आधार पर कुछ व्यक्तियों ने इस दिशा में महत्वपूर्ण उद्योग किया है। महाकवि

'रत्नाकर', मिश्रबन्धु, अम्बिकादत्त व्यास, राधाचरण गोस्वामी, राधाकृष्णदास, महाकवि 'हरिऔध', शिवसिंह सेंगर, डा० ग्रियर्सन तथा आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र के प्रयत्न इस क्षेत्र में प्रशंसनीय हैं। निम्नलिखित तीन दोहों से बिहारी के जीवनवृत्त पर प्रभूत प्रकाश पड़ता है, जिसके आधार पर भिन्न-भिन्न विद्वानों ने महाकवि बिहारी के विषय में अपना-अपना विवेचन प्रस्तुत किया है :—

"संवत जुग सर रस सहित भूमि रीति गिनि लीन।
कातिक सुदि बुध अष्टमी जनम हमें विधि दीन॥
प्रगट भए द्विजराजकुल सुबस बसे ब्रज आइ।
मेरौ हरौ कलेसु सबु केसौ केसौ राइ॥
जनमु ग्वालियर जानियै खण्ड बुन्देलै बाल।
तरुनाई आई सुघर बसि मथुरा ससुराल॥"

पहला दोहा यद्यपि बिहारी द्वारा लिखित नहीं है तथापि उसके माध्यम से कवि का जन्म संवत् ज्ञान हो सकता है। सम्भवतः उक्त दोहा बिहारी-सतसई के किसी टीकाकार ने लिखा है। हो सकता है कि इस आधार पर बिहारी की जन्मतिथि पूर्णतः शुद्ध हो, और यदि उसमें किसी प्रकार कुछ वर्षों का आगा-पीछा भी होता हो तब भी यह तिथि बिहारी के जन्मसंवत् के निकट ही हमें ले जाती है। इस दोहे का अर्थ "अङ्कानां वामतो गतिः" के आधार पर इस प्रकार किया जावेगा :—जुग = २, सर = ५, रस = ६ तथा भूमि= १; अर्थात् १६५२ विक्रमाब्द। बिहारी के सभी समीक्षकों ने प्रायः उनका जन्मवसंत् १६५२ वि० ही स्वीकार कर लिया है। इसमें किसी प्रकार की विप्रतिपत्ति नहीं है।

दूसरे दोहे के आधार पर निम्नलिखित तथ्य निकलते हैं :—

१—बिहारी ब्राह्मणवंश में उत्पन्न हुए थे।
२—बिहारी कुछ समय पश्चात् ब्रजप्रदेश में आकर बस गए।
३—केशव तथा केशवराय (केशव-केशवराय) क्रमशः इनके गुरु तथा पिता थे।
४—बिहारी के आराध्य केशव अर्थात् श्रीकृष्ण थे।

"नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहिं विकास इहिकाल।
अली कली ही सौं बंध्यौ आगैं कौनु हवाल॥"

महाराज जयसिंह ने दोहे को पढ़कर, उसके रचयिता की खोज कराई ! जब उन्हें यह पता चला कि उसके रचनाकार बिहारी हैं, तब उन्हें यह चिन्ता हुई कि कहीं उनकी शासन सम्बन्धिनी उदासीनता की सूचना मुगल सम्राट् तक न पहुँच जाए तो उन्होंने बिहारी का भूरि भूरि सम्मान एवं सत्कार किया। जयसिंह ने प्रसन्न होकर बिहारी को पुष्कल-हेममुद्राएं प्रदान कीं तथा उनसे प्रार्थना की कि वे यदि इसी प्रकार के अन्य दोहे भी लिखें तो उन्हें प्रत्येक दोहे पर एक स्वर्णमुद्रा दी जावेगी। महाराज जयसिंह के स्नेह तथा सम्मानपूर्ण अनुरोध पर बिहारी वहीं ठहर गए और उन्होंने 'सतसई' नामक अपने लोकविख्यात ग्रन्थ का निर्माण किया। रानी अनन्तकुँवर चौहानी ने भी प्रसन्न होकर बिहारी को काली पहाड़ी नामक एक ग्राम प्रदान किया। रानी ने बिहारी का इस अवसर पर एक तैलचित्र भी अंकित कराया जो आज तक जयपुर के राजदरबार में सुरक्षित है। यह घटना अनुमानतः संवत् १६९२ की है जबकि बिहारी ने 'सतसई' नामक ग्रन्थ का प्रारम्भ किया। इस समय बिहारी की अवस्था लगभग ४० वर्ष की रही होगी।

कुछ काल पश्चात् रानी चौहानी के गर्भ से कुंवर रामसिंह का जन्म हुआ। पुत्र जन्म के उपलक्ष्य में बिहारी का पुनः स्वागत-सम्मान किया गया। इस अवसर पर बिहारी ने महाराज जयसिंह की प्रशस्ति-स्वरूप राजदरबार में कविता पाठ किया। बिहारी की लोकप्रियता इस घटना के उपर्यन्त और भी अधिक बढ़ चली। जब कुंवर रामसिंह ७ वर्ष के हुए तो उनका पाटीपूजन कराया गया। बिहारी ने ही उन्हें अक्षरज्ञान कराया तथा उन्हें भावी शिक्षा प्रदान करने के लिए अपने लगभग ५०० दोहों का एक संस्करण कराया। इस संस्करण में कुछ अन्य कवियों की रचनाएँ भी संकलित थीं। यह प्रति अब तक उपलब्ध है जिसमें बालक कुँवर रामसिंह के हाथ से खींची गई अनेक बालसुलभ रेखाएँ तथा टेढ़े-मेढ़े अक्षर अंकित हैं।

संवत् १७०४ में औरंगजेब ने बलख पर आक्रमण किया। इस आक्रमण का अधिनायक महाराज जयसिंह को बनाया गया। जयसिंह इस युद्ध में वीरता

से लड़े फलत: विजयपताका उन्हीं की लहराई। युद्ध विजय के उपलक्ष्य में वे सम्राट् के पास आगरा आए। वहाँ उनका प्रभूत-सत्कार किया गया। जयपुर वापस आने पर भी उनके लिए विशेष स्वागत समारोह सम्पादित किया गया। विहारी ने बलख के युद्ध का वर्णन इस प्रकार किया है।

"अनी बड़ी उमड़ी लखे असिवाहक भट भूप।
मंगल करि मान्यौ हियें भौ मुहुँ मंगल रूप॥
रहति न रन जयसाह मुख लखि लाखनु की फौज।
जाँचि निराखर हूँ चलैं लैं लाखनु की मौज॥
प्रतिबिम्बित जयसाहद्युति दीपित दरपन धाम।
सब जगु जीतन कौं कियौ कायव्यूह मनु काम॥
यौं दल काढ़े बलख तैं तैं जयसाह भुवाल।
उदर अघासुर कैं परे ज्यौं हरि गाय गुवाल॥"

सं० १७१९ में 'बिहारी सतसई' का समापन हुआ। इस समय तक बिहारी की पत्नी का देहावसान हो चुका था। अब धीरे-धीरे बिहारी के मन में वैराग्य भावना ने स्थान ग्रहण करना प्रारम्भ कर दिया। परिणामस्वरूप अपने दत्तक पुत्र 'कृष्ण' को उन्होंने जयसिंह और कुँवर रामसिंह के निकट ही छोड़ दिया तथा पुन: व्रज प्रदेश में आबसे। "बिहारी सतसई" की समाप्ति पर उन्होंने निम्नलिखित दोहे की रचना की :—

"संवत ग्रह ससि जलधि छिति, छठि तिथि बासर चंद।
चैत मास पख कृष्ण में पूरन आनँद-कंद॥"

बिहारी का देहावसान संवत् १७२१ में हुआ। अपने जीवन के संध्याकाल में बिहारी भक्त हो गए। लौकिक यश एवं अपरिमितधन राशि के बन्धन उनके मुक्तमन को बाँधने में समर्थ नहीं हो सके। उधर जयसिंह के मरण के पश्चात् जयपुर में राज्याधिकार के लिए विद्रोह हो उठा जिसका संकेत उन्होंने "दुसह दुराज प्रजानि कौं" शीर्षक दोहे में किया है।

बिहारी स्वभावत: रसिक हृदय के कवि थे। उनकी सरसता अभिजात वंशोत्पन्न व्यक्तियों जैसी थी। ग्राम्य परिहास में कभी उनका मन नहीं रुचा। वे प्रारम्भ से ही मन मौजी थे। साहित्य की बंधी हुई शृङ्खला में चलना उन्होंने

कभी स्वीकार नहीं किया । यद्यपि आचार्य केशवदास जैसे घोर रीतिबद्ध कवियों का सामीप्य भी उन्हें मिला तथापि उन्होंने रीति अलंकार आदि की रूढ़ियों से अपनी कविता की गति को कुंठित नहीं किया । बिहारी ने जीवन का अत्यन्त सूक्ष्म तथा मार्मिक अध्ययन किया था । यही कारण है कि यौवनावस्था के बिहारी, जिन्होंने खुलकर विपरीत रति का वर्णन किया था, अपने अन्त समय में दार्शनिक एवं कृष्ण भक्त हो गये ।

बिहारी अपने युग के एक जागरूक सामाजिक नागरिक थे । उनमें राष्ट्रियता की भावना भी कूट-कूटकर भरी हुई थी । उन्हें यह कभी सह्य नहीं था कि हिन्दू राजा परस्पर युद्ध करें । राजा जसवन्तसिंह ने जिस समय शिवाज़ी पर आक्रमण करना चाहा उस समय बिहारी ने स्पष्ट रूप से लिखा था :—

"स्वारथु सुकृतु न स्रमु वृथा देखि बिहंग बिचारि ।
बाज पराएं पानि परि तू पंछीनु न मारि ॥"

जब राजा जयसिंह विलासी जीवन व्यतीत कर रहे थे तब राज्य में सुख शान्ति व्यवस्था एवं नियमन की प्रतिष्ठा करने के लिए उन्होंने ही अपने एक दोहे के द्वारा उनकी आँखों के सामने पड़े हुए वासना के पर्दे को हटाया था ।

बिहारी प्रारम्भ से ही कुशाग्रबुद्धि थे । उन्होंने बचपन से ही महान् कवियों, सन्तमहात्माओं एवं राजामहाराजाओं की सत्संगति की थी अतः उनका अनुभव तथा ज्ञान अत्यन्त ही व्यापक एवं गम्भीर था । वे संस्कृत, अपभ्रंश, फ़ारसी, उर्दू, प्राकृत एवं हिन्दी आदि के प्रकाण्ड पण्डित थे जैसा कि उनके एकमात्र उपलब्ध ग्रन्थ 'बिहारी सतसई' के अनेक दोहों से स्पष्ट होता है । वे अनेकमुखी स्वभाव के व्यक्ति थे । विनोदशीलता, गम्भीरता, कर्त्तव्यपरायणता, उचित मूल्यांकनकारी प्रवृत्ति, आत्माभिमान, रस-प्रवणता आदि उनके विशेष चारित्रिक गुण थे । उन्हें ज्योतिष, वैद्यक, दर्शनशास्त्र, राजनीति, शकुन विचार तथा अन्यान्य ललितकलाओं में प्रकाण्ड-योग्यता प्राप्त थी ।

संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि बिहारी अपने समय के अद्भुत प्रतिभासपन्न, रसप्रवण मेधावी कवि थे । उनकी एकान्तकृति 'बिहारी सतसई' उनकी अक्षयकीर्त्ति के लिए पर्याप्त प्रमाणस्वरूप हिन्दी में चिरस्मरणीय रहेगी ।

सतसई परम्परा का उद्भव और विकास

संस्कृत एवं हिन्दी आदि भारतीय भाषाओं का काव्यगत अध्ययन करने के पश्चात् हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि अब तक दो प्रकार का काव्यसृजन हुआ है। प्रबन्ध काव्य एवं मुक्तक काव्य। प्रबन्धकाव्य में किसी लोकविश्रुत घटना का वर्णन प्रस्तुत किया जाता है। जिसमें पूर्वा-पर सम्बन्ध-निर्वाह का होना विशेष रूप से आवश्यक है। मुक्तककाव्य में इस प्रकार के बन्धन नहीं हैं। शृङ्गार, नीति अथवा भक्तिपरक भावना वा अनुभूति विशेष का उच्छ्वास मुक्तक कविता का विषय होता है। यहाँ पूर्वा-पर सम्बन्ध निर्वाह की शर्त्त लागू नहीं होती। प्रभावात्मकता, प्रेषणीयता एवं तत्सम्भूत प्रतीयमान अर्थ की सहज अनुभूतिप्रवण प्रतिक्रिया मुक्तक काव्य की प्रमुख विशेषताएँ हैं। अग्निपुराण में मुक्तक की विशेषता इस प्रकार निर्दिष्ट की गई है :—

"मुक्तकं श्लोक एवैकश्चमत्कारक्षम: सताम्।"

'ध्वन्यालोक' में मुक्तक की परिभाषा करते समय लिखा गया है :—

"पूर्वापरनिरपेक्षेणापि हि येन रसचर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम्।"

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है मुक्तक काव्य में शृङ्गार के भावपूर्ण प्रसंगों से लेकर नीतिविषयक नीरस उपदेश तक संवलित किए जा सकते हैं। यदि इन नीतिपरक तथ्यों का मानवजीवन की किसी सामान्य परिस्थिति से सम्बन्ध स्थापना करदी जाए तो इनकी नीरसता उतनी ही सरस हो जाती है। मुक्तक काव्य की सफलता के लिए जीवन सम्बन्धी सहज आनुषंगिक वातावरण का होना आवश्यक है। जहाँ इस आनुषङ्गिक वातावरण की सृष्टि का आरोप करना पड़ता है वहीं मुक्तककाव्य असफल हो जाता है। 'अमरुकशतक' की रुचिर आनुषङ्गिकता को देखकर ही आचार्य आनन्दवर्धन ने कहा था :—

"अमरुक-कवेरेक: श्लोक: प्रबन्धशतायते।"

भारतीय साहित्य में इस मुत्तक परम्परा का स्रोत ऋग्वेद में देखा जा सकता है। उषा के प्रति की गई स्तुति में यह मुक्तक परम्परा सर्वप्रथम प्राप्त होती है। सुभाषित ग्रन्थों में पाणिनि के नाम से भी कुछ मुक्तक कविता के उदाहरण मिलते हैं।

उपर्युक्त विवेचन का सहज सम्बन्ध 'बिहारी सतसई' से है। 'बिहारी सतसई' मुक्तक काव्य का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। बिहारी सतसई तक आकर यह मुक्तक परम्परा पर्याप्त विकसित हो जाती है। इन मुक्तकों के संकलन 'पंचाशिका', 'शतक', 'सप्तशती', नौसई, ग्यारहसई एवम् चौदहसई के नाम से अब तक प्रकाश में आए हैं। 'बिहारी सतसई' से पूर्व प्राकृत एवम् संस्कृत में इस प्रकार के अनेक ग्रन्थों का निर्माण हो चुका था। गाथा सप्तशती, नीतिशतक, शृङ्गारशतक, वैराग्यशतक, अमरुकशतक, चौरपंचाशिका एवम् आर्यासप्तशती आदि अनेक प्रसिद्ध कृतियों ने बिहारी सतसई का मार्ग प्रशस्त किया है, अतः इन ग्रन्थों का पृष्ठभूमि के रूप में संक्षिप्त परिचय देना अनावश्यक न होगा।

गाथा सप्तशती—

यह ग्रन्थ प्राकृत भाषा में महाकवि हाल द्वारा रचा गया है। हाल का दूसरा नाम सातवाहन भी था। बाण ने हर्षचरित में हाल का उल्लेख किया है :—

"अविनाशिनमग्राम्यमकरोत्सातवाहनः ।
विशुद्धजातिभिः कोषं रत्नैरिव सुभाषितः ॥" श्लोक १३॥

पुराणों में भी इस नाम का उल्लेख किया गया है। अतः हाल का समय १२५ ई० के पूर्व का ठहरता है। कीथ के अनुसार भी यह अधिक से अधिक २०० ई० पू० तक की रचना है। आधुनिकतम शोध के आधार पर हाल का समय ईसा की प्रथम शताब्दी निश्चित हो चुका है 'सप्तशती' में ७०० गाथाओं (आर्याओं) का संकलन महाराष्ट्री प्राकृत में किया गया है। "गाथा सप्तशती" की विषयभूमि लोकजीवन पर आधारित है। "सप्तशती" में ग्राम्यजीवन के सहज स्वाभाविक वर्णनों को स्थान दिया गया है। तत्कालीन समाज, का विप्रलम्भ शृङ्गार जीवन्त स्वरूप, दैनिक जीवन के सुख दुःख, प्राकृतिक दृश्यों का प्रयोग अत्यन्त

मार्दवपूर्ण एवम् सुष्ठुपूर्ण शैली में किया गया है। पशुचारण करती हुई गोप-बालिकाएँ, आभीरों की प्रेम कथाएँ घरेलू कार्य, करते समय की गीतिकाएँ इस ग्रन्थ में कुशलतापूर्वक अनायास ही समन्वित हो गई हैं। दाम्पत्य जीवन की स्वस्थ झलक इस रचना में सर्वत्र प्राप्य है। एक स्थान पर पति पत्नी से कहता है कि रसोईघर में कार्य करते रहने से जो तुम्हारे मुख पर कलंक लग गया है उससे तुम सर्वथा चन्द्रमुखी सी प्रतीत होती हो :—

"गेहिन्या माहानसकर्ममसीमलिनितेति हस्तेन।
स्पृष्टं मुखमुपहसति चन्द्रावस्थां गतं दयितः ॥"

एक स्थान पर एक सुकुमार उक्ति दर्शनीय है जिसका भावानुवाद बिहारी ने अपनी सतसई में प्रस्तुत किया है :—

"ईषत्कोषविकासं यावन्नाप्नोति मालतीकलिका।
मकरन्दपानलोलुप मधुकरकितावदेव मर्दयसि ॥"

"नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहिं बिकास इहि काल।
अली कली ही सौं बँध्यौ आगैं कौनु हवाल ॥"
—बिहारी

इसी "गाथा सप्तशती" ने आगे चलकर सतसई की परम्परा में विकास की कड़ी जोड़ी जो कि आनन्दवर्धनाचार्य की "आर्या सप्तशती" में जाकर परिलक्षित होती है।

भर्त्तहरि का शतकत्रय—

"नीतिशतक", "श्रृङ्गारशतक" एवं वैराग्यशतक" की रचना प्रसिद्ध कवि भर्तृहरि ने की है। भर्तृहरि का जन्म एवं स्थितिकाल विवादास्पद रहा है। अनुमानतः इनका स्थितिकाल छठी शताब्दी है। "नीतिशतक" में महाभारत एवम् मनुस्मृति की सी गम्भीरता है। जीवन के जटिलतम यथार्थ से उत्पन्न गहन अनुभवों की नियोजना इस ग्रन्थ में की गई है। श्रृङ्गारशतक में कवि ने नारी के सम्मोहन का ललाम रूप उपस्थित किया है। एक स्थल पर रमणी का सौन्दर्य देखते ही बनता है :—

"कंकुमपंकलंकितदेहा गौरपयोधरकम्पितहारा:।
नूपूरहंसरणत्पदपद्मा: कं न वशीकुरुते भुवि रामा:॥"

"वैराग्य शतक" तक आते-आते यह शृङ्गारप्रियता निष्प्रभ एवम् सारहीन दिखाई पड़ने लगती है। बिहारी ने भी इसी प्रकार अनेक स्थलों पर संसार की क्षणिकता, आकर्षण की अचिरता और दर्शन की अद्वैतमूलक परिणति पर भावपूर्ण उद्गार प्रस्तुत किए हैं।

अमरुकशतक—

इस ग्रन्थ के रचयिता राजा अमरुक हैं। भर्तृहरि के समान ये भी अज्ञात जन्म-कुल-स्थान सम्राट् कवि हैं। श्री आनन्दवर्धनाचार्य, जिनका समय ८५० ई० है, ने ध्वन्यालोक में अमरुकशतक के लिए लिखा है—

"मुक्तकेषु हि प्रबन्धेष्विव रसबन्धाभिनिवेशिन: कवयो दृश्यन्ते।
तथा
अमरुकस्य कवेर्मुक्तका: शृङ्गाररसस्यन्दिन: प्रबन्धायमाना: प्रसिद्धा: एव।"

वामन जिनका समय ८०० ई० है ने भी अमरुकशतक का उल्लेख किया है। कहने का तात्पर्य यह है कि "अमरुकशतक" का समय ७०० ई० के लगभग है। "अमरुकशतक" का मूलरस शृङ्गार है। नायक नायिकाओं के कोप-मान एवम् विषाद का सजीव-सरस-वर्णन इस ग्रन्थ में उपलब्ध होता है। इस ग्रन्थ की भाषा सहज प्रसादगुणोपेत है। "गाथा सप्तशती" के पश्चात् बिहारी पर इसी ग्रन्थ का सर्वाधिक प्रभाव है।

"भ्रूभङ्गे रचितेऽपि दृष्टिरधिकं सोत्कण्ठमुद्वीक्षते
रुद्धायामपि वाचि सस्मितमिदं दग्धाननं जायते।
कार्कश्यं गतितेऽपि चेतसि तनू रोमांचमालम्बिते
दृष्टे निर्वहणं भविष्यति कथं मानस्य तस्मिञ्जने॥"

चौरपञ्चाशिका—

यह ग्रन्थ ग्यारहवीं शताब्दी का है। इसके रचयिता बिल्हण है। इसमें शृङ्गार रस का उद्दाम वर्णन प्रस्तुत किया गया है। इस कवि की दूसरी रचना 'विक्रमाङ्कदेवचरित' है।

आर्या सप्तशती—

इस ग्रन्थ के निर्माता ग्रानन्दवर्द्धनाचार्य हैं। ग्रानन्दवर्द्धनाचार्य के सामने हाल की "गाथा सप्तशती" ग्रादर्श रूप में पूर्वत: विद्यमान थी। इस रचना में ग्रकारादि वर्णमाला के ग्रनुसार छन्द नियोजना की गई है। सम्पूर्ण ग्रन्थ ग्रार्या छन्द में लिखा गया है। प्रमुख रस शृङ्गार है। शृङ्गार की समस्त दशाग्रों का ग्रलङ्कारपूर्ण चित्रण इस ग्रन्थ में इतनी कुशलता से किया गया है कि गीतगोविन्दकार जयदेव को भी यह लिखना पड़ा :—

"शृङ्गारोत्तर सत्प्रमेयरचनैराचार्यगोवर्धनस्पर्धी कोऽपि न विश्रुत:।"

फिर भी ग्रानन्दवर्धनाचार्य को उतनी सफलता प्राप्त नहीं हो पाई जितनी कि हाल को "गाथा सप्तशती" के निर्माण में मिली। स्वयं ग्रानन्दवर्धन ने इस तथ्य को स्वीकार किया है कि जो सहज माधुर्य प्राकृत में है वह संस्कृत में रूपान्तरित नहीं हो सकता है—

"वाणी प्राकृत समुचित रसा वलेनैव संस्कृतनीता।
निम्नानुरूपतीरा कलिन्दकन्येव गगनतलम् ॥

"बिहारी सतसई" की पृष्ठमूमि का निर्देश करते समय यदि गीतगोविन्द एवम् भामिनीविलास का उल्लेख न किया जाएगा तो यह प्रसंग ग्रपरिपूर्ण रह जाएगा। प्रस्तुत दोनों ग्रन्थों के निर्माता जयदेव ११ वीं शताब्दी, एवम् १७ वीं शताब्दी के पण्डितराज जगन्नाथ हैं। दोनों ग्रन्थों के विषय प्रतिपादन की पद्धति को विहारी ने ग्रपनी सतसई में ग्रहण किया है तथा विहारी सतसई के माध्यम से यह परम्परा परवर्त्ती सतसईकारों ने ग्रहण करली।

संस्कृत साहित्य में उपर्युक्त ग्रन्थों के ग्रतिरिक्त मार्कण्डेय पुराण की "दुर्गा सप्तशती" एवम् सातवीं शताब्दी के बाणभट्ट के समकालीन कवि मयूर की "सूर्य सप्तशती" का नाम भी स्मरणीय है। इन सभी सतसइयों में भारतीय समाज, संस्कृति, धार्मिक मूल्य एवम् जनसामान्य के जीवन से सम्बन्धित ग्रनेक प्रवृत्ति एवम् निवृत्तिपूर्ण वर्णन उपलब्ध होते हैं।

तुलसी एवं रहीम सतसई—

हिन्दी में सतसई परम्परा का विकास तुलसी एवम् रहीम की क्रमश:

शाहजहाँ बिहारी के साहित्य एवं संगीत कला पर मुग्ध होगया, परिणामस्वरूप बिहारी को मुग़ल दरबार में स्थान प्राप्त हो गया। यह प्रसिद्ध भी है :—

"श्री नरहरि नरनाह कौं दीनी बाँह गहाइ।
सगुन-आगरैं आगरैं रहत आइ सुख पाइ।।"

सम्राट् शाहजहाँ स्वयं काव्य-संगीत एवम् नृत्यादि कलाओं का मर्मज्ञ था। फ़ारसी एवम् संस्कृत पर उसका समानाधिकार था। पण्डितराज जगन्नाथ की प्रतिभा का सही मूल्यांकन सम्राट् शाहजहा ने किया था तभी तो पण्डितराज ने एक स्थान पर लिखा है :—

"दिल्लीवल्लभपाणिपल्लवतले नीतं नवीनं वयः"

सुन्दर-दूलह तथा कुलपति मिश्र आदि अनेक हिन्दी कवियों को भी शाहजहाँ के दरबार में सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त था।

कुछ समय पश्चात् साम्राज्ञी अर्जुमन्दवान् के गर्भ से राजकुमार दारा का जन्म हुआ। पुत्र जन्म के महोत्सव पर शाहजहाँ ने भिन्न-भिन्न रजवाड़ों के ५२ राजाओं को आमंत्रित किया था। बिहारी शाहजहाँ के कृपाभाजन तो थे ही अतः आगत राजाओं ने भी उन पर अपना विशेष स्नेह प्रदर्शित किया। महाकवि रहीम से तो दरबार में उनका परिचय हो ही गया था। रहीम अत्यन्त वीर, कवि एवम् दानी थे। गंग को एक छप्पय पर उन्होंने ३६ लाख रुपया दान में दिया था और बिहारी को एक ही दोहे पर प्रसन्न होकर उन्होंने स्वर्णमुद्राओं से ढक दिया था। सम्भवतः वह दोहा निम्नलिखित था—

"गंग गौंछ मौछैं जमुन, अधरन सरसुति-राग।
प्रगट खानखानान कैं कामद बदन प्रयाग।।"

इस प्रकार मुगल सम्राट् के मित्र राजाओं ने भी बिहारी को प्रसन्न होकर वार्षिक वृत्ति देना प्रारम्भ कर दिया। बिहारी अधिकतर राजधानी में ही रहने लगे। समय-समय पर वृत्ति लेने के हेतु ये बाहर जाया करते थे, किन्तु यह क्रम अधिक दिनों तक नहीं चल सका। शाहजहाँ ने राजगद्दी प्राप्त करने के लिए जहाँगीर के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। परिणाम यह हुआ कि महावत खाँ ने शाहजहाँ को सुदूर दक्षिण में जा खदेड़ा। १६७८ ले १६६१वि०

तक बिहारी फिर मथुरा आकर रहे। संभवत: इसी बीच में उन्होंने ब्रजभाषा के साहित्यिक स्वरूप की स्थापना की।

इसी समय बिहारी जोधपुर के राजा जसवंतसिंह के यहाँ अपनी वार्षिक वृत्ति लेने गए। जसवन्तसिंह वीरशासक के साथ-साथ काव्यकला निष्णात भी थे। उन्होंने एक विपुलकाय अलंकार ग्रन्थ की रचना की। कुछ विद्वानों का मत है कि उक्त ग्रन्थ जसवन्तसिंह ने नहीं लिखा। सम्भवतः यह बिहारी की ही रचना थी। यदि यह सम्भावना सत्य है तो हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि बिहारी ने 'सतसई' से पूर्व इस ग्रन्थ की रचना की होगी क्योंकि शैली की दृष्टि से यह ग्रन्थ 'सतसई' की कोटि में कदापि नहीं ठहर पाता। जोधपुर में एक विशाल दूहा संग्रह भी बताया जाता है जिसमें १५–१६ सौ दोहों का संकलन है। इसके अधिकांश दोहे 'सतसई' में भी प्राप्य हैं। सम्भवत: ये दोहे भी बिहारीकृत हैं। इस प्रकार बिहारी ने विपुल साहित्य की रचना की थी।

संवत् १६९२ में बिहारी जयपुर अपनी वार्षिक वृत्ति लेने के लिए गए। इस समय यहाँ पर जयसिंह अथवा जयशाह का शासन चल रहा था। जयसिंह ने इस समय नया-नया विवाह किया था। वे नवोढ़ा पत्नी के स्नेह सरोवर में इतने डूब चुके थे कि उन्हें अपने राज्य तथा पहली पत्नी, करौली के सरदार साँवलदास की कन्या अनन्तकुँवरि चौहानी तक से पूर्ण विरक्ति हो गई थी। अनन्तकुँवरि चौहानी को जब यह ज्ञात हुआ कि बिहारी आए हुए हैं तब उसने महाकवि को अपने पास बुलाकर सम्राट् जयसिंह की विलास-जर्जर अवस्था का करुणापूर्ण वर्णन कह सुनाया। रानी यह भली भाँति जानती थी कि जयसिंह कों केवल बिहारी ही उचित मार्ग निर्देश कर सकते थे, क्योंकि वे मुगलसम्राट् के कवि थे; और जयसिंह मुगलसम्राट् के प्रिय कवि बिहारी का उल्लंघन अथवा तिरस्कार नहीं कर सकते थे। बिहारी ने अनंतकुँवरि चौहानी की इस करुणापूर्ण कथा को सुनकर तुरंत ही एक दोहा लिखकर राजा जयसिंह के निकट युक्तिपूर्वक भिजवाया। जयसिंह पर इस दोहे की सर्वथा अनुकूल प्रतिक्रिया हुई। वे विलास-तन्द्रा को त्याग कर कर्त्तव्य के प्रशस्त मार्ग पर आगए। वह दोहा निम्नलिखित है :—

"तुलसी सतसई" तथा "रहीम सतसई" से प्रारम्भ होता है। उपर्युक्त दोनों ही सतसई ग्रन्थों में भक्ति विषयक उद्‌गारों की अधिकता है। शान्त रस की इनमें प्रधानता है। रहीम की सतसई में नीतिविषयक दोहों की प्रचुरता है। इन दोहों में रहीम कवि के जीवन व्यापी अनेक उदात्त अनुभवों का गम्भीर वर्णन प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि इन ग्रन्थों में आर्या एवम् गाथा सप्तशती जैसी मार्मिकता नहीं है तथापि उत्प्रेक्षा-उपमा-रूपक एवम् दृष्टान्त आदि अलंकारों की नियोजना के कारण काव्य में सरसता और प्रभावात्मकता आगई। उक्तिवैचित्र्य इन सतसइयों की आत्मा है। बिना उक्तिवैचित्र्य के सूक्तियाँ मर्मस्पर्शिनी नहीं हो सकतीं, किन्तु इसका यह अर्थ भी नहीं है कि उक्तिवैचित्र्य की नियोजना के लिए भाषा एवम् भावों के सारस्य को भी गौण कर दिया जाए। पण्डित रामगुलाम द्विवेदी एवम् महामहोपाध्याय सुधाकर द्विवेदी के मतानुसार 'तुलसी सतसई' तुलसीकृत नहीं है, अपितु गाजीपुर के किसी तुलसी कायस्थ की यह रचना है, क्योंकि इसमें गणित के गूढ़ प्रश्नों की अधिकता है। किन्तु यह तर्क के नाम पर कुतर्क है। यदि 'दोहावली' को तुलसीकृत मान लिया जाए तो उसके १५०-२०० दोहे इस "तुलसी सतसई" में प्राप्त हो जाते हैं। इस ग्रन्थ की रचना संवत् १६४२ में की गई। यह सतसई सात सर्गों में है। प्रथमसर्ग में भक्ति, द्वितीय में उपासना पराभक्ति, तृतीय में रामभजन, चतुर्थ में आत्मबोध, पंचम में कर्म-सिद्धान्त, षष्ठ में ज्ञानसिद्धान्त एवं सप्तम में राजनीति का निरूपण किया गया है। इसी प्रकार रहीम कवि की सतसई में नैतिकताप्रधान दोहों की बहुलता है। व्यवहार ज्ञान के लिए रहीमसतसई के दोहे सांकेतिका का कार्य करते हैं।

वृन्द सतसई—

रचना-कालक्रम की दृष्टि से अब "बिहारी सतसई" का क्रम आता है किन्तु विषयगत समानता के कारण "वृन्द सतसई" का यहीं पर उल्लेख कर देना असंगत न होगा। "वृन्द सतसई" को निर्माता का जन्म संवत् १७०० में हुआ। १७०० वि० में वृन्द का देहान्त हुआ। वृन्द ने सत्यस्वरूप, भावपंचाशिका तथा हितोपदेशाष्टक आदि अनेक ग्रन्थों का सृजन किया परन्तु इनकी स्थायी कीर्त्ति "वृन्द सतसई" के कारण ही है। "वृन्द सतसई" की रचना सम्वत् १७६१ में

की गई। इनकी सूक्तियाँ तुलसी की सूक्तियों से अधिक सरल-सरस-मुहावरेदार भाषा में लिखित एवं उक्तिवैचित्र्यप्रधान हैं। सूक्तिकारों में चमत्कारपूर्ण दृष्टान्त की नियोजना करने में वृन्द निस्सन्देह सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। बिहारी और मतिराम की सूक्तियाँ संख्या में अत्यल्प हैं। रहीम की पूर्ण कृति अनुपलब्ध है, अत: हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ सूक्तिकार वृन्द ही हैं।

बिहारी सतसई—

"बिहारी सतसई" हिन्दी के सतसई साहित्य का सर्वश्रेष्ठ रत्न है जिसके अक्षय प्रकाश से अन्य सतसइयाँ उसी प्रकार हतप्रभ हो जाती हैं जिस प्रकार पूर्णिमा के चन्द्रालोक के सम्मुख नक्षत्र मण्डल की मन्द-मन्द ज्योति। इस ग्रन्थ के विषय में यहाँ अधिक कहना संगत नहीं होगा क्योंकि प्रस्तुत आलोचनात्मक प्रबन्ध का प्रतिपाद्य "बिहारी सतसई" ही है। संक्षेप में इतना कहना ही पर्याप्त है कि "बिहारी सतसई" पर गाथा एवं आर्या सप्तशती तथा "अमरुकशतक" का प्रभाव है और न हिन्दी के अन्य सतसईकारों पर बिहारी की छाया स्पष्टरूप से पड़ी है। यह ग्रन्थ श्रृङ्गार रसप्रधान है। शान्त, वीर एवम् हास्य आदि रसों का प्रयोग भी स्थान-स्थान पर किया गया है। यह एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है। लक्षण लक्ष्य काव्य की परम्परा से यह मुक्त है; तथापि इसमें संभोग एवं विप्रलम्भ श्रृंगार का मार्मिक विवेचन, अनुभावों की रमणीक विवृत्ति, प्रेम की दशाएं, हावों एवं संचारियों का प्रयोग, प्रकृति का मुग्धकारी चित्रण, कविता दर्शन एवं जीवन व्यापी अनुभव—सभी कुछ अत्यन्त सहज एवं हृदयस्पर्शी शैली में प्रस्तुत किया गया है। इसमें कुल मिलाकर ७१९ दोहे हैं। यद्यपि बिहारी (अथवा उनकी पत्नी) द्वारा रचित चौदहसई के विषय में भी अनेक प्रमाण दिए जा सकते हैं। रत्नाकर, विश्वनाथप्रसाद मिश्र, हरिदयालुसिंह आदि अनेक विद्वान् समीक्षकों ने बिहारी के अन्य शताधिक दोहों को भी अपनी कृतियों में संकलित किया है।

मतिराम सतसई—

"बिहारी सतसई" की कोटि की हिन्दी में यदि दूसरी सतसई है तो वह "मतिराम सतसई" है। इसके रचनाकार मतिराम का जन्म सम्वत् १६७४ में

तिकवाँपुर में हुआ। ये प्रसिद्ध रीतिकालीन कवि भूषण एवं चिन्तामणि के भाई थे। जटाशंकर को भी इन्हीं का भाई कहा जाता है, किन्तु यह सम्भावना मात्र है तथ्य नहीं। अलंकार चन्द्रिका", "ललितललाम" एवम् "रसराज" इनके अन्य ग्रन्थ हैं जिनमें अन्तिम सर्वश्रेष्ठ है (मतिराम ने अपनी सतसई भोगनाथ नाथ के राजा को समर्पित की है। उनकी सतसई के दोहों में एक स्वाभाविक प्रभाव एवम् प्रवाहपूर्णता है, कहीं पर भी बिहारी जैसी आयासपूर्ण शैली का प्रयोग नहीं मिलता। उनकी सतसई में भावों की तीव्रता है। यही कारण है कि कहीं कहीं पर उनकी शैली भावों की गत्यात्मकता का साथ नहीं दे पाई है। अधिकांश दोहे 'रसराज' एवम् 'ललित ललाम' आदि उनके प्रसिद्ध ग्रन्थों में से लेकर इस सतसई में संकलित कर दिए गए हैं। प्रेम की सुकुमार व्यंजना नखशिख वर्णन, संयोग एवम् वियोग का अत्यन्त मार्मिक विश्लेषण "मतिराम सतसई" में हमें उपलब्ध होता है। बिहारी का सा उद्दाम श्रृङ्गार रस वहाँ पर नहीं है। सर्वत्र धीर गम्भीर प्रवाहिनी की सी मंथर गतिशीलता मतिराम की सतसई में उपलभ्य है। कहीं-कहीं बिहारी का प्रभाव भी स्पष्ट है :—

गयौ महाउर छूटि यह रह्यौ सहज इक अंग।
फिरि फिरि झाँवति है कहा रुचिर चरन के रंग।।

—मतिराम

आँख मिचौनी से सम्बन्धित दोनों कवियों के उद्धरण ध्यान से देखने योग्य हैं :—

"दृग मिहचत मृगलोचनी भरयौ, उलटि भुज, वाथ।
जानि गई तिय नाथ कें हाथ परस हीं हाथ॥"

—बिहारी

तथा :—

"खेलत चोर मिहीचिनी परे प्रेम पहचानि।
जानी प्रगटत परस तैं तियलोचन पिय पानि।।"

—मतिराम

रसनिधि सतसई—

यह ग्रन्थ पृथ्वीसिंह 'रसनिधि' द्वारा रचित है। इनका विशाल ग्रन्थ 'रतन हजारा' है। इसी का लघुसंस्करण 'रसनिधि सतसई' है। इनके लिखे

और भी अनेक ग्रन्थ हैं। ये मुख्यत: प्रेम के कवि हैं। प्रेम में तो कवि इतना तल्लीन है कि उसकी अभिव्यक्ति भी संयम छोड़ बैठती है। परिणामत: कहीं-कहीं पर इनकी कविता अश्लीलता की सीमाओं का स्पर्श कर बैठती है। इनके प्रेम विषयक दोहों में से कुछ उदाहरण दृष्टव्य हैं :—

"दरदहि दै जानत लला सुधि लै जानत नाहिं।
कहौ बिचारे नेहिया तुव घाले किन जाहिं॥
रसनिधि जब कबहूँ बहै वह पुरबैया बाइ।
लगी पुरातन चोट जो तब उभरति है आइ॥"

रसनिधि की भाषा में उर्दू फ़ारसी के शब्दों की अधिक भरमार है, अत: इनकी शैली में शिथिलता आगई है। कहीं कहीं पर यमक एवम् श्लेष आदि शब्दालंकार भी मिलते हैं। इनके दोहों में प्राय: पुनरुक्ति भी मिल जाती है। कहीं-कहीं पर हिन्दू मुस्लिम एकता विषयक दोहे भी मिलते हैं। जो कि कबीर एवम् जायसी आदि के प्रभाव के प्रतीक हैं। इन्होंने बिहारी के भावों एवम् शब्दों का स्पष्टत: अनुकरण किया है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित दोहा देखिए :—

"दृग उरझत टूटत कुटुम जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गाँठि दुरजन हियैं दई नई यह रीति॥"

—बिहारी सतसई

तथा :—

"उरझत दृग बंधिजात मन कहौ कौन यह रीति।
प्रेम नगर में आइकैं देखी बड़ी अनीति॥"

—रसनिधि सतसई

राम सतसई—

इस ग्रन्थ के निर्माता रामसहायदास हैं। इनकीरचना पर "बिहारी सतसई" की स्पष्ट छाप है। शृङ्गार रस की सभी चेष्टाओं का अत्यन्त सरल शैली में विवेचन, इस कृति की विशेषता है। माधुर्य एवम् प्रसाद गुण इसमें सर्वत्र प्राप्य हैं। संयोग एवम् विप्रलम्भ के अतिरिक्त अनुभाव एवम् रूप वर्णन भी सुन्दर बन पड़ा है। नखशिख वर्णन में बिहारी का प्रभाव स्पष्ट रूप

से मिलता है। कहीं-कहीं रामसहायदास ने संयम की सीमाओं का अतिक्रमण भी कर दिया है।

बिहारी के दोहों की छाप निम्नलिखित दोहों पर कितनी स्पष्ट है ?

"जुग जुग ये जोरी जियैं यौं दिल काहु दिया न।
ऐसी और तिया न हैं ऐसे और पिया न।।
दीठि नसैनी चढ़ि चल्यौ ललचि सुचित मुख गोर।
चिबुक गड़ारे खेत में निबुक गिर्यौ चितचोर।।"

एक स्थान पर संयोग वर्णन अत्यन्त स्वभाविक रूप से किया गया है। नायक तथा नायिका यमुना तट पर खड़े हुए हैं। नायिका पानी भर रही है। वह नायक को बार-बार देखना चाहती है। इसी इच्छा की पूर्त्ति के लिए वह पुनः पुनः अपने जलपात्र को भरती और रिक्त कर देती है :—

"जमुना तट नट नागरै निरखि रही ललचाइ।
वार बार भरि गागरै वारि ढारि मुसक्याइ।।"

विक्रम सतसई—

"बिहारी सतसई" की परम्परा में अन्तिम श्रेष्ठ रचना "विक्रम सतसई" है। इसके रचयिता चरखारी नरेश विक्रमादित्य हैं। इनकी भाषा अत्यन्त मधुर और मर्मस्पर्शी है। बीच-बीच में उर्दू के शब्दों के प्रयोग से रस को और अधिक संप्रेषणीयता प्रदान की गई है। विक्रम सतसई में प्रमुखता शृङ्गाररस की ही है किन्तु साथ ही साथ शान्तरस का भी प्रयोग किया गया है। कवि विक्रमादित्य ने मिलन शृंगार का वर्णन अत्यन्त चारुता एवम् भव्यतापूर्ण ढंग से किया है। अनुभावों की नियोजना में वे किसी प्रकार भी बिहारी से पीछे नहीं है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित दोहे दृष्टव्य हैं :—

"तिरछौंहें करि करि दृगनि भौंहिन कसति सुभाइ।
तकति छकति उझकति जकति हरषि हरैं हंसि जाइ।।
निकसि निकसि सखि साथ तैं बिहंसि बिहँसि हंसि देति।
लंक चलनि लचकनि जचति कसकति हिय हरि लेति।।

सरस सलौनी सखिन सँग लखि लालन सकुचाति ।
उझकि उझकि झाँकति झुकति झिझकि झिझकि दुरिजाति ।।"

प्रकृति का सुरम्य रूप निम्नांकित पंक्तियों में कवि ने सीधे सादे ढंग से प्रस्तुत किया है :—

"कुंज कुंज बिहरति विपिन गुंजत मधुप मदंध ।
ललित लता लपटी तरुनि प्रफुलित बलिहे सुगंध ।।
दिसि विदिसनि सरितनि सरति अवनि अकास अपार ।
बन उपवन बेलिनि बलित ललित बसंत बहार ।।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि यह 'सतसई' निर्माण की परम्परा ईसा की प्रथम शताब्दी में रचित हाल की "गाथा सप्तशती" से लेकर अद्यावधि विकसित होती रही है। जिस प्रकार "गाथा सप्तशती" प्राचीन ग्रन्थों में श्रेष्ठ कृति है उसी प्रकार अब तक की रचनाओं में हिन्दी साहित्य में "बिहारी सतसई" का स्थान सर्वोपरि है। इसका यह तात्पर्य भी नहीं है कि अन्य कवियों की सतसइयों में मौलिकता नहीं है। वस्तुत: और सतसईकारों में मतिराम के अतिरिक्त अन्य किसी की रचनाओं में बिहारी की सी भावों और उनकी अभिव्यक्ति की संतुलित अन्विति उपलब्ध नहीं होती है।

आधुनिक युग में "उद्धवशतक" तथा "वीर सतसई" भी इसी पूर्वागत परम्परा के प्रतीक हैं। अत: यह कहा जा सकता है कि यह परम्परा प्राकृत तथा संस्कृत से आकर हिन्दी में निरन्तर वर्द्धमान होती गई है। बिहारी की 'सतसई' इस क्षेत्र में सर्वाधिक महत्वपूर्ण रचना है। अन्य परवर्त्ती कवियों में "बिहारी सतसई" का ही पिष्टपेषण किया गया है। संक्षेप में परवर्त्ती सतसइयों में निम्नलिखित सामान्य विशेषताएं उपलब्ध होती हैं :—

१—सभी हिन्दी की सतसइयों की भाषा ब्रज है।

२—सभी रचनाएं प्राय: दोहा छन्द में लिखी गई हैं।

३—सभी सतसइयों में शृंगार रस की प्रधानता है (वीर सतसई को छोड़कर)

४—श्रृंगार के अतिरिक्त अन्य रसों का गौणरूप में प्रयोग किया गया है।

५—अधिकांशत: प्रकृति का उद्दीपकपक्ष ही प्रस्तुत किया गया है।

६—अनुभावों की व्यंजना विशेषत: दर्शनीय है।

७—परकीया एवम् स्वकीया दोनों ही प्रकार की नायिकाएँ इन ग्रन्थों में वर्णित की गई हैं। दूतियों को भी स्थान दिया गया है। शुक्लाभिसारिका, कृष्णाभिसारिका, मुग्धा, खण्डिता, विप्रलब्धा, ज्येष्ठ कनिष्ठा, प्रोषितपतिका एवं आगतपतिका आदि नायिकाओं के भेद भी मिलते हैं।

८—नखशिख वर्णन एवं रूप का प्रभावात्मक चित्रण सभी सतसइयों में एक जैसा ही—परम्परा भुक्त रूप में किया गया है।

९—राधा एवं कृष्ण ही नायिका तथा नायक बनाए गए हैं।

१०—ये समस्त सतसइयाँ स्वतन्त्र ग्रन्थों के रूप में हैं। लक्षण ग्रन्थों के रूप में कवियों ने इनकी रचना नहीं की है।

"बिहारी सतसई" में शान्तरस (भक्ति तथा दर्शन)

भारतीय ललितकलाओं के तुलनात्मक अध्ययन से हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि हमारे यहाँ की कलाकृतियों में धार्मिक भावना का पुट अवश्य मिलता है। क्या साहित्य की कविता-समीक्षा-उपन्यास एवं नाटक आदि विधाओं में और क्या नृत्य-संगीत-मूर्त्ति एवं स्थापत्यकलाओं में— सभी में प्रत्यक्ष अथवा परोक्षरूप से कलाकार की धार्मिक मनोवृत्तियों का योग रहा है! हिन्दी साहित्य का इतिहास इसका साक्षी है कि हमारे काव्य का अधिकांश राम तथा कृष्ण आदि महापुरुषों एवं धार्मिक अवतारों के जीवन-चरित से ही संवलित है। विद्यापति-सूर-तुलसी और मीरा आदि का युग ही भक्तियुग की संज्ञा से अभिहित हुआ; यही नहीं आगे चलकर रीतियुग की घोर शृंगारी कविता भी नायक एवं नायिकाओं के रूप में कृष्ण तथा राधा आदि का चित्रण करने लगी। भक्तिभावना की दृष्टि से हम इन भक्तों को दो श्रेणियों में पृथक् कर सकते हैं। एक तो वे भक्तकवि हुए जिन्होंने अपने साहित्यिक जीवन के आदि से अन्त तक केवल ब्रह्म-माया और जीव का ही गुणगान किया जैसे शंकराचार्य। दूसरी श्रेणी में उन भक्त कवियों को लिया जा सकता है जिन्होंने मूलत: शृङ्गार आदि रसों में काव्य रचना की परन्तु साथ ही साथ यदा कदा भक्तिभावना से अभिभूत होकर भी राम अथवा श्रीकृष्ण चरित का गान भी किया। इस वर्ग के अन्तर्गत सूर-तुलसी पद्माकर-देव तथा बिहारी आदि को लिया जा सकता है।

द्वितीय श्रेणी के भक्त कवियों ने अपने मानसिक परिष्कार एवं आध्यात्मिक शान्ति लाभ के लिए ही भक्तिभावपूर्ण रचनाओं का निर्माण किया—किसी आश्रयदाता आदि के प्रसादन के लिए नहीं। इनकी भक्ति किसी विशेष मतवाद अथवा साम्प्रदायिक सिद्धान्त से बंधकर नहीं चली है। इसका कारण भी स्पष्ट है। सैद्धान्तिक एवं दार्शनिक प्रतिपादन बुद्धि के क्षेत्र की वस्तु है। कवि हृदय का धनी होता है। भक्ति का सम्बन्ध हृदय से होता है अत: इन कवियों की

भक्तिपरक रचनाओं में जो भी सिद्धान्त जहाँ कहीं प्रतिपादित हुआ है वह अनायास ही हुआ है। इसका यह आशय कभी नहीं निकालना चाहिए कि इन भक्तकवियों ने ज्ञान का खण्डन किया है। तुलसी-सूर-कबीर आदि अनेक सहृदय भक्त कवियों के ऐसे दोहे तथा पद गिनाए जा सकते हैं जिनमें उच्चकोटि के दार्शनिक मतों का प्रतिपादन किया गया है। उदाहरण के लिए बिहारी के निम्न दोहों को लिया जा सकता है :—

"हौं समुझ्यौ निरधार, यह जगु काँचौ काँच सौ।
एकै रूप अपार, प्रतिबिम्बित लखियत तहाँ॥"

अनेक समीक्षक इसी दोहे के आधार पर बिहारी को प्रतिबिम्बवादी मानने का दुराग्रह करते हैं, परन्तु वस्तुतः बिहारी में ऐसा कोई पूर्वाग्रह नहीं है। वे तो मूलतः कृष्ण के भक्त हैं। कृष्ण भक्ति का उनका इतना व्यापक परिप्रेक्ष्य है जिसमें सभी साम्प्रदायिक एवं दार्शनिक मतवाद तिरोभूत हो जाते हैं :—

"अपने अपने मत लगे वादि मचावत सोरु।
ज्यौं त्यौं सबकौ सेइवौ एकै नन्दकिसोरु॥"

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि बिहारी के यहाँ ज्ञान और भक्ति में दार्शनिकता एवं साम्प्रदायिक मतों में तथा निर्गुण एवं सगुण में कोई उच्चावचता की स्पष्ट विभाजनरेखा नहीं। निर्गुण की व्यापकता के विषय में बिहारी का निम्न दोहा देखिये :—

"दूरि भजत प्रभु पीठि दैं गुन विस्तारन काल।
प्रगटत निरगुन निकट रहि चंग रंग गोपाल॥"

इसके विपरीत दूसरी ओर सगुण के पक्ष में भी वे इतना बलपूर्वक कहते हैं कि उनके यहाँ मुक्ति भी धूलिसात् हो जाती है। क्या हुआ ऐसी मुक्ति से जिसे प्राप्त करने पर भी अपना प्रियआराध्य नहीं मिल सका ?

"जौ न जुगति पिय मिलन की धूरि मुकुति मँहि दीन।
जौ लहिए सँग सजन तौ घरक नरकहूँ कीन॥"

उसे तो मोक्ष जभी अभीष्ट हो सकता है तब कि भगवान् स्वयं अपने सगुण

रूप में आकर उससे मिलें। वहाँ ऐसे मोक्ष अथवा ब्रह्म की अपेक्षा नहीं की गई है जो कि अतीन्द्रिय एवं लोकातीत है। बिहारी ने स्पष्ट ही लिखा है :—

"मोहू दीजै मोषु जो अनेक अधमनु दियौ।
जौ बाँधैं हीं तोषु तौ बाँधौ अपनैं गुननु।।"

यद्यपि रीतिकाल के अधिकांश कवियों पर राधावल्लभ सम्प्रदाय का प्रभाव पड़ा है तत्परिणामस्वरूप ब्रजबिहारी श्रीकृष्ण और राधा तथा गोपिकाओं का ही वर्णन उन्होंने अपना अभीष्ट माना तथापि कुछ कवियों ने राधाकृष्ण के साथ ही साथ सीताराम की भी उपासना की। यह परम्परा सूर एवं तुलसी के युग से ही चली आ रही थी। सेनापति-पद्माकर-देव तथा बिहारी इसी परम्परा के कवि थे। अतः हम देखते हैं कि बिहारी ने कृष्ण एवं राम दोनों की ही लीलाओं को अपनी लेखनी का विषय बनाया है। कृष्णोपासना विषयक उद्धरणों से हमारा मत और भी स्पष्ट हो जाता है :—

"मेरी भव बाधा हरौ राधानागरि सोइ।
जा तन की झाँई परैं स्यामु हरित दुति होइ।।
तजि तीरथ हरि राधिका तन दुति करि अनुरागु।
जिहिं ब्रज केलि निकुंज मग पगु पगु होतु प्रयागु।।"

अब उनकी रामचन्द्र के प्रति जो आस्था है उसका वर्णन भी देखिए।

"बन्धु भए का दीन के को तार्‌यौ रघुराइ।
तूठे तूठे फिरत हो झूठे बिरुद कहाइ।।
यह बरिया नहि और की तूँ करिया वहि सोधि।
पावन नाव चढ़ाइ जिहिं कीन्हें पार पयोधि।।"

इतना सब कुछ होने पर भी यदि कुछ आलोचक बिहारी को केवल कृष्ण-भक्त कह बैठें तो यह उनकी दृष्टि एवं हृदय की संकीर्णता ही होगी। वास्तविकता तो यह है कि बिहारी अपने आराध्य में इतने लीन हो जाते हैं कि उनके यहां उसके स्थूल विभेद भी समाप्त हो जाते हैं। राम और कृष्ण दोनों में किसी प्रकार का अन्तर नहीं रहता।

"कौन भाँति रहिहै विरदु अब देखिबी मुरारि।
बीधें मोसौ आइकैं गीधे गीधहिं तारि॥"

मुरारि श्रीकृष्ण का विशेषण है और गीध को तारने वाले हैं श्रीराम। स्थूल रूप से देखने पर दोनों पृथक्-पृथक् हैं परन्तु सूक्ष्मत: दोनों हीं नारायण विष्णु के अवतार हैं जिन्होंने भिन्न-भिन्न युगों में भिन्न-भिन्न नाम रूप धारण करके संसार को दु:खों से परिनिवृत्त करने एवं सद्धर्म की स्थापना करने के लिए अवतार ग्रहण किए। सम्भव है आगे चलकर गान्धीजी को भी राम कृष्ण की परम्परा में स्वीकार करके उन्हें भी विष्णु का अवतार मान लिया जाए। बिहारी के पूर्ववर्त्ती कवि सूर तथा तुलसी ने भी राम और कृष्ण का भेद मिटा दिया है।

बिहारी के भक्तिभावपूर्ण दोहों में वे सभी विशेषताएं मिल जाती हैं जो कि भक्तियुगीन कवियों में उपलब्ध होती हैं। कबीर की भाँति बिहारी ने भी भक्तों के बाहरी आडम्बर की खुलकर भर्त्सना की है। जप माला छापा तिलक को उन्होंने कभी विशेष प्रोत्साहन नहीं दिया। इन सब साधनों के द्वारा शरीर को पवित्र बनाया जा सकता है—अन्त:करण को नहीं। जब तक अन्त:करण पवित्र न होगा तब तक भक्त कभी भगवान् की शरण प्राप्त नहीं कर सकता है। कपट रूपी कपाटों को जब तक मन के सदन में भक्त लगाए रखेगा तब तक प्रवेशद्वार के अभाव में हरि अथवा ब्रह्म किस प्रकार आ सकेंगे ?

"जप माला छापै तिलक सरै न एकौ कामु।
मन काँचें नाचै वृथा साँचे राँचै रामु॥
तौ लगि या मन सदन में हरि आवैं किहि बाट।
निपट बिकट जौ लौं लगे खुलैं न कपट कपाट॥"

इन कपट रूपी कपाटों को खोलने के लिए भक्तकवि बिहारी ने परम्परा के अनुसार सत्संगति एवं नामस्मरण को ही माध्यम बनाया है। बिहारी से कई सौ वर्ष पूर्व कबीर ने सत्संगति एवं तुलसी ने रामनाम ने स्मरण का विशद विवेचन किया था। बिहारी मे उक्त दोनों बातें निम्न दोहों से सिद्ध हो जाती हैं :—

"अजौं तर्‌योना ही रह्यौ स्रुति सेवत इक अंग ।
नाक बास बेसरि लह्यौ बसि मुकुतन के संग ॥
पतवारी माला पकरि और न कछू उपाव ।
तरि संसार पयोधि कौं हरि नामैं करि नाव ॥"

बिहारी के भक्तिपरक दोहों में दास्य एवं सखाभाव-परक स्तुतियाँ मिलती हैं । जहाँ उन्होंने दास्यभावान्तर्गत दोहों की रचना की है वहाँ स्वभावत: सूरसागर एवं विनय पत्रिका के पदों की सी दीनता-करुणा एवं अपने पापकर्मों का स्पष्ट उल्लेख करने की प्रवृत्ति भी आगई हैं :—

"कीजै चित सोई तरे जिहिं पतितन के साथ ।
मेरे गुन औगुन गननु गिनौं न गोपीनाथ ॥
हरि कीजतु तुमसौं यहै विनती बार हजार ।
जिहिं तिहिं भाँति डर्‌यौ रहौं पर्‌यौ रहौं दरबार ॥"

इस दीनता का यह तात्पर्य नहीं है कि बिहारी वास्तव में इतने अधिक पापी एवं दुर्जन थे जितना कि उनके दोहों से प्रतीत होता है । वास्तव में ये दोहे तो भक्ति-विह्वल हृदय के उद्‌गार हैं जहाँ भक्त अपने को अत्यन्त अकिचंन् एवं अपराधी ही मानता है । तुलसी ने भी लिखा था "राम सौं खरौ है कौंन मो सौ कौन खोटौ" अथवा सूर ने गाया था "हरि हौं सब पतिनु कौ टीकौ"— इन दोहों अथवा पदों में भक्तों के हृदय की विनम्रता ही झलकती है । अपने से बड़ों के सम्मुख अपनी विशेषताएं एवं गुणों का बखान करना भी तो स्वाभाविक नहीं लगता । इसी प्रकार बिहारी ने भी आत्मनिवेदन के क्षणों में स्वयं को भगवान् के सामने दीनातिदीन रूप में प्रस्तुत किया है । जहाँ पर कवि ने राम अथवा कृष्ण को दास्यभाव से नहीं देखा है वहाँ वह सखा-मित्र अथवा समदृष्टि से देखता है । कहीं वह भगवान् से प्रतियोगिता करने लगाता है तो कहीं उन्हें उपालम्भ भी दे डालता है । कभी-कभी वह उन्हें यह भी सूचना दे देता है कि वे उसके मन में प्रवेश नहीं करें अन्यथा उन्हें दु:खी ही होना पड़ेगा । इस प्रकार के दोहों में कवि ने भक्त और भगवान् के सहज आत्मीय सम्वन्धों का ही चित्रण किया है ।

"मोहि तुम्हें बाढ़ी बहस को जीतै जदुराज।
अपने अपने बिरुद की दुहूं निबाहन लाज।।
करौ कुबत जगु कुटिलता तजौं न दीनदयाल।
दु:खी होहुगे सरल चित बसत त्रिभंगीलाल।।
थोरे हू गुन रीझते बिसराई वह बानि।
तुम हूँ कान्ह मनौं भए आजु काल्हि के दानि।।"

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि बिहारी मूलत: श्रृंगारी कवि होने पर भी एक सहृदय भक्त कवि थे। भक्ति को दार्शनिकता के क्षेत्र से भिन्न करने का कोई मापदण्ड नहीं है। वस्तुत: भक्ति का अगला सोपान ही दर्शन का क्षेत्र है। स्वयं तुलसी ने भी लिखा है 'ज्ञानहिं भगतिहिं नहिं कछु भेदा।' किंतु क्योंकि 'ज्ञान क पंथ कृपान क धारा' है अत: भक्तिमार्ग को ही साधक अपना लेता है। जब भक्ति के द्वारा चैतन्य, मायोपहित सम्बन्धों को त्यागकर निर्विकार हो जाता है तब उसमें स्वत: ही ज्ञान का आलोक स्फूर्जित हो उठता है। बिहारी ने शुद्धान्त:करण होकर इस जीव जगत् और ब्रह्म के झमेले को इस प्रकार अपने दोहों में आलंकारिक ढंग से प्रस्तुत कर दिया है कि उसकी हमें मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करनी पड़ती है :—

"जगतु जनायौ जिहिं सकलु सो जगु जान्यौ नाहिं।
ज्यौं आँखिनि सब देखिहे आँखि न देखी जाहिं।।
या भव पारावार कौं उलँघि पार को जाइ।
तिय छबि छाया ग्राहिनी ग्रसै बीच हीं आइ।।"

कवि ने वेदान्तियों की ही भाँति माया की भर्त्सना की है तथा उसके अनिवार्य साहचर्य का प्रतिपादन भी।

"को छूट्यौ इहिं जाल परि कत कुरंग! अकुलात।
ज्यौं-ज्यौं सुरझि भज्यौं चहत त्यौं-त्यौं उरझत जात।।"

अतः दुःख में साईं का स्मरण तथा सुख में उसका विस्मरण करने से कोई लाभ नहीं हो सकता।

"दीरघ साँस न लेहि दुःख सुख साईंहि न भूलि।
दई दई कत करतु है दई दई सु कवूलि॥"

इय प्रकार हम देखते हैं कि बिहारी के यत्र तत्र आए हुए दार्शनिक उद्गारों में भी वैसी ही श्रेष्ठता तथा उत्कृष्टता है जैसी कि सूर और तुलसी में है। सूर की सी माधुरी एवं तुलसी जैसी दैन्य तथा करुणा की व्यंजना बिहारी के इन स्फुट दोहों में विना प्रयास के ही आगई है। बिहारी के प्रशंसक भले ही यह कहें कि वे उच्चकोटि के भक्त एवं दार्शनिक थे; परन्तु हम यह मानने को तैयार नहीं हैं। वे मूलतः कवि थे। जीवन भर उन्होंने राधाकृष्ण के नख-शिख वर्णन, सौन्दर्य निरूपण एवम् प्रेम-चित्रण पर काव्य रचना की— अपने काव्य रचना काल तथा अवस्था के प्रौढ़ क्षणों में ही उन्होंने इन भक्ति परक दोहों का निर्माण किया होगा। रीतिकाल के शृङ्गारी कवियों में जिस प्रकार कवि एवं आचार्य होने की परम्परा थी वैसे ही कतिपय भक्ति सम्वन्धी रचनाएं करने की 'फैशन' भी चली आरही थी। जो भी है, बिहारी के इस प्रकार के दोहों में सहज भक्ति प्रवणता, अलंकार विधायकता एवं चमत्कार-प्राणता सभी कुछ श्लाघनीय है। उन्होंने सफल भक्तिपूर्ण दोहों की रचना तो अवश्य की परन्तु यह निर्विवाद सत्य है कि वे हृदय से सौन्दर्य एवं प्रेम के चितेरे थे - भक्तिभावनामूलक दोहों के एकान्तरचयिता नहीं।

"बिहारी-सतसई" में संयोग-शृंगार-रस

जिस प्रकार नदी के प्रवाह में लहरों का विशेष स्थान होता है उसी प्रकार मानव-हृदय रूपी सरिता में विविध भाव— लहरियों के द्वारा सतत प्रवाहमानता आती है। इन भावों की गणना करना यों तो सहज नहीं है फिर भी साहित्य के आचार्यों ने रति-उत्साह-क्रोध भय-जुगुप्सा-आश्चर्य-हास एवं निर्वेद आदि प्रमुख भावों की महत्ता प्रदान की है। इनमें भी रतिभाव का अपना विशिष्ट स्थान है। 'रति' ही साहित्य क्षेत्र में शृङ्गार रस का स्थायी भाव माना गया है। यह भाव मानव मन में सृष्टि के आदिकाल से ही चला आ रहा है। न केवल मनुष्यों में ही अपितु पशु-पक्षी एवं जड़ प्रकृति में भी हम इस भाव को देख सकते हैं। यह रति-भाव जीवन की सीमाओं से इतना व्यापक रूप में सम्बद्ध होगया है कि इसके अनेक रूप मनुष्य के दैनिक जीवन में देखे जा सकते हैं। भगवान् के प्रति भक्ति, गुरुजनों के प्रति श्रद्धा, छोटों के प्रति स्नेह अथवा वात्सल्य तथा मित्रों के प्रति सहानुभूति के रूप में इसी 'भाव' की अभिव्यक्ति होती है। अपनी इसी सर्व-व्यापकता के कारण साहित्य में रतिभाव अथवा शृंगार को 'रसराज' की पदवी प्राप्त हुई है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इसे हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं— सुखात्मक शृंगाररस एवं दु:खात्मक शृङ्गार रस। इन्हीं दोनों वर्गों को क्रमशः सम्भोग एवं विप्रलम्भ शृंगार की संज्ञा से अभिहित किया गया है। शृंगार रस की व्यापकता के कारण अन्य अनेक रसों का इसमें तिरोधान हो जाता है। उदा-हरण के लिए यदि हमारी प्रियवस्तु को कोई पसन्द न करे तो हमारे मन में उसके विपरीत जुगुप्सा (वीभत्सरस) का संचार होगा। अपनी उस प्रियवस्तु के विषय में किसी प्रकार का अनिष्ट होता हुआ देखकर शोक अथवा क्रोध (करुण तथा रौद्र रस) की भावना जाग्रत हो जाएगी। उस प्रिय वस्तु को प्राप्त करने के लिए हमारे मन में निरन्तर उत्साह (वीर-रस) की विस्फूर्जना होती रहेगी— इस प्रकार हम देखते हैं कि जीवन में शृङ्गार का अत्यन्त व्यापक महत्व

है। रतिभाव के द्वारा हृदय की सीमाएं भी संकीर्ण नहीं रह पातीं। हमारे मन में स्वभावतः अन्य व्यक्तियों के प्रति आत्मीयता एवं संवेदनशीलता का संचार होने लगता है। इसी रतिभाव की ओर यदि व्यापक दृष्टि से देखें तो इसके दो और विभाजन किए जा सकते हैं लौकिक प्रेम तथा एकनिष्ठ प्रेम। लौकिक प्रेम के अन्तर्गत हम 'हरिऔध' की राधा को ले सकते हैं, एकनिष्ठ प्रेम की श्रेणी में सूर की राधा एवं गोपियों को लिया जा सकता है। पहली प्रकार का प्रेम महाकाव्योचित है; जब कि दूसरी प्रकार के प्रेम के लिए गीतिकाव्य को माध्यम बनाया जाता है। उदाहरण के लिए तुलसी का प्रेम व्यापक अथवा लौकिक है तथा सूर का प्रेम सम्बन्धी दृष्टिकोण एकनिष्ठ है।

प्रेम के संभोग पक्ष का विश्लेषण करने से यह ज्ञात होता है कि हमारे यहाँ संस्कृत-प्राकृत एवं अपभ्रंश के माध्यम से हिन्दी कविता में जितना शृंगार वर्णन हुआ उसमें नायक-नायिकाओं के भेदोपभेदों का विस्तृत विवेचन ही अधिक हुआ। प्रायः आलम्बन का नख-शिख वर्णन, सौन्दर्य निरूपण, प्रकृति-चित्रण, दूत प्रेषण एवं हास परिहास को ही संभोग शृङ्गार में प्राथमिकता दी जाती रही। विविध प्रकार की क्रीड़ाएं जैसे पतंगबाजी, कबूतरबाजी, फाग खेलना, जलक्रीड़ा, आँख मिचौनी तथा झूला आदि को शृङ्गार की मिलन परककविता का विषय स्वीकार कर लिया गया। बिहारी ने प्रायः इन सभी परम्पराओं को अपनी "सतसई" में स्थान प्रदान किया है। बिहारी ने नायक तथा नायिकाओं के रूप विश्लेषण एवं उनकी शृंगारसज्जा तथा क्रिया-कलापों पर विशेष ध्यान दिया है। परम्परागत रूप में प्रकृति को भी बिहारी की प्रतिभा ने स्वीकार किया है। प्रकृति प्रायः उद्दीपन करने के लिए ही माध्यमस्वरूप मानली गई। वर्षा एवं शरद् आदि का वर्णन कवि ने मुख्यतः विप्रलंभ शृंगार के लिए किया है। नख-शिख वर्णन के प्रसंग में अनेक आभूषणों की चर्चा भी बिहारी ने की है।

बिहारी का मिलन-शृंगार-वर्णन एक ओर यदि शताब्दियों प्राचीन मार्ग का अनुसरण करता है तो दूसरी ओर उसमें अनेक प्रकार की मौलिक उद्भावनाएं भी प्राप्त होती हैं। रत्यारंभ, सुरतान्त तथा विपरीत रति आदि का वर्णन संस्कृत के उत्तरकालीन काव्यों की भाँति ही किया गया है। बिहारी मौलिक उद्भावनाएं करने में सिद्धहस्त कवि हैं।

विहारी के प्रेमी और प्रेमिका में परस्पर इतनी निकटता है जिसके कारण वे अपने द्वैत को भी भूल जाते हैं। वास्तव में यही तदाकाराकारिता प्रेम-भक्ति एवं ज्ञान के लिए अभीष्ट है। प्रेम के क्षेत्र में प्रिय और प्रेमी की अद्वैत-स्थिति, भक्ति के क्षेत्र में भक्त और भगवान् का अभेद तथा ज्ञान के क्षेत्र में ज्ञाता और ज्ञेय का एकीभाव जब तक नहीं हो पाता, अर्थात् जब तक प्रेमी-भक्त अथवा ज्ञाता के मन में वेद्यान्तर सम्पर्क बना रहता है तब तक वह उनकी चरम श्रेणी तक नहीं पहुँच पाता। विद्यापति के प्रेम का भी कुछ ऐसा ही आदर्श था। देव में भी इसी प्रकार का प्रेम यत्र तत्र मिलता है। विहारी ने भी एक स्थान पर प्रिय और प्रेमी के भेद को मिटाकर प्रेम के चरम स्वरूप को उपस्थित किया है :—

"पिय कैं ध्यान गही गही रही वही ह्वै नारि।
आपु आपु हीं आरसी लखि रीझति रिझवारि॥"

विद्यापति ने इस भाव को यों अभिव्यक्त किया है :—

"अनुखन माधव माधव रटइत राधा भेलि मधाई।"

प्रेम की इस सीमा तक आने के लिए प्रेमी को जो त्याग और कष्ट सहन करना पड़ता है वह भी अविदित नहीं है। यदि प्रेम सच्चा है तो विष भी अमृत बनकर प्रेम की आयु को बढ़ा देता है। मीरा का विष प्रेमातिरेक में अमृतोपम होगया। कहने का अभिप्राय यह है कि प्रेम के क्षेत्र में अनन्तकालीन वेदनाओं के सहने में भी आनन्द आने लगता है जब वहाँ ऐसी संभावना हो जाए कि इस कष्ट सहन से प्रेमी के लिए प्रिय का हृदय अवश्य ही प्रीतिप्रवण हो उठेगा। बिहारी की नायिका के पैर में काँटा चुभ गया है। परन्तु उस काँटे को निकालने वाले हैं प्रियतम नायक, अतः नायिका को शूल की चुभन में भी प्रसन्नता हो रही है; क्योंकि जब तक नायक उस काँटे को बाहर निकालेगा तब तक उसके शरीर का स्पर्श सुख तो मिलेगा ही।

"इहि काँटे मो पाँइ गड़ि लीनी मरति जिवाइ।
प्रीति जतावत भीति सौं मीत जु काढ़्यौ आइ॥

इसी स्पर्शसुख की भावना को हम पतंग के प्रसंग में भी देख सकते हैं। नायक की पतंग उड़कर नायिका के आँगन में आगई है। यह देखकर वह उसकी छाया पकड़ने के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान तक भाग दौड़ करने लग जाती है। यहाँ वस्तुतः पतंग का स्पर्श करने में वह सुख नहीं है जो कि यह कल्पना करने में है कि यह पतंग प्रिय का स्पर्श कर चुकी है अतः इसकी छाया को छू लेना भी सौभाग्य की बात होगी। यही बात प्रिय का पत्र पाने पर प्रेमी के मन में उठती है। परन्तु कहीं-कहीं पर बिहारी में अश्लीलात भी आगई है जैसे एक स्थान पर नायक नायिका की गोद में से बालक को लेकर उसके चारु कपोलों का चुम्बन इसलिए करता है कि पहले तो वह नायिका के उरोजों को छू सके, फिर बालक का मुख चुम्बन करने के बहाने एक प्रकार से नायिका का चुम्बन कर सके।

इसी प्रकार नायक जब यह देखता है कि उसके द्वारा तनिक सा दुःख सहन कर लेने पर नायिका को अत्यन्त कष्ट होने लगता है तो वह जानबूझ कर ऐसे मार्ग में होकर चलता है जहाँ उसके पैरों में शूल तथा कङ्कड़ियाँ गड़ने लग जाती हैं। एक स्थान पर बिहारी ने ऐसा ही वर्णन किया है :—

"नाँक चढ़ै सीबी करै जितै छबीली छैल।
फिरि फिरि भूलि वहै गहै प्यौ कंकरीली गैल॥"

बिहारी ने संयोग का चित्रण करने के लिए फाग और झूला को भी अपना साधन बनाया है। फागुन का महीना आगया है। कहीं नायक नायिका से होली खेल खेल रहा है तो कहीं नायिका नायक के मुख पर गुलाल मल रही है अथवा पिचकारी से, उसके शरीर को रंग से सराबोर कर रही है।

"जज्यौं उझकि झाँपति बदनु झुकति बिहँसि सतराइ।
तत्यों गुलाल मुठी झुठी झझकावत प्यौ जाइ॥
पीठि दियैं हीं नैंक मुरि कर घूँघटु पटु डारि।
भरि गुलाल की मूठि तिय गई मूठि सी मारि॥"

पावसकालीन प्रकृति वर्णन के अन्तर्गत कवि नेझूले अथवा हिंडोले का चित्रण करके भी संयोग शृंगार का वर्णन किया है। नायिका हिंडोले पर झूल रही है।

जिस समय पैंग बढ़ाने के लिए वह नीचे की ओर अभिमुख होती है तब नायक उसे बीच में ही अपने बाहुपाश में आबद्ध कर लेता है :—

"हेरि हिडौरैं गगन तैं परी परी-सी टूटि।
धरी धाइ पिय बीच हीं करी खरी रस लूटि॥"

'गुड़ी' तथा कबूतर के प्रसंगों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि प्रिय की साधारण सी वस्तु भी प्रेमी को असाधारण रूप से आकर्षित कर लेती है, क्योंकि उस वस्तु का सम्बन्ध प्रिय और उसकी भावनाओं से जो होता है ! पतंग तथा कबूतर को उड़ते हुए देखने में नायिका की रुचि नहीं है अपितु तह यह देखकर आकर्षित होती है कि नायक उन दोनों को कितनी कुशलता से उड़ा रहा है :—

"उड़ति गुड़ी लखि ललन की अंगना अंगना माँह।
बौरी लौं दौरी फिरति छुवति छबीली छाँह॥
ऊँचै चितै सराहियत गिरह कबूतर लेतु।
झलकित दृग मुलकित बदनु तनु पुलकितु किहिं हेतु॥"

नायक-नायिकाओं की यह प्रेम क्रीड़ा यहीं समाप्त नहीं हो जाती। बिहारी ने आँख मिचौंनी का भी अत्यन्त सुन्दर वर्णन किया है। इस प्रसंग में सबसे अधिक आकर्षक तथ्य यह है कि नायक तथा नायिका दोनों में इतनी प्रगाढ़ प्रीति है कि वे दोनों एक दूसरे को बिना देखें हुए केवल शारीरिक स्पर्श के द्वारा ही पहचान लेते हैं।

"दृग मिहिंचति मृगलोचनी भर्‌यौ उलटि भुज बाथ।
जानि गई तिय नाथ कैं हाथ परस ही हाथ॥"

'स्नानक्रीड़ा' तथा 'वन-विहार' के प्रसंगों में भी श्रृंगार रस के संयोगपक्ष का अत्यन्त स्वस्थ चित्र कवि ने प्रस्तुत किया है :—

"छिरके नारि नवोढ़ दृग कर पिचकी जलजोर।
रोचन रंग लाली भई बिय तिय लोचन कोर॥
घाम घरीक निबारियै कलित ललित अलिपुंज।
जमुना तीर तमाल तरु मिलित मालती कुंज॥

प्रेम के संयोगपक्ष में बिहारी ने मनोवैज्ञानिक चित्रण के साथ सांकेतिक दृश्यों का भी अनुपम मिश्रण कर दिया है। नायक तथा नायिका दोनों ही परस्पर एक दूसरे को देखकर आकर्षित हो जाते हैं किन्तु 'भरे भौन की भीर' में स्वभावतः दोनों के हृदय लज्जा से विनत हो जाते हैं। न तो नायिका आँख भर कर नायक की ओर ही देख सकती है और न नायक ही अपने प्रेम का मुख से वर्णन कर पाता है। कवि ने इस मानसिक द्विधा का वर्णन बड़ी कुशलता से किया है। अन्त में उसे एक युक्ति सूझ पड़ती है--नायिका अपनी मुद्रिका में जटित लघु दर्पण में पड़ते हुए नायक के प्रतिबिम्ब को देखकर ही प्रियदर्शन का लाभ प्राप्तकर लेती है :—

"कर मुंदरी की आरसी प्रतिबिंबित प्यौ पाइ।
पीठि दिएँ निधरक लखै इक टक डीठि लगाइ ॥

इसी प्रकार बिहारी दूसरी युक्ति निकालकर नायक तथा नायिका के पारस्परिक प्रेम को भी विशेष अंगमुद्राओं के द्वारा संकेतित कर देते हैं। यहीं बिहारी की अद्‌भुत् क्रियविदग्धता का परिचय हमें प्राप्त होता है। वाणी पर प्रतिबंध लगा देखकर नायक तथा नायिका परस्पर नेत्रों के संकेत से ही अपने-अपने मनोगत भावों को स्पष्ट कर देते हैं :—

"भरे भौन में करत हैं नैननु हीं सौं बात।"

अथवा

"लखि गुरुजन बिच कमल सौं सीस छुवायौ स्याम।
हरि सनमुख करि आरसी हियैं लगाई बाम ॥"

रूप सौन्दर्य का चित्रण, आभूषण वर्णन एवं नखशिख विवेचन से भी बिहारी के मिलन-शृंगार का व्यापक परिचय उपलब्ध हो जाता है। नायिका के अप्रतिम रूप तथा आङ्गिक सौकुमार्य के वर्णन में यदि कहीं बिहारी परम्परागत चित्रण करते हैं तो कहीं-कहीं मौलिक प्रसंगों की उद्‌भावना भी। जहाँ बिहारी ने इस सूकुमारता का चित्रण किया है वहाँ यत्र तत्र अस्वाभाविकता भी आ गई है :—

"भूषन भार सँभरिहै क्यौं यह तन सुकुमार।
सूधे पाँइ न परत हैं सोभा ही कैं भार।।"

किन्तु इस अस्वाभाविकता के दर्शन विहारी में सर्वत्र नहीं हो पाते। वे स्वाभाविक चित्रण करने में भी उतने ही समर्थ हैं जितने कि ऊहात्मक चित्रणों के प्रस्तुत करने में। एक स्थान पर नायिका के इस सहज स्वाभाविक रूप का चित्रण बिहारी ने कितने ललित ढंग से किया है :—

"अरुन-बरन-तरुनी-चरन-अंगुरी-अति - सुकुमार।
चुवतु सुरँगु रंगु सी मनौं चँपि विछियनु कैं भार।।"

तथा—

"चुनरी स्याम सतारनभ मुख ससि की अनुहारि।
नेह दबावत नींद लौं निरखि निसा-सी नारि।।"

'विहारी-सतसई' में किए गए विशुद्ध मिलन-शृंगार वर्णन का उत्तरोत्तर विकास की दृष्टि से श्रेणी-विभाजन करने पर निम्न प्रकार से विवेचन करना होगा :—

१—प्रेम का आरम्भ, २—मिलन की सज्जा, ३—अभिसार (शुक्लाभिसारिका तथा कृष्णाभिसारिका), ४—रत्यारंभ, ५—विपरीत रति, ६—रति का अन्त।

नायक तथा नायिका की एक दूसरे से पहली बार भेंट होती है। नायिका उसे देखकर रीझ जाती है। लज्जा, लोकमर्यादा, प्रेमज्ञापन का संकोच तथा रूप यौवन का अभिमान उसे यह स्पष्ट नहीं कहने देते कि वह नायक से प्रेम करने लगी है। ऐसी दशा में उसकी जो चेष्टाएं सहजरूप से हो सकती थीं, उनका बिहारी ने विशद वर्णन किया है :—

"नई लगनि कुल की सकुच बिकल भई अकुलाइ।
दुहूँ ओर एंची फिरति फिरकी लौं दिन जाइ।।
समरस-समर-संकोचबस बिबस न ठिकु ठहराइ।
फिरि फिरि उझकति फिरि दुरति दुरि दुरि झमकति जाइ।।"

नायिका की सखियाँ तथा दूती आदि उसकी इस दशा को देखकर नायक से

मिलाने की युक्ति निकालती हैं जिसमें वे सफल भी हो जाती हैं। नायिका पहली बार एकान्त में प्रिय से अभिसार करने के लिए जाने वाली है, अतः वह स्वाभाविक शृंगार भी करती है। 'बिहारी सतसई' में अभिसार से पहले के इस शृंगार का भी सजीव चित्र अङ्कित किया गया है :—

"बैंदी भाल तमोल मुख सीस सिलसिले बार।
दृग आँजैं राजैं खरी एही सहज सिंगार॥"

बिहारी ने दोनों प्रकार की परम्परागत अभिसारिकाओं का वर्णन किया है। साहित्यशास्त्र में शुक्ला तथा कृष्णा दो प्रकार की अभिसारिकाओं का उल्लेख किया गया है। बिहारी ने भी इन दोनों को अपनी सतसई में प्रस्तुत किया है :–

शुक्लाभिसारिका वर्णन :—

"जुवति जौन्ह मैं मिलि गई नेंकु न परति लखाइ।
सौंधैं कैं डोरनु लगी अली चली सँग जाइ॥"

कृष्णाभिसारिका वर्णन :—

"अरी खरी सरपट परी बिधु आधैं मग हेरि।
संग लगे मधुपनि लई भागति गली अँधेरि॥"

अभिसारिकाओं के इस चित्रण में बिहारी ने उनके मनोगत भावों की उपेक्षा भी नहीं की है। लज्जा, प्रेम-प्रवणता, किसी से देख लिए जाने का भय तथा उल्लास आदि अनेक भावानुभूतियाँ उन्होंने इन नायिकाओं में अभिव्यंजित करदी हैं।

दूती तथा सखियों के युक्ति-निरूपण से अन्त में दोनों का मिलन हो जाता है। मिलन की इस पृष्ठभूमि का चित्रण बिहारी से सैकड़ों वर्ष पूर्व संस्कृत के ग्रन्थों में किया जा चुका था। विशुद्ध रति के प्रसंगों में बिहारी ने चित्रण का कमाल तो दिखाया है परन्तु वे सर्वत्र मर्यादाओं की रक्षा नहीं कर पाए हैं। यहाँ उनकी कविता सजैस्टिव होने की अपेक्षा प्रकृत अधिक हो गई है। रति सम्बन्धी जो वर्णन बिहारी ने किए हैं वे कहीं-कहीं कामशास्त्र के चित्रों से भी अधिक अश्लील हो गए हैं। किन्तु इसका दोष बिहारी को नहीं दिया जा सकता।

यह दोष तो संस्कृत-अपभ्रंश की उस साहित्यिक-विरासत को ही दिया जा सकता है जिसने आश्रयदाताओं तथा कवियों की रुचियों को सर्वतोभ्रष्ट कर रक्खा था। बिहारी में तो फिर भी पर्याप्त संयम है जबकि उनसे पूर्ववर्त्ती संस्कृत कवियों तथा पश्चाद्भावी हिन्दी के रीति-कवियों में अपेक्षाकृत अधिक नग्नता एवं अश्लीलता है। बिहारी के संभोग शृंगार सम्बन्धी दोहों की बानगी नीचे के दोहों से ली जा सकती है।

"भौंहनि आसति मुख नटति आँखिन सौं लपटाति।
एंचि छुड़ावत कर इंची आगैं आवति जाति॥
परयौ जोरु बिपरीत रति रुपी सुरति रन-धीर।
करति कुलाहल किंकिनी गह्यौ मौनु मंजीर॥
लखि लखि अँखियनि अधखुलिनि आँग मोरि मुसिक्याइ।
आधिक उठि लेटति लटति आलस भरी जंभाइ॥"

बिहारी ने संभोग-शृंगार वर्णन में आलम्बन का तो विशद वर्णन किया ही है, साथ ही साथ उद्दीपन के चित्र भी उनके दोहों में देखे जा सकते हैं। शृंगार रस में बाह्य उद्दीपन चित्रों का अपना विशिष्ट स्थान होता है। रात्रि-प्रभात नदी तट सघन कुंज आदि के वर्णन संभोग-शृंगार के उद्दीपक हैं। बिहारी के ऐसे चित्रों का वर्णन इन दोहों में मिल सकता है :—

"छकि रसाल सौरभ सने मधुर माधवी गंध।
ठौर ठौरत झूंमत झिपत भौंर झौंर मधु अंध॥
पावस घन अँधियार में रह्यौ भेदु नहिं आन।
राति धौस जान्यौ परतु लखि चकवी चकवान।"

'बिहारी सतसई' में अनेक दोहों में बिहारी ने स्वतन्त्र रूप से भी प्रेम की परिभाषा, विश्लेषण तथा उसके व्यापक प्रभाव की व्यंजना की है :—

"दृग उरझत टूटत कुटुम जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गाँठि दुरजन हियैं दई नई यह रीति॥
खलबढ़ई बल करि थके कटै न कुवत कुठार।
आल बाल उर झालरी खरी प्रेम तरु डार॥"

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि बिहारी प्रेम के संभोगपक्ष के चतुर चितेरे हैं। उन्होंने अपने इस एकमात्र ग्रन्थ में ही संयोगात्मक प्रेम के अनेक-विध रूप प्रस्तुत कर दिए हैं। यह बिहारी की विचक्षण प्रतिभा का ही सामर्थ्य था कि दोहे जैसे छोटे छन्द के माध्यम से नायक-नायिकाओं के रूप-लालित्य का चित्रण, उनके मनोभावों का विश्लेषण, विवध शारीरिक मुद्राओं का निदर्शन वे कुशलतापूर्वक कर सके। प्रेम के संयोग पक्ष के अनेक सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रसंगों की उन्होंने सजीव एवं मार्मिक ढंग से उद्भावना की है। प्रकृति का उद्दीपन रूप, नखशिख, चित्रण, अलंकार-सज्जा, रति के आरम्भान्त चित्रण—यह सभी कुछ उन्होंने विशद रूप से अपने दोहों में वर्णित किया है।

'बिहारी-सतसई' में विरह-वर्णन

काव्यशास्त्र में शृङ्गार को जो 'रसराज' की पदवी प्रदान की गई है, उसके विषय में पिछले अध्याय में हम पर्याप्त विवेचन कर चुके हैं। संस्कृत के आचार्यों ने शृङ्गार रस को दो भागों में विभाजित किया है। सुखात्मक तथा दु:खात्मक प्रेम के आधार स्वरूप संयोग एवं वियोग के रूप में शृङ्गार की दो श्रेणियाँ की गई हैं। यह वियोग शृङ्गार भी दो प्रकार का होता है :—

१—अयोग,　　　　　　२—विप्रयोग।

अयोग शृङ्गार में नायक तथा नायिका में परस्पर मिलन अथवा समागम का सर्वथा अभाव होता है। विप्रयोग शृङ्गार नायक तथा नायिका के समागम के पश्चात् होने वाले बिछोह को कहा जाता है। वास्तव में तो नायक के द्वारा परकीया के प्रति प्रेम किए जाने पर स्वकीया के मन में उठने वाले क्षोभ को विप्रयोग कहा जाता है। इस स्वकीया को विप्रलब्धा भी कहा जाता है। यहाँ पर विप्रयोग का व्यापक अर्थ सामन्यतः होने वाले विरह के रूप में ही किया गया है। धनञ्जय ने दश रूपक में इसका विश्लेषण निम्न प्रकार से किया है :—

"विप्रयोगस्तु विश्लेषो रूढविस्रम्भयो द्विधा।
मानप्रवासभेदेन मानोऽपि प्रणयेर्ष्ययोः॥"

उक्त विवेचन से पूर्व यह बताना अनावश्यक न होगा कि वियोग की प्रथमावस्था 'अभिलाषहेतुक' हुआ करती है। इसी को पूर्वराग भी कहा जाता है। जहाँ नायक-नायिका परस्पर एक दूसरे के दर्शन, गुणश्रवण आदि से आकर्षित होते हैं उसे पूर्वराग कहते हैं। रामचन्द्र तथा सीता, कृष्ण तथा रुक्मिणी, पृथ्वीराज तथा संयुक्ता एवं रत्नसेन तथा पद्मावती का पूर्वराग साहित्य अध्येयताओं के लिए अपरिचित नहीं है। अभिलाष का विवेचन धनञ्जय ने इस प्रकार किया है :—

"अभिलाषः स्पृहा तत्र कान्ते सर्वाङ्गसुन्दरे।
दृष्टे श्रुते वा तत्रापि विस्मयानन्दसाध्वसाः॥
साक्षात्प्रतिकृतिस्वप्नछायामायासु दर्शनम्।
श्रुतिव्याजात्सखीगीतमागधादिगुणस्तुतेः ॥"

अब पुनः हम मान तथा प्रवास के विश्लेषण की ओर चलते हैं। मानरूप वियोग के दो भेद किए जाते हैं—१—प्रणयमान तथा २—ईर्ष्यामान। प्रणयमान के विषय में कहा गया है :—

"तत्र प्रणयमानः स्यात्कोपावसितयोर्द्वयो:"

अर्थात् केवल नायक अथवा केवल नायिका अथवा नायक-नायिका दोनों ही प्रणयमान कर सकते हैं। ईर्ष्यामान केवल नायिका ही कर सकती है। ईर्ष्यामान की नारीसुलभता के विषय में दशरूपककार का निम्न कथन दर्शनीय है :—

"स्त्रीणामीर्ष्याकृतो मानः कोपोऽन्यासंङ्गिन प्रिये।"

ईर्ष्यामान तीन प्रकार का होता है—दृष्ट, श्रुत तथा अनुमित। अनुमित के भी आचार्यों ने ३ भेद किए हैं—उत्स्वाप्नायित, भोगाङ्कानुमित, गोत्रस्खलनकल्पित। यदि नायक स्वप्न में ज्येष्ठानायिका के सम्मुख ही कनिष्ठा के विषय में कहे तो यह उत्स्वप्नायित होगा। परकीया अथवा कनिष्ठा नायिका के साथ रति करने पर जो चिह्न अङ्कित हो जाते हैं उन्हें देखने पर यदि स्वकीया नायिका मान करे तो वह भोगाङ्कानुमित मान कहलाएगा, इसी प्रकार यदि असावधानी, शीघ्रता अथवा आवेश में कनिष्ठा अथवा परकीया का नाम नायक के मुख से निकल जाए तो वह स्वकीया नायिका का गोत्रस्खलनकल्पितमान कहा जाएगा। ईर्ष्यामान के परिहार के लिए काव्यशास्त्रियों ने नायकों द्वारा करणीय ६ उपायों का उल्लेख किया है—साम, भेद, दान, नति, उपेक्षा तथा रसान्तर। प्रणयमान करने वाली नायिका विरहोत्कण्ठिता तथा ईर्ष्यामान करने वाली नायिका कलहान्तरिता, विप्रलब्धा अथवा खण्डिता की संज्ञा से अभिहित की जाती हैं।

प्रवास-विप्रयोग वहाँ होता है जहाँ नायक किसी आवश्यक कार्यवश, संभ्रमवश अथवा दैवी शापवश नायिका से प्रवासित अथवा भिन्नदेशी कर दिया जाता

है। कार्यतः प्रवास के अन्तर्गत कंसवध के लिए जाने वाले कृष्ण तथा गोपियों का विरह, संभ्रमवश प्रवास कालिदास के 'विक्रमोर्वशीयम्' नाटक में आने वाला पुरुरवा तथा उर्वशी एवं भवभूति के 'मालतीमाधवम्' नाटक में मालती तथा माधव का विरह, तथा दैवी शापवश होने वाले प्रवास में महाश्वेता तथा पुण्डरीक (बाणकृत 'कादम्बरी' में) एवं 'उत्तररामचरितम्' में राम तथा सीता का विरह उल्लिखित किया जा सकता है। कालक्रम की दृष्टि से इस प्रवास के बुद्धिपूर्वक तीन भेद और भी किए गए हैं—

१—यास्यत्प्रवास—भावी प्रवास (भविष्यकालिक)
२—गच्छत्प्रवास—भवन् प्रवास (वर्तमानकालिक)
३—गतप्रवास —भूतप्रवास (अतीतकालिक)

कतिपय विद्वानों ने नायिकाभेद के आधार पर इस प्रवास के और भी भेद किए हैं। वस्तुत: आगतपतिका, आगच्छत्पतिका तथा एष्यत्पतिका नायिकाओं के तीनों प्रवास भेद उपर्युक्त प्रवासश्रेणियों में ही अन्तर्भुक्त हो जाते हैं। आगतपतिका तथा आगच्छत्पतिका में नायक समीप ही रहता है वहाँ वियोग का प्रश्न ही नहीं उठता। रही बात एष्यत्पतिका नायिका की, उसे हम गतप्रवास के वर्ग में ग्रहण कर सकते हैं। प्रवास काल में नायक तथा नायिकाओं में देखे जाने वाले चिह्नों का वर्णन इस प्रकार किया है :—

'द्वयोस्तत्राश्रुनिःश्वासकार्श्यलम्बालकादिता।'

दशरूपककार धनञ्जय, नाट्यशास्त्र प्रणेता भरतमुनि, अभिनव भारतीकार तथा काव्यप्रकाशकार मम्मटाचार्य आदि सभी विद्वानों के मत इस प्रसंग में प्रकारान्तर से एकरूप ही हैं। काव्यशास्त्रियों ने विप्रलम्भ शृङ्गार को दस दशाओं में विभक्त किया है :—

"दशावस्थः स तत्रादावभिलाषोऽथ चिन्तनम्।
स्मृतिर्गुणकथोद्वेगप्रलापोन्मादसञ्ज्वराः ॥
जडता मरणं चेति दुःखस्थं यथोत्तरम्।"

अर्थात्—अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, संज्वर (व्याधि), जडता तथा मरण।

अभिलाष—बिछुड़े हुए नायक से नायिका द्वारा पुनर्मिलन की अभिलाषा करना।

चिन्ता—हित की अप्राप्त्यावस्था में ध्यान की एकतानता।

स्मृति—प्रिय के साथ किए गए विगत लीलाकौतुक, प्रिय के प्रेमपूर्ण वचन तथा बीती हुई घटनाओं का विरह के क्षणों में स्मरण करना।

गुणकथन—प्रिय के चले जाने पर उसके गुणों (विशेषताओं) का उल्लेख करना।

उद्वेग—अनर्थ की अतिशयता से मन का संभ्रमित होना।

प्रलाप—विरहावस्था में वाच्यावाच्य के भेद को भूल कर अनर्गल बोलना।

उन्माद—प्रियविछोह में कृत्याकृत्य को न पहचान करना उनमत्तवत् आचरण करना।

संज्वरः– प्रिय की दूरी में मानसिक एवं दैहिक व्याधियों को सहन करना। काम की इस दशा का वर्णन प्राय: सभी श्रृंगारी कवि बढ़ा-चढ़ा कर करते हैं।

जड़ता—अनर्थाधिक्य की असह्यतावश किंकर्त्तव्यमूढ़ता आना।

मरण—मरण विरहात्मक प्रेम की अंतिम दशा है। नायक तथा नायिका में से किसी एक के द्वारा प्राणपरित्याग की सूचना मरण दशा से ही दी जाती है। साहित्य में इसका प्रयोग निषिद्ध मानां जाता है।

उपर्युक्त दसों दशाओं के अतिरिक्त कुछ लोगों ने 'मूर्च्छा' को भी एक कामदशा माना है परन्तु इसे जड़ता के अन्तर्गत लिया जा सकता है। ये दसों दशाएं नायक अथवा नायिका की विरहजनित पीड़ा के उत्तरोत्तर आधिक्य का परिचय देती हैं।

विप्रलम्भ का अन्तिम रूप है करुणात्मक। करुणात्मक विप्रलंभ श्रृंगाररस तथा स्वतन्त्र रूप से वर्णित करुण रस में अत्यन्त सूक्ष्म अन्तर है। करुणात्मक विप्रलंभ श्रृंगार में नायक तथा नायिका में से किसी एक का मरण तो अवश्य दिखाया जाता है परन्तु दैवी भविष्य वाणी के आधार पर पुनर्जन्म की सम्भावना बनी रहती है। स्वतंत्र रूप से वर्णित करुण रस का स्थायीभाव 'शोक' है। करुण रस में पुनर्मिलन की सम्भावना नहीं रहती। अत: यह कहना भ्रामक होगा कि 'साकेत' अथवा 'उत्तररामचरितम्' में करुणरस की प्रधानता है। वस्तुत: वहाँ

पर करुणरस स्वतन्त्र रूप से न आकर विप्रलंभ शृंगार में ही तिरोभूत हो गया है। 'जयद्रथवध' में उत्तरा तथा अर्जुन के विलाप में करुणरस माना जा सकता है। शृंगार रस मरण आदि का वर्णन करना निषिद्ध माना गया है।

अब प्रश्न यह उठता है कि 'बिहारी सतसई' से इस शास्त्रीय विवेचन का क्या सम्बन्ध है। वास्तविकता यह है कि बिहारी आदि प्रायः सभी रीतिकालीन कवियों पर संस्कृत के काव्यशास्त्र का विशद प्रभाव पड़ा है। नख-शिख वर्णन, नायक-नायिका वर्णन तथा संभोग विप्रलंभ शृंगाररस के वर्णन करने में हिन्दी कवियों ने संस्कृत के लक्ष्य-लक्षण ग्रन्थों से पर्याप्त सामग्री उधार ली है। बिहारी ने भी अपने दोहों में विप्रलंभ शृंगार का प्रयोग इन्हीं परम्परागत रूढ़ियों के आधार पर किया गया है।

बिहारी ने अभिलाषहेतुक (पूर्वराग) मान-प्रवास तथा करुण में से प्रवास का वर्णन ही अधिक किया है। इसका कारण यह है कि पूर्वराग में विशुद्ध रूप से प्रिय को प्राप्त करने की अभिलाषा रहती है; वहां वियोग व्यथा के लिए कोई स्थान नहीं होता। मान में भी नायक तथा नायिका के बीच कोई विशेष दूरी नहीं होती। यह दूरी भौतिक न होकर मानसिक ही अधिक होती है। विरह व्यथा के चित्रण के लिए भौतिक दूरी का होना भी अपेक्षित है। फिर यह मानसिक व्यवधान भी अधिक स्थायी नहीं होता क्योंकि हृदय में निरन्तर उठते रहने वाले व्यभिचारी भाव किसी क्षण भी कोप को (जो स्वयं भी व्यभिचारी भाव है) पराभूत कर सकते हैं। करुण के प्रसंग में ऊपर कहा ही जा चुका है। यद्यपि 'बिहारी सतसई' में एक स्थान पर बिहारी ने करुण विप्रलंभशृंगार का वर्णन अत्यन्त कुशलता से कर दिखाया है, जहाँ पर मरण का अशुभ रूप प्रस्तुत नहीं किया गया है :—

> "कहा कहौं बाकी दसा हरि प्राननु के ईसु।
> बिरह ज्वाल जरिबौ लखै, मरिबौ भई असीसु ॥"

यहाँ 'मरण' में भी आशीर्वाद की मांगलिकता का कवि ने अधिष्ठान कर दिया है। सारांश यह है कि बिहारी ने प्रवास वर्णन का पर्याप्त चित्रण किया है। दूसरे प्रवासवर्णन का क्षेत्र भी अपेक्षाकृत व्यापक होता है। वेदना की तीव्रता

प्रकट करने के लिए प्रवास ही उचित माध्यम है। वैसे बिहारी ने पूर्वानुराग, प्रणयमान तथा ईर्ष्यामान का वर्णन भी स्थान-स्थान पर किया है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि बिहारी ने सर्वत्र ही शास्त्रीय ढंग का विरह वर्णन किया है। अनेक स्थलों पर यदि उन्होंने ऊहात्मक विश्लेषण किया है तो उसके साथ-साथ स्वाभाविक-सहज एवं हृदयस्पर्शी वियोग व्यथा को भी सफलतापूर्वक प्रस्तुत किया है। पत्रिका आदि के वर्णनों को इसी श्रेणी में गिना जा सकता है।

बिहारी ने पूर्वानुराग का वर्णन करने के लिए दो माध्यमों को ग्रहण किया है—नामश्रवण तथा प्रियदर्शन, इसके अतिरिक्त यत्र-तत्र उन्होंने पूर्वानुरागिनी नायिका की दशा का भी दो एक स्थलों पर वर्णन किया है। नायिका ने नायक का नाम तथा उसके गुण किसी से सुन लिए हैं, परिणामतः वह उसकी ओर मन ही मन आकर्षित हो जाती है; परन्तु लोकमर्यादावश उसे स्पष्ट नहीं कर पाती। यह चित्र बिहारी ने निम्न दोहे में प्रस्तुत किया है :—

"नाम सुनत ही ह्वै गयौ तनु औरै मनु औरु।
दबै नहीं चित चढ़ि रह्यौ अबैं चढ़ाएँ त्यौरु॥"

इसी प्रकार चित्रदर्शन प्रसंग का उद्‌भव भी बिहारी ने एक स्थल पर किया है :—

"रही अचल सी ह्वै मनौ लिखी चित्र की आहि।
तजे लाज उरु लोक कौ कहौ बिलोकति काहि॥"

इसी चित्रदर्शन की प्रतिक्रियास्वरूप नायिका के मन में नायक के प्रति दृढ़ अनुराग की भावना उदित होने लगती है, जिसकी विवृत्ति प्रस्तुत दोहे में होती है :—

"ठाढ़ी मन्दिर पै लखै मोहन दुति सुकुमारि।
तन थाकैं हूं ना थकैं चख चित चतुरि निहारि॥"

बिहारी ने प्रणयमान तथा ईर्ष्यामान का वर्णन भी विशद रूप से किया है। नायक तथा नायिका दोनों ही मिथ्या कोप करते हैं पर वह कोप अधिक देर तक टिक नहीं पाता है। इस सन्दर्भ में निम्न दोहे उल्लेखनीय हैं—

"दोऊ अधिकाई भरे एकैं गौ गहराइ।
कौन मनावै को मनै मानै मति ठहराइ॥

सोवत लखि मन मान धरि ढिग सोयौ प्यौ आइ।
रही सुपन की मिलन मिलि तिय हिय सौं लपटाइ ॥''

बिहारी ने प्रणयमान की अपेक्षा ईर्ष्यामान का वर्णन अधिक व्यापक रूप से किया है। कलहान्तरिता, खण्डिता धीराऽधीरा तथा विप्रलब्धा आदि नायिकाओं के वर्णन इसी प्रसंग में आते हैं। नायक किसी स्थान विशेष पर नायिका से मिलने की प्रतिज्ञा करता है। नायिका सखी के साथ अभिसार के लिए जाती है परन्तु नायक नहीं आता। वह किसी अन्य नायिका के प्रेम में आसक्त होने के कारण नियत समय और स्थान पर नहीं आ पाता है। इस प्रसङ्ग में नायिका की सखी के प्रति उक्ति लेखनीय है—

"नभ लाली चाली निसा चटकाली धुनि कीन।
रतिपाली आली अनत आए बनमाली न ॥"

प्रभात होने पर नायक उपनायिका से मिलकर आता है। नायिका उसके शरीर पर रति चिह्नों को स्पष्ट रूप से देख लेती है। मस्तक पर नखरेखा वनी हुई है, अंगुलियों में लाक्षारस के चिह्न दीख रहे हैं जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उसने उस उपनायिका के पैरों में महावर लगाया है, पलकों में पीक, अधरों में कज्जल मस्तक में महावर आदि चिह्नित होने से खण्डिता नायिका को नायक के परस्त्रीभोग का पूर्ण विश्वास हो जाता है। इन प्रसंगों की उद्‌भावना में, स्पष्ट विचारणीय है कि बिहारी पर पूर्ववर्त्ती संस्कृत एवं प्राकृत के कवियों का प्रभाव पड़ा है :—

"पलनु पीक अंजनु अधर धरे महाबरु भाल।
आजु मिले सु भली करी भले बने हौ लाल ॥
मोही सौं बातनि लगे लागि जीह जिहिं नाँइ।
सोई लै उर ल्याइयै लाल लागियति पाँइ ॥
सुभरु भर्‌यौ तुव गुन कननि पचयौ कपट कुचाल।
क्यौं धौं दार्‌यौ लौं हियौ दरकत नाहिन लाल ॥"

विहारी ने पूर्वराग और मान की तुलना में प्रवास का वर्णन अत्यन्त

व्यापक रूप से किया है। उपर्युक्त विवेचन में इस ओर संकेत भी किया गया है कि उक्त दो प्रकार के विरह में उतनी तीव्रता नहीं आ पाती जितनी कि प्रवास में। प्रवास में नायक तथा नायिका की दूरी उनके प्रेम को और अधिक तीव्र कर देती है। यह कहना असंगत होगा कि वियोग में प्रेम की मात्रा में न्यूनता आ जाती है। वस्तुतः विरह (प्रवास रूप) में ही प्रेम के क्षेत्र में विस्तार आता है। कालिदास ने अपने 'मेघदूत' में इसका स्पष्ट उल्लेख कर दिया है। प्रेमजन्य विरह के द्वारा ही प्रेमी का संकुचित हृदय उदार हो जाता है। जडचेतन पदार्थ में उसे कोई भेद नहीं प्रतीत होता। अपने प्रिय के विरह में उसे मेघाविल तमसाच्छन्न आकाश, सागर के दूरवर्त्ती दोनों तट तथा 'लता तरु पाँती' आदि सभी प्रणय व्याकुल दिखाई पड़ने लगते हैं। 'रामचरितमानस' में जब रामचन्द्र लतातरुओं से सीता के विषय में जा-जाकर पूछते हैं तब हम उनके इस कार्य-व्यापार को केवल पीड़ित मन का प्रलाप कहकर नहीं छोड़ सकते; अपितु यह उनकी वही व्यापक तथा संवेदनशील मनस्थिति है जिसमें चराचर के स्थूल भेद समाप्त हो जाते हैं। बिहारी के पूर्ववर्त्ती साहित्यशास्त्रियों ने विरह की दस दशाओं का उल्लेख किया था। परम्परा की संकुचित सीमाओं से बँध जाने पर, रीतिकालीन कवियों का विरह वर्णन एकरूप हो गया। यही कारण है कि घनानन्द बोधा तथा ठाकुर जैसे रससिद्ध संवेदनशील कवियों की अपेक्षा रूढ़िरूप प्रेम के चितेरे ही रीतिकाल ने हिन्दी कविता को अधिक प्रदान किए। 'बिहारी' के शृंगाररस के वर्णन पर रीतिग्रन्थों का अंकुश अधिक रहा है, फिर यत्र-तत्र उनके विरह वर्णन में मौलिक उद्‌भावनाएँ भी मिल जाती हैं जहाँ चमत्कारपूर्ण ऊहोक्तियों की अपेक्षा हृदय को स्पर्श करने वाली अनुभूतियों की नियोजना की गई है। पीछे बताई गई प्रेम (विरह मूलक) की दस दशाओं का बिहारी ने निम्न प्रकार से वर्णन किया है :—

अभिलाषा :—"बाम बाँह फरकत मिलैं जौ हरि जीवन मूरि।
तौ तोहीं सौं भेंटिहौं राखि दाहिनी दूरि॥
मोहि दयौ मेरौ भयौ रहतु जु मिलि जिय साथ।
सो मन बांधि न सौं पिये पिय सौतिनु कैं हाथ॥"

चिन्ता :—"रहिहैं चंचल प्रान ए कहि कौन की अगोट।
ललन चलन की चित धरी कल न पलन की ओट ॥"

स्मृति :—बिहारी ने स्मृतिदशा का वर्णन अपेक्षाकृत अधिक और स्वाभाविक ढंग से किया है। कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं :—

"ध्यान आनि ढिग प्रानपति मुदित रहति दिनराति।
पल कंपति पुलकित पलक पलक पसीजति जाति ॥
स्याम सुरति करि राधिका तकति तरनिजा तीर।
अंसुअन करति तरौंस कौं खिन खौरौहों नीर ॥"

गुणकथन :—"लाल तिहारे बिरह की अगनि अनूप अपार।
सरसै बरसै नीर हू मिटै न झर हू झार ॥"

उद्वेग :—"औरै भाँति भए ऽब ए चौसर चंदन चंद।
पति बिनु अति पारत बिपति मारतु मारुत मंद ॥
भौ यहु ऐसौ ही समौ जहाँ सुखद दु:ख देत।
चैत चांद की चाँदनी डारति किए अचेत ॥"

प्रलाप :—"कहे जु बचन वियोगिनी बिरह बिकल बिललाय।
किए न किहि अंसुआ सहित सुआ ति बोल सुनाय ॥"

उन्माद :—"मरिबे कौ साहसु ककै बढ़ै बिरह की पीर।
दौरति है समुहे ससी सरसिज सुरभि समीर ॥
हिएँ और सी ह्वै गई टरी अवधि कैं नाम।
दूजैं करि डारी खरी बौरी बौरैं आम ॥"

संज्वर :—संज्वर अथवा व्याधि का वर्णन करने में बिहारी पर्याप्तकुशल हैं। यहाँ दो उदाहरण दिए जाते हैं। आगे व्याधिवर्णन पर हम विशद प्रकाश डालेंगे :—

"अरी परे न करै हियो खरे जरे पर जार।
लाबति घोरि गुलाब सौं मिलै मिलै घनसार ॥

पिय प्रानिन की पाहरू करति जतन अति आपु ।
जाकी दुसह दसा पर्‌यौ सौतिनहूं संतापु ॥"

जड़ता :—"मरी डरी कि टरी बिथा कहाँ खरी चलि चाहि ।
रही कराहि कराहि अति अब मुख आहि न आहि ॥"

मरण :—'मरण' नामक दशा का वर्णन साहित्य में निषिद्ध माना गया है। या तो इसका प्रयोग ही नहीं किया जाता या फिरि इसकी सूचना भर दे दी जाती है। बिहारी ने इस दशा का वर्णन भी अत्यन्त सफलता के साथ कर दिखाया है :—

"गनती गनिबें तैं रहे छत हू अछत समान ।
अब अलि ये तिथि अवम लौं परे रहौं तन प्रान ॥"

बिहारी के विरहवर्णन में ऊहात्मक उक्तियाँ पर्याप्त मात्रा में आती हैं। जहाँ काव्यार्थ को कविता का साध्य न मानकर कोई अन्य आरोपित अथवा सिद्ध अर्थ निकालना कवि का उद्देश्य होता है वहीं 'ऊहा' का प्रयोग माना जाता है। ऐसे ऊहात्मक कथन रसात्मक न होकर चमत्कारप्राण ही अधिक होते हैं। इन्हें सुन करश्रोता के मुख से 'आह' न निकल कर 'वाह' ही निकल सकती है। ऊहात्मक कथन में कवि हृदय से अल्प तथा मस्तिष्क से प्रचुर सहयोग की अपेक्षा रखता है। रीतिकाल के अनेक कवियों तथा उनसे पूर्व जायसी एवं सूरदास ने भी ऐसे ऊहात्मक उद्‌गारों का खुलकर प्रयोग किया है। यह कहना सत्य नहीं है कि 'ऊहा' का प्रयोग एकान्ततः अभारतीय है। श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के मतानुसार यह सब कविता पर पड़ने वाला बाहरी प्रभाव है। वास्तविकता ऐसी नहीं है। यह सर्वमान्य तथ्य है कि उर्दू-फारसी की कविता में कातिल खंजर, ज़हर-खूने जिगर तथा छालों और फफोलों का वर्णन अधिकता से मिलता है परन्तु हम इससे भी इन्कार नहीं कर सकते कि हमारे संस्कृत के अलंकारवादी कवियों ने भी कविता के कलापक्ष की समृद्धि के लिए अनेक दूरारूढ़ कल्पनाओं का प्रयोग किया था। इन स्थलों में रसकी स्थिति गौण हो जाती थी तथा अलंकारादि की स्थिति प्रधान। यह मानने में किसी कवि को आपत्ति नहीं हो सकती कि बिहारी की कविता पर

एक ओर यदि बाहरी प्रभाव पड़ा है तो दूसरी ओर संस्कृत-प्राकृत तथा अपभ्रंश से भी उन्होंने बहुत कुछ सीखा है।

बिहारी ने एक स्थान पर नायिका के विरह वर्णन में यह लिखा है कि वह नायक के वियोग में हाथ से मसले हुए फूल जैसी हो गई है। उसे सखियों के बीच पहचानना अत्यन्त कठिन हो गया है। इसी प्रसंग में आगे चलकर वे कहते हैं कि जिस प्रकार कोई हिंडोले पर झूलने वाला व्यक्ति कभी ऊपर जाता है तो कभी नीचे की ओर आता है उसी प्रकार विरहिणी नायिका भी सांसों के झूले में निरन्तर झूलती रहती है :—

"इत आवति चलि जाति उत चली छ-सातक हाथ।
चढ़ी हिंडौरैं सी रहे लगो उसाँसनु साथ॥"

कितनी बड़ी चुटकी ली है बिहारी ने यहाँ पर! कहा नहीं जा सकता कि बिहारी इस दोहे के द्वारा पाठकों में नायिका के प्रति तीव्र संवेदना का संचार करना चाहते हैं अथवा उस बेचारी की खिल्ली उड़ाना चाहते हैं। शायद रीतिकाल की विरहिणी नायिकाओं पर कोई दूसरा काम ही न था सिवाय उच्छ्वासों के हिन्दोल में ऊपर नीचे जाने आने के। यही नहीं, उन्होंने वियोगिनी के उत्तप्त निश्वासों के ताप की आशंका से उसके पड़ौस के घरों को ही सूना करा दिया। बेचारी को शीतलता देने के लिए गुलावजल का छिड़काव करते समय दासियाँ तथा सखियाँ हैरत में पड़ जाती होंगी जब कि उसके शरीर की लपट से वह उड़ जाता होगा। शायद उस घर के आगे पीछे के रास्तों में भी सन्नाटा छा जाया करता होगा! वाह बिहारी जी....जहाँ रवि न पहुँचे वहाँ पर कवि की पहुँच, और जहाँ कोई कवि न पहुँचे वहाँ आपकी प्रतिभा की पहुँच!

"सीरे जतननु सिसिर रितु सहि बिरहिनि तन तापु।
बसिबे कौं ग्रीसम दिननु पर्‌यौ परौसिनु पापु॥
आड़े दै आले बसन जाड़े हूँ की राति।
साहस ककै सनेह बस सखी सबै ढिग जाति॥
औंधाई सीसी, सुलखि बिरह बरति बिललाति।
बिच ही सूखि गुलाबु गौ छींटौ छुई न गात॥"

किन्तु उपर्युक्त प्रकार का वर्णन विहारी में सर्वत्र नहीं मिलता। वे साहित्यिक परम्पराओं की अवहेलना नहीं कर सकते थे, अतः उन्होंने ४-६ दोहे इस प्रकार के भी लिख डाले। केवल इन्हीं दोहों के आधार पर यदि आलोचक उन्हें ऊहावादी कहदें तो यह उसके साथ भारी अन्याय हो जाएगा। वस्तुतः विहारी ने यह सब कुछ होने पर भी एक भावुक हृदय पाया था। उन्होंने ऐसे अनेक दोहों की रचना की है जिनमें उनकी सहृदयता, मौलिक प्रसंगोद्‌भावना तथा मनोवृत्तियों के सूक्ष्म चित्रण की बानगी देखी जा सकती है। कहीं यह विरह-निवेदन स्वयं नायिका ने अपनी सखी से किया है तो कहीं पर दूती ने नायक से किया है। विहारी का पाती वाला प्रसंग भी इस दृष्टि से अविस्मरणीय है। विहारी ने इस पाती प्रसंग को दो प्रकार से अभिव्यक्त किया है। एक तो नायिका की ओर से जाने वाली पाती है और दूसरी नायक के द्वारा भेजी गई पाती है।

नायिका अपने प्रिय (नायक) को पत्र लिखना चाहती है। उसके मन में अनेक प्रकार के भाव और विचार द्वन्द्व उठते हैं। वह निश्चित नहीं कर पाती है कि पत्र किस बात से प्रारम्भ किया जाए ? निरन्तर विरह की ज्वाला में जलते रहने के कारण उससे कागज़ हाथ में नहीं लिया जाता—इस आशंका से कि कहीं वह पत्र भी न जल जाए ! फिर किसी न किसी प्रकार वह लिखना भी चाहती है तो उसकी अश्रुबोझिल पलकों के छलक पड़ने से पत्र का एक-एक अक्षर मिट जाता है। परिणाम यह होता है कि वह नायक के लिए विना अक्षरों की, मौन-भाषा में लिखी हुई पाती दूती के द्वारा भेज देती है। उसे विश्वास है कि नायक उसके प्रेम की गम्भीरता और तज्जनित दुःख से भली भाँति परिचित है अतः उसे ऐसे पत्र को पढ़ने में विशेष कठिनाई भी नहीं होगी :—

"कागद पर लिखत न बनत कहत संदेस लजात।
कहिहै सबु तेरौ हियौ मेरे हिय की बात॥
बिरह बिकल बिनुही लिखी पाती दई पठाइ।
आँक बिहीनीयौं सुचित सूनैं बाँचत जाइ॥
तर झुरसी ऊपर गरी कज्जल जल छिटकाइ।
पिय पाती बिनुहीं लिखी बाँची बिरह बलाइ॥"

उत्तर में नायक की ओर से पत्र आता है। पत्र में, पत्र भेजने वाला अपनी

आत्मा तथा हृदय को संजो देता है। नायिका पत्र को ही साक्षात् नायक समझ लेती है। कभी वह उसे प्रिय का प्रतिरूप समझ कर हाथों में लेकर चूमती है तो कभी हृदय से चिपकाकर जैसे उसका आलिंगन करती है। पहले तो उसे पढ़ने की ही नायिका को प्रसन्नतावश इच्छा नहीं होती; फिर जब उसे वह देखती है तब उसे कितनी सान्त्वना मिलती है, (भले ही उसमें प्रिय के शीघ्र न आने का दुःसंवाद लिखा हो) !

> "रंगराती रातैं हियैं प्रीतमु लिखी बनाइ।
> पाती काती बिरह की छाती रही लगाइ॥
> करि लैं चूमि चढ़ाइ सिर उर लगाइ भुज भेंटि।
> लहि पाती पिय की तिया बाँचति धरति समेटि॥"

प्रणयपत्रिका के प्रसंग के अतिरिक्त बिहारी ने और भी अनेक प्रकार से विरह व्यंजना की है। जब से नायक गया है तब से उसकी स्मृतियां नायिका के मन से पल भर के लिए भी दूर नहीं होतीं। कभी वह यमुना तट पर जाकर अपने अतीत की सुधियों में डूब जाती है, तो कभी वह उस मार्ग की ओर अपनी दृष्टियाँ जमाकर (तन्मार्गदत्तेक्षणा) देखती रहती है; जिस मार्ग से उसका प्रिय आने वाला है। दिन में उसे कुछ काम करने में रुचि नहीं होती। मट्ठा बिलोने के लिए उसने अपने पास दधिभाजन रख लिया है किन्तु इसी बीच में उसे प्रिय की स्मृतियां बरबस ही आकर उद्विग्न कर देती हैं। वह बिलोनी को दधिपात्र में न डालकर पानी के बर्तन में चलाने लगती है।

> "रही दहेंड़ी ढिग धरी भरी मथनियाँ बारि।
> फेरति करि उलटी रई नई बिलोवनि हारि॥"

उसकी यह अन्यमनस्कता केवल दिवस-जागरण तक ही सीमित नहीं रहती प्रत्युत रात्रि में भी वह स्वप्न देखते समय नायक से आलिङ्गन करना चाहती है। किन्तु स्वप्न स्वप्न ही है। यथार्थ की पथरीली धरती में उसके अंकुर नहीं जमते। नायिका के आलिङ्गनातुर हाथ सपना टूट जाने पर उठे के उठे रह जाते हैं :—

"सोवत सपने स्यामघन हित मिलि हरति वियोग।
तबहीं हरि कित हूँ गई नींदौ नींदनु जोग॥"

इसी प्रकार नायिकाभेद के प्रसंगों में भी विरह के अद्‌भुत् चित्रण मिल जाते हैं, जहाँ पर कवि को चमत्कार कम तथा सहजानुभूतिपरक प्रेम की व्यंजना अधिक अभिप्रेत हुई है। नायक के दूर चले जाने पर उसकी स्थिति जल-विहीन मीन जैसी हो गई है। जो वस्तुएँ उसे प्रिय की उपस्थिति में रंजन प्रदान करती थीं वही अब उससे जैसे गिन गिनकर बदला लेना चाहती है। 'चैत चाँद की चाँदनी' तथा 'उसीर की रावटी' विरहिणी के वियोग दुःख की मात्रा को न्यून करने की अपेक्षा बढ़ाती ही अधिक हैं। बदराह बदरा गरज गरज कर उसके प्राणों को लेने की कुचेष्टा करने लगते हैं :—

"कौन सुनैं कासौं कहौं सुरति बिसारी नाह।
बदाबदी जिय लेत हैं ए बदरा बदराह॥"

इसी बीच में कोई सखी आकर उसे यह संदेश दे जाती है कि उसका प्रियतम आने वाला है। नायिका के हर्ष की सीमा नहीं रहती। कभी वह अपना दुकूल पलटने लगती है तो कभी द्वार पर जा जाकर देखती है। नायक द्वार पर अपने बड़े बूढ़ों से कुशलक्षेम की बातें कर रहा है। उधर नायिका के लिए एक-एक पल विधि की घड़ी के समान हो गया है। अनिमिष प्रतीक्षा के पश्चात् नायक उसके समीप आता है। नायक तथा नायिका दोनों को एक दूसरे से असन्तोष है। वे परस्पर उलाहना देना चाहते हैं कि तुम मेरे न रहने पर भी जीवित कैसे रह पाए, किन्तु कुछ कहते ही नहीं बनता। उनका मिलन भी आंसुओं के पवित्र निष्यंद में भीग कर तरल हो उठता है :—

"बिछुरैं जिए संकोच यह बोलत बनैं न बैन।
दोऊ दौरि लगे हियैं किए निचौंहैं नैन॥"

इसी भाँति बिहारी ने संभावित विरह का वर्णन भी अपनी सफल लेखनी से किया है। नायिका को जब यह ज्ञात होता है कि कल सबेरे नायक जाने वाला है तो उसकी आँखें आँसुओं से भर आती हैं परन्तु वह अपनी व्यथा को छिपाने के लिए जमुहाई लेने का बहाना करने लगती है। वह नायक को किसी प्रकार

रोकना चाहती है। अन्त में उसे एक उपाय भी सूझ आता है। वह संगीत कला में अत्यन्त चतुर है अतः बादल राग गाने लगती है, जिससे बादल बरसने लगें और नायक कुछ देर और उसके समीप रह सके।

पूस मास सुनि सखिन सौं सांई चलत सवार।
गहि कर बीन प्रवीन तिय राग्यौ रागु मल्हार॥

बिहारी श्रृंगार रस के अयोग पक्ष के चित्रण करने में उतने ही सफल हुए हैं जितने कि संभोग श्रृंगार के उपस्थापन में। यद्यपि उन्हों ने शास्त्रीय पद्धति तथा बाहरी प्रभाव से आकर्षित होने के कारण परम्परानुगत विरह वर्णन किया है, तथापि बिहारी एक महाकवि थे। उन्होंने स्वयं ऐसे अनेक स्थलों की उद्भावना करली है जहाँ पर वे घनानन्द आदि कवियों की भाँति विरह के मर्मस्पर्शी तथा स्वाभाविक भावों को अभिव्यक्त कर गए हैं। प्रकृति चित्रण, उद्दीपन, नायिका-वर्णन, पाती-प्रसंग तथा ऊहादि के माध्यमों से उन्होंने विप्रलंभ श्रृंगार का बहुविधि स्वरूप उपस्थित किया है, जिसमें उन्हें मुक्तककारोचित सफलता भी मिली है। बिहारी में पूर्वराग, मान, प्रवास तथा करुण आदि के अतिरिक्त दसों कामदशाओं का वर्णन भी यत्र तत्र मिलता है। अतः बिहारी के लिए यह कहना असंगत न होगा कि उन्होंने विप्रलंभ-श्रृंगार-रस का अत्यन्त विशद वर्णन किया है।

'बिहारी सतसई' में प्रकृति-चित्रण

मानव जाति के इतिहास का अध्ययन करने पर हमें ज्ञात होता है कि जब पहली पहली बार शस्यश्यामला धरती की गोद में जन्म लेकर व्यक्ति की चेतना ने अपनी तरल तन्द्रिल पलकों का उन्मेष किया होगा तब उसके दृष्टिपथ पर प्रकृति के अनेक सुकुमार, भीषण एवं विराट् चित्र सहसा ही आकर उभर गए होंगे। जीवन की पहली पहली धड़कन के साथ वन्य निर्झरिणी के प्रतिपल निष्यन्दमान जलसीकरों का मोहक संगीत, सिन्धु की उत्ताल लहरों का भैरवनाद, मेघों की सतत पीयूषवर्षिणी वीणा की कोमल झंकार एवं विद्युत् का संगीतमय नृत्य सुनकर उसकी आत्मा अलौकिक आनन्द की स्रोतस्विनी में आकण्ठ निमज्जित हुई होगी। प्रभात की स्वर्णिम रश्मियों ने उपवन के तुषारमण्डित कर पल्लवों से उसे जगाया होगा और दिवस की प्रोज्ज्वल धूप ने उसे कर्मरत होने का पाठ पढ़ाया होगा। सान्ध्य गगन में झिल-मिलाते हुए, रजताभ नक्षत्र मण्डल एवं पर्वत मालाओं के अंचल से झाँकते हुए चन्द्रमा ने लोरियाँ सुना सुना कर उसके श्रम-शिथिल अंगों को तन्द्रिल विश्राम की छाया प्रदान की होगी। कभी भैरव जलप्लावन ने व्यालों सी फन फैलाती हुई सिन्धु उर्मियों ने गरज-गरज कर, शम्पाओं के शकलनिपात ने कड़क-कड़क कर, भीषण प्रभंजन से उत्कम्पित कान्तार की सघन तरुराजियों ने उसके सहज मृदुल मन में भय और आशङ्का की भावना भर दी होगी। तभी से उसने अपने जीवन को सुविधाएं देने के लिए प्रकृति की ओर मित्रता का हाथ बढ़ाया होगा। सृष्टि के प्राचीनतम साहित्य ऋग्वेद की अनेक ऋचाओं एवं सामवेद की मन्द्र गंभीर गीतिकाओं में मानव का प्रकृति के प्रति आदर एवं मित्रतापूर्ण आह्वान सुनाई पड़ता है। मानव स्वभावतः सौन्दर्य प्रिय प्राणी है; अतः उसकी सहज वृत्ति का नैसर्गिक सम्बन्ध प्रकृति के कोमल एवं उदात्त स्वरूपों से स्थापित हो गया। प्रत्येक देश की भाषा का साहित्य देखने से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि व्यक्ति ने अपनी सौन्दर्य

चेतना की रक्षा के लिए प्रकृति की शरण ली है। यदि अरब के मरुभूमि-निवासियों ने दूर-दूर तक व्यापृत मरुक्षेत्रों में यत्र तत्र लहराती हुई कुंजों की विरल छाँह में प्रवाहित जलधारा तथा ताड़ और खजूर के वृक्षों से ही अपनी सौन्दर्य-वृत्ति को उदात्त किया है तो विषुवत् रेखा के घने जंगलों में रहने वाले व्यक्तियों ने तरल तिमिर की नीलिमा को ही अपना आश्रय बना लिया। भारतवर्ष की भौगोलिक स्थिति भाग्यवश इतनी अनुकूल है कि यहाँ एक ओर यदि "कुमार सम्भव" का हिमवान् अपनी शुभ्ररजत हिमशृङ्खला से व्यक्ति को परितुष्ट करता है तो दूसरी ओर बाणभट्ट की "कादम्बरी" को विकट विन्ध्याटवीकहने वाले वेवर जैसे प्रसिद्ध जर्मनी समीक्षकों को आश्चर्य विजड़ित कर देती है। दक्षिण में बल-खाती हुई हिन्दमहासागर की उत्तुङ्गतरंगमाला निरन्तर भारतमाता के चरण प्रक्षालन के लिए सजग-सन्नद्ध बनी रहती है। ऋग्वेद-रामायण, महाभारत कालिदास दण्डी बाण एवं भवभूति में जो प्रकृति के चित्र उपलब्ध होते हैं, वही हिन्दी के सूर, तुलसी, विहारी और पन्त प्रसाद में तथा बंगला के रवीन्द्रनाथ एवं दक्षिण केसुब्रह्मण्यम् भारती की लेखनी से लिपिबद्ध हुए हैं। सारांश यह है कि प्रकृति का भारतीय और विशेषत: हिन्दी साहित्य में, 'विशेष-रोल' रहा है।

भारतवर्ष में एक वर्ष के अन्तर्गत ६ ऋतुएं आती हैं। प्राय: सभी भारतीय कवियों ने इन छहों ऋतुओं का वर्णन किया है। ऋतुओं के इसी ववेचन को समीक्षा की भाषा में हम षट् ऋतु वर्णन कह सकते हैं। यह परम्परा कालिदास के 'ऋतु संहार' से प्रारंभ होती है। आगे चलकर जयदेव-विद्यापति एवं जायसी आदि में इसका विकास होता है। ऋतु वर्णन की प्रणाली का सर्वाधिक विकास रीतिकाल की कविता में हुआ है। बसन्त, ग्रीष्म-प्रावृट्-शरद्-शिशिर तथा हेमन्त इन सभी ऋतुओं के जीवन्त चित्रों से मध्ययुग की हिन्दी कविता भरी पड़ी है। संक्षेप में हिन्दी कवियों ने प्रकृति-चित्रण की उन्हीं विधाओं को स्वीकार कर लिया जो संस्कृत-प्राकृत तथा अपभ्रंश में चली आरही थीं। ये विधाएं निम्न-प्रकार हैं:—

१—आलम्बन रूप में।

२—उद्दीपन रूप में।

३—पृष्ठभूमि रूप में।

४—उपदेशात्मक रूप में ।

५—आलङ्कारिक रूप में ।

६—रहस्यात्मक रूप में ।

७—दूत रूप में ।

८—मानवीकरण रूप में ।

६—उपालम्भादि रूप में ।

१० वस्तु परिगणनात्मक रूप में ।

इसके अतिरिक्त प्रकृतिचित्रण का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण दो रूपों में प्रस्तुत किया जा सकता है— १—साधर्म्यमूलक प्रकृति-चित्रण, तथा २—वैधर्म्य मूलक प्रकृति चित्रण ।

उपर्युक्त प्रकृतिचित्रण सम्बन्धी विधाओं का अपना पृथक् पृथक् स्थान है। प्राय: प्रत्येक कवि ने इन अधिकांश विधाओं में प्रकृति-चित्रण प्रस्तुत किया है। वेद उपनिषद् तथा महाकाव्य (रामायण–महाभारत) काल तक स्वतन्त्र-सत्ता के रूप में प्रकृति की अभिव्यक्ति हुई । कालिदास के युग में भी यही परम्परा मान्य थी :—

काशांशुका विकचपद्ममनोज्ञवक्त्रा
सोन्मादहंसरवनूपुर पादरम्या ।
ज्योत्स्नादुकूल धवलं रजनी दधाना
वृद्धि प्रयात्यनुदिनं प्रमदेव बाला ॥

आगे के कवियों ने उद्दीपक प्रकृति चित्रण की विधा को अपेक्षया अधिक प्रश्रय दिया है। संस्कृत—गीतिकाव्य की प्रकृति का प्रभूतांश उद्दीपन में है। हिन्दी साहित्य के आदिकाल में भी यही उद्दीपन की पृथा बनी रही । भक्तिकाल में जाकर तुलसी ने उपदेशात्मक तथा कबीर एवं जायसी ने आध्यात्मिक-रहस्यात्मक तत्त्वों का संनिवेश कविता में कर दिया । रीतिकाल में आकर प्रकृति-चित्रण के क्षेत्र में कोई विकास नहीं हुआ । इस दृष्टि से साहित्य कई सौ वर्ष पीछे की ओर लौट गया । केशवदास, भिखारीदास, बिहारी, मतिराम, चिन्तामणि देव, पद्माकर तथा घनानन्द आदि कवियों ने प्राय: एक ही प्रकार का परिपाटीबद्ध

प्रकृति-चित्रण किया है। आलंकारिक क्षेत्र में भी उन्हीं पिष्टपेषित उपमानों की पुनरावृत्ति हुई। किसी किसी कवि ने तो संस्कृत के श्लोकों का अनुवादमात्र ही कर दिया है। केशव ने जायसी की भाँति नाम परिगणन किया है तो सेनापति श्लेष के फेर में पड़ गए हैं। बिहारी ने भी इस क्षेत्र में परम्परा का निर्वाह अधिक किया है; वे मौलिकता कम ला सके हैं।

वसन्त—भारतवर्ष में होने वाली ६ ऋतुओं में वसन्त का स्थान सर्वोच्च स्वीकार किया गया है। प्रारंभ से ही कवियों ने 'वसन्त' को ऋतुराज की संज्ञा से अभिहित किया है। कदाचित् ही कोई ऐसा कवि होगा जिसने इस ऋतु पर दो एक पद भी न लिखा हो। दूर दूर तक फैली हुई सरसों के स्वर्णिम पुष्पों की पीतिमा, कोयल के मादक संगीत से झूमती हुई, वाटिकाएँ, सघन अमराइयों में गुनगुनाते हुए भवरों की क्रीड़ा, नदी की लहरों पर थिरकती हुई अस्तंगत सूर्य की अरुणिम रश्मियों का मन्दालोक, पवन झकोरों के साथ नर्त्तित कर्णिकार के बहुरंगी पुष्पों से युक्त कामदेव के सहायक वसन्त का सजीव वर्णन बिहारी ने अपनी सतसई में किया है। उपवन तथा विपिन की दिशा दिशा कुसुमित दिखाई पड़ रही है, लगता है मानों विरह विकला रमणियों को पीड़ा देने के लिए वसन्त ने शरपिञ्जर की रचना की हो। कहीं रसाल के सौरभ से छके हुए, माधवी की मधुर गन्ध से झूमते हुए अन्ध भ्रमरों की भीड़ दिखाई पड़ती है तो कहीं दूर दूर तक फैले हुए लाल पीले पलाश के पल्लव प्रज्वलित अंगार की भांति दीपित हो रहे हैं जिन्हें देखकर पथिकों का समूह अनिष्ट की आशङ्का से अपने अपने घर लौट कर जा रहा है। बिहारी ने वसन्त कालिक पवन का वर्णन करने में तो चरम सफलता का परिचय ही दे डाला है, यद्यपि उस पर यत्रतत्र पृथीराज राठौड़ आदि पूर्ववर्त्ती कवियों का प्रभाव भी पड़ा है। पवन का आलंबन रूप में जो वर्णन बिहारी ने प्रस्तुत किया है वह दर्शनीय है :—

> "चुवत स्वेद मकरन्द कन तरु तरु तर विरमाय
> आवत दक्खिन देस तैं थक्यौ बटोही बाय
> रनित भृंग घंटावली झरत दान मधुनीर
> मन्द मन्द आवत चल्यौ कुंजर कुंज समीर"

इसके साथ ही साथ बिहारी ने वसन्त ऋतु से सम्बन्धित होली तथा फाग का वर्णन करना भी नहीं भुलाया है। ब्रजभूमि में होली का पर्व प्रतिवर्ष वसन्त ऋतु में ही मनाया जाता है। सम्पूर्ण जनता में उल्लास की तरंग देखते ही बनती है। इस त्यौहार पर परस्पर देवर-भाभी द्वारा खेली जाने वाली होली का वर्णन बिहारी ने अत्यन्त स्वभाविक रूप से किया है :—

"रस भिजए दोऊ दुहुन, तउ टिकि रहे, टरै न।
छबि सौं छिरकत प्रेम रँग भरि पिचकारी-नैन॥"

बिहारी ने वसन्त वर्णन के प्रसंग में उद्दीपन-मूलक चित्र भी उपस्थित किए हैं। विरह की भावना को और अधिक तीव्रता देने के लिए कवि ने कोयल की कुहू तथा आम्रमंजरियों का कैसा रमणीक वर्णन किया है—

"बन बाटनि पिक बट परा तकि बिरहिनु मत मैन।
कुहौ कुहौ कहि कहि उठत करि करि राते नैन॥
हिएँ और सी ह्वै गई डरी अवधि के नाम।
दूजे करि डारी खरी बौरी बौरे आम॥"

ग्रीष्म :—वैशाख और ज्येष्ठ मास के प्रचण्ड सूर्य की उद्दीप्त किरणों से जलती हुई धरती, उत्तप्त पवन से कम्पित छायार्थिनी तरुओं की छाँह, सर्प-मयूर, मृग-बाघ आदि परस्पर शत्रु-जीवों के एकत्र विश्राम के कारण तपोवन जैसे प्रतीत होने वाले जगत् का वर्णन भी बिहारी की लेखनी से सशक्त शब्दों में हुआ है। मरुभूमि के निवासी किस प्रकार जल के अभाव में तरबूजों के रस से अपनी तृष्णा शान्त करते हैं, इसका चित्रण 'बिहारी सतसई' में ही देखते बनता है :—

"बैठि रही अति सघन बन पैठि सदन तन माँह।
देखि दुपहरी जेठ की छाँहौं चाहति छाँह॥
कहलाने एकत बसत अहि मयूर मृग बाघ।
जगतु तपोवनु सौ कियौ दीरघ दाघ निदाघ॥"

ऊपर के दोहों से साम्य रखने वाली सेनापति की ये पंक्तियाँ देना यहाँ असंगत नहीं होगा :—

"वृष कौ तरनि तेज सहसौ किरनि करि
ज्वालन के जाल विकराल बरसतु है।
तचत धरनि जग जरति झरनि सीरी
छाँह कौं पकरि पंथी पंछी बिरमतु है॥
'सेनापति' नेंक दुपहरी के ढरत होत
घाम को विषम यों न पात खरकतु है।
मेरे जान पौनौ सीरी ठौर कौ पकरि कौनौ
घरी एक बैठि कहूँ घामें बितवतु है॥"

पावस :—वसन्त के पश्चात् यदि दूसरी किसी ऋतु पर कवियों की निर्बाध लेखनी चली है तो वह वर्षा ऋतु है। जेठ मास की दोपहरी से तची हुई धरती के प्यासे अधरों की तृषा बुझाने के लिए, उपवन की कलियों के शुष्क अधरों का स्नेहिल चुम्बन करने के लिए सुनील आकाश मार्ग से बरसती हुई सावन भादों की घटाएं विहारी ने अपनी चित्रमयी शैली में प्रस्तुत की हैं। 'बिहारी सतसई' का वर्षा चित्र रीतिकाल की परम्पराभुक्त प्रणाली में उद्दीपन रूप में कवि ने किया है। घिरते हुए मेघ समूहों में अंगार की कल्पना करना, अविरत बरसने वाली बूंदों को कामार्त्त नायक नायिकाओं के लिए कष्टदायक वाण-वर्षा समझना बिहारी से पूर्व भी हिन्दी कविता में एकाधिक शताब्दी से चला आ रहा था।

"कौन सुनै ? कासौं कहौं ? सुरति बिसारी नाह।
बदाबदी जिय लेत हैं ए बदरा बदराह॥
धुरवा होहिं न अलि उठै धुँआ धरनि चहुँकोद।
जारत आवत जगत कौं पावस प्रथम पयोद॥

इसी वर्षा वर्णन के अन्तर्गत कवि ने उपवन में हिंडोलों पर झूलती हुई ग्रामबधूटियों का जो चित्रण किया है वह ब्रज की संस्कृति का अपूर्व परिचायक है। नायक-नायिकाओं के मन में जो उत्साह है वह बिहारी ने झूले के प्रसंग में स्पष्ट दिखा दिया है।

शरद् :—बिहारी शरत्काल के मेघहीन आकाश में चतुर्दिक् बिखरी हुई ज्योत्स्ना का स्वतन्त्र रूप से जो चित्रण किया है उसके साथ ही साथ उद्दीपन

रूप में भी उन्होंने शरद् को प्रस्तुत किया है। कहीं शरद् ऋतु सरोरुह रूपी कर चरणों बाली, खंजन रूपी दृगों वाली, मुख रूपी चन्द्रमा वाली नायिका के समान सभी के हृदय को आह्लाद देती है :—

"अरुन सरोरुह कर चरन दृग खंजन मुख चंद।
समै आव सुन्दरि सरद काहि न करति अनंद।।"

यह शरद् ऋतु जब किसी विरहिणी के द्वार को अपने चंद्रमा की शीतल किरणों से प्रकाशित करती है तो उसके मन को कष्ट देने लगती हैं।

"हौंही बौरी बिरह बस कै बौरो सबु गामु।
कहा जानि ए कहत हैं ससिहिं सीतकर नामु।।"

हेमन्त :—हेमन्त का वर्णन भी विहारी ने कुछ दोहों में अत्यन्त सरस ढँग से किया है। यदि कहीं प्रकृति और मानव अनुभूतियों का सारस्य कवि ने स्थापित करने की चेष्टा की है तो कहीं व्यक्तियों के मन में काम की भावना को उद्रिक्त करने के लिए हेमन्त का साधन रूप में प्रयोग किया गया है।

"कियौ सबै जगु काम बस जीते जिते अजेय।
कुसुमसराहि सरधनुष कर अगहन गहन न देय।।"

इसी प्रकार शिशिर वर्णन से सम्बन्धित कुछ दोहे भी विहारी में उपलब्ध होते हैं, यथा :—

लगति सुभग सीतल किरनि नसि दिन सुख अवगाहि।
माह ससी भ्रम सुरज ज्यौं रहति चकोरी चाहि।।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है विहारी ने षटऋतु वर्णन के माध्यम से प्रकृति की व्यापक पृष्ठभूमि को अपनी कविता में प्रस्तुत किया है। मुख्यतः उसकी वृत्ति प्रकृति के कोमल तथा उदात्त रूपों को अभिव्यक्ति देने में रमी है। कहीं आलम्बन, कहीं उद्दीपन तो कही पृष्ठभूमिनिदर्शन के रूप में कवि ने उपर्युक्त ऋतुओं को किया है। संयोग में साधर्म्य तथा वियोग में वैधर्म्य मूलक प्रकृति का चित्रण करने में विहारी प्रथम कोटि के कवि हैं।

उपदेशात्मक प्रकृति चित्रण—

हिन्दी में उपदेश रूप में प्रकृति का प्रयोग सर्वप्रथम सबसे अधिक महाकवि तुलसीदास ने किया था। बिहारी ने अन्योक्तियों के माध्यम से प्रकृति का जो उपदेशात्मक चित्रण किया है उससे उनके सूक्ष्मद्रष्टा होने का परिचय मिलता है। सामान्य मानव मनोविज्ञान का विश्लेषण कवि ने प्राकृतिक उपकरणों के द्वारा कितने सुन्दर रूप में उपस्थित किया है :—

कोटि जतन कोऊ करौ परै न प्रकृतिहिं बीच।
नल बल जल ऊचौ चढ़ै अन्त नीच कौ नीच ॥

अथवा,

"बड़त बढ़त सम्पति सलिल मन सरोज बढ़ि जाइ।
घटत घटत सुन पुनि घटै बरु समूल कुम्हिलाइ॥"

अलंकार रूप में प्रकृति चित्रण:—

बिहारी यद्यपि रससिद्ध कवि हैं तथापि उनका कलाविधान रीतिकालीन कविता में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। अलंकारों के प्रति उनके मन में सहज स्वाभाविक मोह है। बिहारी ने अलंकारों का प्रयोग करते समय प्राय: प्रकृति से ही उपमान ग्रहण किए हैं। उपमा-रूपक-उत्प्रेक्षा आदि अनेक अलंकारों के अप्रस्तुत धर्म प्रकृति से ही गृहीत हैं। नायिका के रूपवर्णन, नखशिख चित्रण आदि प्रसंगों में भी कवि प्रकृति को अपने साथ साथ लेकर चला है। प्रतीक योजना में भी बिहारी प्रकृति का आश्रय लेते हैं। उन्होंने प्राय: कमल, चन्द्रमा, मेघ, मौलश्री, वकुलश्री, पाटल, लतिका, सपल्लवडाल, यूथिका, सोनजुही, इन्द्रधधुष, प्रभातकली सूर्य की किरणों से आलोकित पर्वतशिखर तथा सिन्धु-सरिता आदि अनेक प्राकृतिक उपमानों को अपनी कविता का विषय बनाया है। कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं।—

१—छिप्यौ छबीलौ मुखु लसै नीले अञ्जल चीर।
मनौ **कलानिधि** झलमलै **कालिन्दी के नीर**॥

२—जरी कोर गोरे बदन बढ़ी खरी छवि देख।
लसति मनौ **बिजुरी** किए **सारद ससि परिवेस**॥

३—ललित स्याम लीला ललनु चढ़ी चिवुक छवि दून।
मधुछाक्यौ मधुकर पर्‌यौ मनौ **गुलाब प्रसून**॥
४—अरुन **सरोरुह** कर चरन दृग **खंजन** मुख **चंद**।
समै आइ सुन्दरि **सरद** काहि न करहि अनंद॥
५—भाल लाल बैंदी ललन आखत रहे विराजि।
इन्दुकला कुँज में बसी मनौ **राहुभय** भाजि॥
६—इहि आसा अटक्यौ रहै **अलि गुलाब के मूल**।
ऐहै बहुरि **बसन्तरितु** इनु **डारनु** वै **फूल**॥
७—सोहत ओढ़ें पीत पटु स्याम सलौनें गात।
मनौ **नीलमणि सैल** पर आतप पर्‌यौ **प्रभात**॥ आदि

आलम्बन रूप में प्रकृति चित्रण :—

उपर्युक्त विवेचन में सूक्ष्म रूप से यदि देखा जाए तो यह स्पष्ट हो जाता है कि बिहारी ने प्रायः परम्परागत रूप में ही प्रकृति का चित्रण किया है। एकाध स्थलों पर कवि ने मुद्रालंकार के अन्तरगत आने वाले वस्तुपरिगण नायक ढग को भी अपनाया है। किन्तु बिहारी ने प्रकृति का स्वतन्त्र रूप में भी यत्र तत्र वर्णन किया है। इन स्थलों में बिहारी शैली प्रसाद एवं माधुर्य गुण संवलित तो हो ही गई हैं; साथ ही साथ उनके शब्दों में चित्राङ्कन सामर्थ्य भी आ गया है। यदा-कदा ऐसे रमणीक प्राकृतिक वर्णनों में नादसौन्दर्य की व्यंजना स्वभावतः ही विस्फूर्जित होने लगती है। कवि ने आलम्बन रूप में 'पवन' का वर्णन प्रमुखतया किया है। इस प्रकार के वर्णन पर कहीं-कहीं पृथ्वीराज राठौड़ आदि पूववर्त्ती कवियों की स्पष्ट छाया पड़ी है। आलम्बन प्रधान प्रकृति के उदाहरण स्वरूप नीचे के दोहे उल्लेखनोय हैं :—

"छकि रसाल सौरभ सने मधुर माधवी गन्ध।
ठौर ठौर झूमत झिपत भौंर झौंर मधु अन्ध॥
चुवत स्वेद मकरन्द कन तरु तरु तर बिरमाइ।
आवत दक्खिन देस तैं थक्यौ बटोही वाइ॥

रनित भृङ्ग घंटावली झरत दान मधुनीर।
मंद मंद आवतु चल्यौ कुंजर कुंज समीर ॥"

बिहारी ने प्रकृति वर्णन करते समय दूतरूप में अथवा रहस्यात्मक रूप में प्रकृति को चित्रित नहीं किया है, इसका कारण स्पष्ट है। प्रकृति का चित्रण कवि ने या तो संयोग शृंगार के लिए अभीष्ट माना है, या फिर वियोग में उद्दीपन करने के लिए। संदेशवहन करने के लिए बिहारी के नायक तथा नायिकाओं पर चतुर दूतियाँ हैं अतः कालिदास या घनानन्द की भाँति मेघों को अथवा पवन को कवि दूत रूप में प्रस्तुत नहीं करना चाहता। "बिहारी सतसई" मूलतः शृंगार प्रधान काव्य है, अतः यहाँ रहस्यात्मक व्यंजना के लिए कवि कबीर अथवा प्रसाद की भाँति प्रकृति में किसी अज्ञात सत्ता का आरोप नहीं करता।

यों तो जलक्रीड़ा, मल्हार, फाग तथा हिंडोला आदि वर्णनों को भी प्रकृति चित्रण के अन्तर्गत लिया जा सकता है किन्तु हम इन प्रसंगों का विवेचन संयोग शृंगार-विश्लेषण के अन्तर्गत यथास्थान करेंगे। इसी प्रकार अन्तः प्रकृति का चित्रण भी यहाँ बताना प्रासंगिक न होगा। संक्षेप में हम यही कह सकते हैं कि महाकवि बिहारी के काव्य में प्रकृति-चित्रण को स्पृहणीय स्थान मिला है। उनकी 'सतसई' में सम्पूर्ण ऋतुओं का वर्णन परम्परित रूप में षट्ऋतु वर्णन अथवा बारहमासा के वर्णन के अनुसार ही किया गया है। स्थान-स्थान पर कवि ने प्रकृति का स्वतन्त्र रूप में तथा पृष्ठभूमि के रूप में भी प्रकृति को माध्यम बनाया है। शृंगाररस की प्रकृति के अनुकूल ही उन्होने प्रकृति के सुकुमार पक्ष को ही अपना विषय बनाया है, परिणाम स्वरूप वर्षा एवं वसन्त आदि के चित्रण में उन्हें पर्याप्त कुशलता मिली है। संध्या, रजनी, प्रभात, नदी, वन-उपवन तथा कोमल समीरण आदि अनेक प्राकृतिक उपादानों का प्रयोग उन्होंने अपने प्रकृति-चित्रण में किया है। बिहारी के प्रकृति-चित्रण की प्रमुख विशेषता है सजीवता एवं चित्रोपमता। चाहे जिस समय अथवा जिस ऋतु का बिहारी वर्णन करते हों—उसका गत्यात्मक चित्र पाठकों के सम्मुख रखने में उन्हें पूर्ण सफलता मिली है।

"बिहारी-सतसई" में वाङ्मय के विविध रूप

'सतसई' का व्यापक अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इस शृंगारपरक ग्रन्थ में कविवर बिहारी ने वाङ्मय के विविध अंगों का यथास्थान निर्देश किया है। सफल कवि होने के लिए यह पहली शर्त है कि उसकी अन्तर्दृष्टि अत्यन्त व्यापक होनी चाहिए। जीवन और जगत् के अनेक अन्तर्बाह्य सत्यों से कवि जब तक परिचित नहीं होता तब तक उसकी रचना में प्रौढ़ता नहीं आ पाती। आचार्य मम्मट ने अपने 'काव्य प्रकाश' में इसकी ओर स्पष्ट संकेत कर दिया है।

"शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्याशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥

न केवल बिहारी की ही अपितु संस्कृत-प्राकृत तथा अन्याय देशी विदेशी भाषाओं के महाकवियों की ओर देखने से भी यह पता चलता है कि उनका जीवन के विषय में अनेक मुखी परिचय था। कबीर जैसे अपढ़ कवि ने भी बहुश्रुत होने के कारण अपनी कविता में सूफी दर्शन तथा अद्वैत वेदान्त के सत्यों का सम्यक् उद्घाटन किया है। सूर जैसे सहृदय कवि ने भी 'साहित्य लहरी' के अनेक पदों में अपने ज्ञान की व्यापकता का परिचय दिया है, फिर रीतिकाल के आचार्य कवियों और मुख्यत: बिहारी में तो वाङ्मय का वैविध्य मिलना अत्यन्त स्वाभाविक है।

कविवर बिहारी न केवल ब्रजभाषा ही अपितु संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा फ़ारसी आदि अनेक भाषाओं के पण्डित थे। साहित्य शास्त्र के वे मर्मज्ञ थे। उन्होंने अपने पूर्ववर्त्ती कवियों की रचनाओं का विधिवत् अध्ययन-पारायण किया था। 'बिहारी सतसई' में ऐसे अनेक दोहे खोज निकाले जा सकते हैं जिन पर 'गीत गोविन्द', 'आर्यासप्तशती', 'गाथा सप्तशती', 'अमरुकशतक', 'विकटनितम्बा', 'कालिदास-साहित्य' आदि का विशद प्रभाव पड़ा है। यही नहीं हिन्दी के पूर्व-

वर्त्ती कवियों, जिनमें विद्यापति सूर, तुलसी तथा केशव आदि मुख्य हैं, के भावों को भी उन्होंने ग्रहण किया है, जैसा कि हम आगे स्पष्ट करेंगे। इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि बिहारी में मौलिकता का अभाव था। वस्तुत: उन्होंने जहाँ से भी जो भाव ग्रहण किए हैं उनमें अपनी काव्य प्रतिभा का अनूठा चमत्कार विधायन करके उन भावों को सर्वथा नवीन एवं मौलिक रूप में प्रतिपादित किया है। ऐसा करने के लिए भी बड़ी प्रतिभा एवं कुशलता की अपेक्षा होती है।

यही नहीं बिहारी ने काव्य एवं साहित्यशास्त्र का भी गम्भीर अध्ययन किया था। संस्कृत एवं प्राकृत के आचार्यों द्वारा प्रणीत रस, अलङ्कार, ध्वनि, विभावानुभाव संचारी भावों को भी उन्होंने अपनी कविता में प्रतिच्छायित किया है। बिहारी आचार्य-कवि नहीं थे। उन्होंने लक्षण ग्रन्थ नहीं लिखे, फिर भी 'बिहारी सतसई' को लक्षण ग्रन्थों को ध्यान में रखकर ही उन्होंने लिखा था। धीरललित, शठ, वाम आदि अनेक नायकों तथा स्वकीया, परकीया, प्रोषितपतिका, प्रवत्स्यत्पतिका, अनुशयाना, मानिनी एवं खण्डिता आदि नायिकाओं की भी उन्होंने साहित्यिक सृष्टि की है। इस सबसे यह सिद्ध हो जाता है कि बिहारी का साहित्यिक ज्ञान अत्यन्त व्यापक था। उनके वाङ्मय की सीमाएं अनेकदिशोन्मुखी हैं।

इतना ही नहीं कि बिहारी साहित्यशास्त्र में पारंगत थे; प्रत्युत उन्होंने दर्शन, राजनीति, ज्योतिष, विज्ञान, नीतिशास्त्र, मनोविज्ञान अर्थशास्त्र आदि अनेक व्यवहारोपयोगी विषयों के परिचय का संकेत भी यथास्थान दिया है। बिहारी की अन्तर्दृष्टि बड़ी सूक्ष्म तथा तीव्र थी। दैनंदिन जीवन के सूक्ष्मातिसूक्ष्म सत्यों एवं असंगतियों को उनकी पारदर्शिनी प्रतिभा का संस्पर्श मिला था। बिहारी मानव-प्रकृति से पूर्णत: परिचित थे। राजदरबार में रहने के कारण उन्हें जीवन की अनेक उच्चावच परिस्थितियों का सम्यक् ज्ञान था। इसी लिए यदि हम 'बिहारी सतसई' को साहित्यग्रन्थ के साथ-साथ दैनिक जीवन का सन्दर्भग्रन्थ भी कहें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

इधर हिन्दी के आलोचकों में एक विशेष प्रकार की प्रवृत्ति दिनों दिन बढ़ती जा रही है। जिस किसी भी कवि अथवा लेखक की कृति में जीवन के अनेकविध

सत्यों की ओर संकेत मिला उसी को वे शंकराचार्य, शुक्राचार्य, कौटिल्य, फ्रायड अरविन्द तथा मार्क्स का अवतार समझने लगते हैं। बिहारी की समीक्षा भी इसी आधार पर की गई है। वस्तुतः कोई भी बौद्धिक प्राणी समाज की ओर से आँख मींच कर नहीं चलता। वह अपने दैनिक जीवन की अनेक उपयोगी बातों से परिचित हो जाता है, इसका यह मन्तव्य तो नहीं कि वह डाल्टन, आइन्स्टाइन राजनैतिक विचारों के कारण नेहरू-नासिर अथवा ख्रुश्चोव की श्रेणी में आ जाता है। साहित्यकार के लिए तो यह और भी आवश्यक है कि वह अपनी रचनाओं के माध्यम से जीवन के कटुसत्य का आख्याता बने और साथ ही साथ उदात्त मानवता की स्थापना के लिए दार्शनिक एवं उत्कृष्ट स्वप्नद्रष्टा बने। ऐसा करने पर ही अमुक साहित्यकार की रचना लोकमंगल के श्रेय से आवेष्टित हो सकती है। सारांश यह है कि बिहारी का जीवन एवं जगत् के प्रति व्यापक दृष्टिकोण था। वे अनेक विषयों के निष्णात एवं विचक्षण पण्डित तो नहीं थे तथापि उन्हें अनेक विषयों का यथेष्ट परिचय था। बिहारी बहुश्रुत थे। इसी का परिचय हमें अब 'बिहारी सतसई' के कतिपय दोहों के आधार पर प्रस्तुत करना है :—

'बिहारी सतसई' में गणित शास्त्र :—

सम्पूर्ण सतसई में कुल मिलाकर ऐसे दो दोहे आते हैं जिनके आधार पर बिहारी के अंग प्रशंसकों ने उन्हें अपने समय का श्रेष्ठ गणितज्ञ कहा है। वे दोहे निम्नलिखित हैं—

"कहत सबै बैंदी दिएँ आँकु दसगुनौ होतु।
तिय लिलार बैंदी दिएँ अगनितु बढ़तु उदोतु।।
कुटिल अलक छुटि परत मुख बढ़िगौ इतौ उदोतु।
बंक बिकारी देत ज्यौं दामु रुपैया होतु।।"

पहले दोहे में गणित शास्त्र का यह सर्वविदित नियम बताया यगा है कि किसी अङ्क के आगे यदि शून्य रख दिया जाए तो उस अङ्क का मान दसगुना बढ़ जाता है। यह एक ऐसी बात है जिसे प्राइमरी स्कूलों के बच्चे तक जानते हैं। फिर इसमें बिहारी की कौनसी गणितज्ञता है? बेचारे बिहारी ने तो, इसी आशंका

से कि कहीं उन्हें आगे के समालोचक गणितज्ञ न समझ बैठें, यह स्पष्ट कर दिया है कि यह सिद्धान्त उनका मौलिक नहीं है अपितु "कहत सबै" के आधार पर सार्वजनीन है। इसी प्रकार दूसरे दोहे का भाव यह है कि किसी अंक के आगे यदि टेढ़ी बिकाई लगादी जाती है तो उसका अर्थ रुपये का संकेत करने लगता है। यह नियम भी सर्वविदित है। गंवई गाँव का मामूली सा बनियाँ भी इससे अपरिचित नहीं होता। वास्तविकता तो यह है कि बिहारी यहाँ पर नायिका की मुखच्छवि का आतिशय्य बताना चाहते हैं, न कि नायिका के नख-शिख वर्णन प्रसंग के माध्यम से गणित की पहेलियाँ सुलझाना चाहते हैं!

बिहारी सतसई में दार्शनिकता एवं भक्ति: —

भारतवर्ष निसर्गत: दार्शनिकों का देश रहा है। अपनी इसी दार्शनिकता के कारण भारतीय संस्कृति आज तक हिमालय की भाँति अडिग रही है। यों तो जीव-जगत् और ब्रह्म को लेकर अनेक मनीषियों ने पृथक्-पृथक् रूप से अपने मतवादों का प्रतिपादन किया है किन्तु उन सबकी चरम परिणति अद्वैतवाद में ही होती है। स्थूल भेदों में सूक्ष्म-अभेद की अवधारणा हमारे देश की परम दार्शनिक उपलब्धि रही है। वस्तुतः आत्मा और परमात्मा के अस्तित्व में कोई विभाजनरेखा नहीं खींची जा सकती। माया के आवरण से ही दोनों को विभेद प्रतीत होता है किन्तु मूलतः वे एक ही हैं। प्रत्येक जड़चेतन पदार्थ में ब्रह्म की चिति शक्ति ही परिचालित करती रहती है, और वह ब्रह्म उसी प्रकार निखिल सृष्टि की रचना करने पर भी अतीन्द्रिय बना रहता है, जिस प्रकार सम्पूर्ण संसार को देखने वाले नेत्र स्वयं को कदापि नहीं देख पाते। बिहारी ने इसी दार्शनिक सत्य को निम्नलिखित दोहों में व्यक्त किया है:—

"हों समुझ्यौ निरधार यह जगु काचौ काँचु सौ।
एकै रूपु अपार प्रतिबिम्बित लखियतु जहाँ॥
जगत जनायौ जिहिं सकलु सो हरि जान्यौ नाहिं।
ज्यौं आँखिनि सबु देखियै आँखि न देखी जाहिं॥"

उपर्युक्त प्रकार की दार्शनिकता बिहारी के और भी अनेक दोहों में मिलती हैं, परन्तु बिहारी दार्शनिक की अपेक्षा भक्त अधिक हैं। ज्ञान के स्थान पर

उन्होंने भक्ति को ही सदा प्रधानता दी है। बिहारी पर राधावल्लभ सम्प्रदाय का प्रभाव पड़ा है। यही कारण है कि उन्होंने आत्मा एवं परमात्मा के बुद्धिगम्य मार्ग की अपेक्षा भक्ति के सरल तथा सहज पंथ को ही स्वीकार किया है। कबीर-सूर तथा तुलसी की भाँति उन्होंने भी नामस्मरण पर पर्याप्त बल दिया है। बिहारी भक्ति के लिए बाह्य आडम्बरों का निषेध करते हैं। उन्होंने आत्म-शुद्धि पर ही जोर दिया है—

"जप माला छापैं तिलक सरै न एकौ कामु।
मन काँचै नाँचै वृथा साँचै राँचै रामु॥
तौ लगि या मन सदन में हरि आवैं किहिं बाट।
बिकट निपट जौं लगि जुरे खुलैं न कपट कपाट॥"

बिहारी की भक्ति भावना इतनी अधिक प्रबल है कि उन्होंने तीर्थ स्थानों की यात्रा तथा मोक्ष तक का निषेध कर दिया है। उन्होंने भी कबीर आदि भक्तिकालीन कवियों की भाँति सत्संगति को भक्ति का सोपान स्वीकार किया है।

"बिहारी सतसई" में ज्योतिषशास्त्र :—

जिस प्रकार स्वाभाविक रूप से अंकगणित एवं दर्शनशास्त्र के सिद्धान्त 'बिहारी सतसई' में आए हैं उसी प्रकार कवि ने अपने अनेक दोहों में ज्योतिष सम्बन्धी परिचय को संकेतित किया है। यद्यपि बिहारी ने ज्योतिष शास्त्र के जिन नियमों को अपनी कविता से सम्बद्ध किया है वे सर्वसाधारण की योग्यता से बाहर के तथापि हय यह स्वीकार नहीं कर सकते कि बिहारी अच्छे ज्योतिषी थे। सम्भव है राजदरबार में रहने के कारण उनका परिचय कुछ ज्योतिषियों से रहा हो जिनसे जाने गए सिद्धान्तों को उन्होंने आगे चलकर दोहाबद्ध कर दिया हो। बिहारी ने कहीं पर नायिका के मुख को पूर्णिमा के चन्द्रमा से उपमा देकर नित्यप्रति 'पूनौं के उदोत' का वर्णन किया है तो कहीं पर उस तिथि का वर्णन भी किया है जो पंचाङ्ग में तो लिखी रहती है परन्तु वस्तुत: उसका कोई स्थान नहीं होता। कहीं पर 'पितुमारक जोग' का वर्णन किया है तो कहीं तज्जनित शोक के परिहार के लिए 'जारज जोग' की उद्‌भावना करली गई है।

कहीं-कहीं पर शकुन विचार एवं दिशाशूल का वर्णन भी विहारी अपने दोहों में कर बैठे हैं। किन्तु इन दोहों के अतिरिक्त कुछ दोहे ऐसे हैं जो कि सामान्य ज्ञान की सीमा से आगे के हैं। साधारण पाठक उनकी पेचीदा ग्रन्थियों को हल नहीं कर सकता, यथा :—

"मंगल बिन्दु सुरंगु मुख ससि केसर आड़ गुरु।
इक नारी लहि संगु रसमय किय लोचनजगत।"

उपर्युक्त दोहे का अभिप्राय है कि जब चन्द्रमा-मंगल तथा गुरु एक नाड़ी (वर्षा) पर आकर अवस्थित हो जाएँ तो इतनी अधिक वर्षा होती है कि आसमुद्रांत पृथिवी जलापूरित हो उठे। नरपतिजयचर्या नामक ग्रन्थ में इसी बात को निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया गया है :—

"एक नाडी समारूढौ चन्द्रमाधरणीसुतौ।
यदि तत्र भवेज्जीवस्तदैकार्णविता मही॥"

इसी प्रकार एक दोहे में राजा के वंश में उत्पन्न होने वाले व्यक्ति के लिए कहा गया है कि यदि तुला, धन तथा मीन का शनिश्चर लग्नावस्था में जाकर पड़ता है तो इस प्रकार की कुण्डली वाला व्यक्ति नृपति होता है :—

"सनि कज्जल चख झख लगन उपज्यौ सुदिन सनेहु।
क्यौं न नृपति ह्वै भोगिवै लहि सुदेसु सब देहु॥"

जातक संग्रह के रागयोग प्रकरण में इसी बात को इस ढंग से कहा गया है :—

"तुलाकोदण्डमीनस्थो लग्नस्थोऽपि शनैश्चरः।
करोति नृपतेर्जन्मवंशे च नृपतिर्भवेत्॥"

एक दूसरे दोहे में बिहारी ने संक्रमण का वर्णन किया है :—

तिय तिथि तरुन किसोर वय पुन्यकाल सम दोन।
काहूँ पुन्यनु पाइयतु वैस सन्धि संक्रोनु॥

एक बात यहाँ पर विचारणीय है कि इन दोहों में बिहारी ने काव्यगत सहजता की अपेक्षा अपना पाण्डित्य प्रदर्शन ही अधिक किया है। फल यह हुआ

कि कविता के उच्चतम शिखर से च्युत होकर विहारी की प्रतिभा ज्योतिष विज्ञान के सघनकान्तार में भटक कर मार्गविस्मृत हो गई।

'विहारी की सतसई' में वैद्यकशास्त्र :—

विहारी सतसई में वैद्यक सम्वन्धी कुछ दोहे भी प्रसंगवश आगए हैं जिनके आधारस्वरूप कुछ लोग विहारी को वैद्यविशारद भी कहने से नहीं चूकते हैं।

"मैं लखि नारी ज्ञानु करि राख्यौ निरधारु यह।
वह ई रोगु निदानु वहे वैद औषधि वहे॥
यह विनसतु नगु राखिकैं जगत बड़ौ जसु लेहु।
जरी विसम जुर ज्याइये आइ सुदरसन देहु॥"

इन दोहों को ही प्रमाण मानकर संभवत: कुछ लोग बिहारी को लोलिम्ब-राज मान लें परन्तु ऐसा करना उनके साथ भारी अन्याय होगा। जिस प्रकार ऊपर यह कहा जा चुका है कि प्रत्येक भारतीय दार्शनिक होता है उसी प्रकार यह भी असंदिग्ध सत्य है कि प्रत्येक भारतीय वैद्य भी होता है। दिन प्रतिदिन के रोगों का निदान करना साधारण से ग्रामीण और अपढ़ व्यक्ति भी जानते हैं। विषमज्वर के उपचार के लिए सुदर्शन चूर्ण देना चाहिए—यह बात कौन नहीं जानता? शार्ङ्गधर संहिता में भी इस बात को स्पष्ट कर दिया गया है :—

"ज्वराणां वै तु सर्वेषामिदं चूर्ण प्रणाशनम्"

लोलिम्बराज प्रसिद्ध वैद्य हुए हैं। उनके वैद्यक ग्रन्थ में यत्र तत्र ऐसा काव्य सौकुमार्य आ गया है जिसके सम्मुख अनेक कवियों की कृतियाँ निष्प्रभ हो जाती हैं। फिर भी उन्हें वैद्यराज ही कहा गया, कवि नहीं। यदि इस आधार पर लोलिम्बराज को कवि मानलें तो बिहारी को भी वैद्य के रूप में स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होगी। इसी प्रसंग में यह बात धारणीय है कि बिहारी ने प्राय: उन्हीं नुस्खों का वर्णन किया है जो हर प्रौढ़ आदमी जानता है।

विहारी सतसई' में पौराणिकता—

बिहारी का अध्ययन अत्यन्त व्यापक तथा गम्भीर था; अत: आश्चर्य नहीं कि उन्होंने पौराणिक ग्रन्थों का भी मनन किया हो। बिहारी ने अपने दोहों में

अनेक पौराणिक उपाख्यानों का उपमान रूप में संकेत किया है। रामायण एवं महाभारत काल के उपमानों का उन्होंने वर्णन किया है। सीता और राम का चरित, द्रौपदी का दुःशासन द्वारा चीर हरण, दुर्योधन का जलस्तम्भन सामर्थ्य, समान हर्ष विषाद की स्थिति में उसका प्राणान्त आदि ऐसी ही पौराणिक घटनाएं हैं। अघासुर का वर्णन, कृष्ण द्वारा गोवर्धन धारण तथा वामनावतार के रूप में बलि का परीक्षण आदि भी सर्वविज्ञात घटनाएं हैं। इस प्रसंग में निम्नलिखित दोहे उल्लेख्य हैं :—

यों दल काढ़े बलख तैं तूं जयसाहि भुआल।
उदर अघासुर के परे ज्यौं हरि गाइ गुआल॥
बिरह बिथा जलपरस बिन बसियत मोहिय लाल।
कछु जानत जलथम्भ विधि दुर्जोधन लौं लाल॥
पिय बिछुरत कौ दुसह दुख हरष जात प्यौसार।
दुरजोधन लौं देखियत तजत प्रान इहिं बार॥

इस प्रकार की अवान्तर कथाएं मिल्टन, वाल्टर स्काट, कीट्स, तुलसी, सूर, कबीर तथा जायसी की रचनाओं में भरी पड़ी हैं, फिर यदि बिहारी के दोहों में प्रसंगवश उपर्युक्त घटनाएं आगईं तो बिहारी ने कौन-सा किला फ़तह कर लिया ? उपर्युक्त अन्तरकथाओं से उनकी अध्ययनगरिमा का परिचय तो मिलता नहीं है, अलबत्ता यह अवश्य ज्ञात होता है कि बिहारी भी परिस्थितियों की अनुकूलतावश बहुत कुछ सुनकर ही सीख गए थे।

'बिहारी सतसई' में राजनीति, आखेट, समाज तथा मनोविज्ञान—

राजनीतिशास्त्र के अध्येता, द्वैतशासन प्रणाली से भली प्रकार परिचित होंगे। भारतवर्ष के स्वतंत्रता से पूर्व के राजनैतिक इतिहास की ओर दृष्टिपात करने से यह सिद्ध होता है कि द्वैतशासन व्यवस्था किसी समय भी किसी देश के लिए मंगलमयी सिद्ध नहीं हो सकती। केन्द्रीय सरकार में गौरांग प्रभुओं की सत्ता रहने के कारण जिस प्रकार भारत के प्रान्तीय मंत्रिमण्डलों को, जिनमें कि भारतीय ही अधिक थे, सफलता नहीं मिल सकी वैसा ही बिहारी के समय

की राजनीति में हुआ। बिहारी ने इस राजनैतिक अन्तर्विरोध के लिए स्पष्टतः लिखा है :—

"दुसह दुराज प्रजानि कौं क्यों न बढ़ै दु:ख दंद।
अधिक अंधेरौ जग करत मिलि मावस रवि चंद॥"

इसी प्रकार एक स्थान पर बिहारी ने आखेट का भी अत्यन्त सजीव चित्रण किया है :—

खौरि पनिच भृकुटी धनुष वधिकु समरु तजि कानि।
हनत तरुन मृग तिलक सर सुरक भाल भरि तान॥

बिहारी भाग्यशाली थे, नहीं तो क्या पता कोई उन्हें उच्चश्रेणी का वधिक भी कह सकता था। इसी भाँति उन्होंने चौगान, चतुरंगिणी सेना, कायव्यूह आदि के वर्णनों से युद्ध का चित्रांकन भी किया है। बिहारी के ऐसे अनेक दोहे हैं जिनसे तत्कालीन समाज की परिस्थितियों पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ सकता है।

बिहारी अवश्य ही मनोविज्ञान के पण्डित थे। उन्होंने नारी तथा पुरुष के मनोवैज्ञानिक चित्रणों में निस्सन्देह सफलता प्राप्त की है। बिहारी को प्राय: ऐसे व्यक्तियों के विरोध में बहुत कुछ लिखना पड़ा है जो कि अनुचित प्रतिष्ठा प्राप्त करके समाज के अग्रणी हो जाते हैं। साथ ही नीच तथा उच्चश्रेणी के व्यक्तियों के हृदय का भी उन्होंने पारदर्शी चित्रण किया है :—

"कोटि जतन कोऊ करौ परै न प्रकृतिहिं बीच।
नल बल जल ऊँचौ चढ़ै अंत नीच कौ नीच॥
बढ़त बढ़त सम्पति सलिल मन सरोजु बढ़ि जात।
घटत घटत सुन पुनि घटै बरु समूल कुम्हिलात॥"

इसी भाँति लोभी तथा स्वार्थी व्यक्ति को भी उन्होंने खूब पहचाना है। यह एक मनोवैज्ञानिक विशेषता है कि जो व्यक्ति किसी लाभ के लिए कहीं जाता है तो उसे लोभ का चश्मा चक्षुओं पर लगा लेने के कारण क्षुद्रातिक्षुद्र वस्तु भी बड़ी ही दिखाई पड़ती है। खण्डिता एवं मानिनी नायिकाओं के चित्रण में कवि ने ईर्ष्या एवं आत्मग्लानि की भावना को सजीवतापूर्वक अभिव्यक्त किया

है। वय:सन्धिप्राप्ता मुग्धा नायिका के मन में उठने वाले भावावेगों के स्पन्दन भी कवि विहारी के दोहों में स्पष्टतः सुनाई पड़ते हैं। साधारणतः व्यक्ति सुख और वैभव के क्षणों में ईश्वर का स्मरण नहीं कर पाता परन्तु जैसे ही उस पर विपत्ति के मेघ मडराने लगते हैं तो वह 'दई दई' करने लगता है। इसी प्रकार यह भी एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि किसी वस्तु का मूल्य हमारे हृदय में जभी तक अधिक रह सकता है तब तक कि वह हमारे समीप न आवे। प्राप्ति में आकर्षण की समाप्ति है और अप्राप्यता में उसका अतिरेक। घरजंवाई के उदाहरण से कवि ने इस तथ्य का अत्यन्त मर्मस्पर्शी चित्र प्रस्तुत किया है :—

"आवत जात न जानियतु तजि तेजहिं सियरान।
घरहिं जवाँई लौं घट्यौ खरौ पूस दिन मान॥"

इस प्रसंग में यही कहना उचित है कि जिस कवि को जितना अधिक मानव हृदय का समीप से परिचय होगा उतनी ही उसकी कविता में प्रभावोत्पादकता आएगी। विहारी इस दृष्टि से श्रेष्ठ दोहाकार हैं।

'बिहारी सतसई' में नीतिशास्त्र—

'विहारी सतसई' की रचना से पूर्व ही हिन्दी-अपभ्रंश-प्राकृत एवं संस्कृत भाषाओं के साहित्य में नीतिपरक काव्य का पर्याप्त सृजन हो चुका था। काव्यशास्त्र की दृष्टि से नीतिपरक कविता में काव्य के उत्तम स्वरूप को उपदेशों की नीरसता आक्रान्त कर देती है। यही बात बिहारी के ऊपर भी शतप्रतिशत लागू की जा सकती है परन्तु इस प्रसंग पर आगे बढ़ने से पूर्व यह बताना भी आवश्यक है कि कहाँ पर नीतिकाव्य श्रेष्ठ माना जाता है ? वस्तुतः यदि कोई कवि दैनिक जीवन के मार्मिक सत्यों के अनुभवाधार पर इन नीतियों को आलंकारिक ढंग से प्रस्तुत करता है तो उसे वृन्द जैसी सफलता मिल सकती है किंतु यदि इन लक्षणों का नीतिकाव्य से सम्बन्ध नहीं रखा जाएगा तो वह तुलसी एवं कवीर की सी नीरस तथा उपदेशपूर्ण पदावली हो जाएगी, इसलिए काव्य में 'कान्तासम्मितयोपदेशयुजे' का अपना महत्वपूर्ण स्थान है। बिहारी के नीतिपरक दोहे भी उतने ही प्रभावोत्पादक होते हैं जितने कि उद्दामश्रृंगार रस के दोहे। यही कारण है कि 'नहिं पराग नहिं मधुर मधु' तथा 'स्वारथु सुकृतु न स्रमवृथा'

आदि दोहों के माध्यम से कवि ने अपने भावात्मक (Positive) प्रभाव में सम्पूर्णरूपेण सफलता प्राप्त की है। बिहारी के नीतिपरक दोहों के कुछ उदाहरण लिखित हैं :—

"नर की अरु नल नीर की गति एकै करि जोइ।
जेतौ नीचौ ह्वै चलै तेतौ ऊँचौ होइ॥
कनक कनक तैं सौगुनी मादकता अधिकाइ।
या खाए बौराइ जग वा पाए बौराइ॥
बसै बुराई जासु तन ताही कौ सनमानु।
भले भले कहि छाँड़िए खोटे ग्रह जप दानु॥"

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि 'बिहारी सतसई' में कविवर बिहारी ने न केवल शृंगाररस का ही पिष्टपेषण किया है अपितु उसमें बहुमुखी जीवन और जगत् के रूपों का वर्णन भी किया गया है। बिहारी मूलत: कवि थे। वे अनेक-शास्त्रज्ञ अथवा पण्डित थे तथापि उनके सम्मुख यह लक्ष्य कभी नहीं रहा कि वे अपनी बहुज्ञता का विज्ञापन करते। यत्र तत्र ज्योतिष-गणित-वैद्यक अथवा पुराणों की कथाओं का जो प्रयोग उन्होंने किया है वह रस के उद्रेक के लिए ही है, पाठकों को चमत्कार-विजडित करने के लिए नहीं। वे अपने युग के एक सुशिक्षित, अध्ययनशील एवं जागरूक कवि थे अत: उनकी कविता का परिप्रेक्ष्य अन्य अनेक रीतिकालीन कवियों के समान संकुचित नहीं रह सका। बहुभाषाविज्ञता, अलंकार चातुर्य, काव्यशास्त्रनिपुणता, शृंगार-शान्त एवं यत्र तत्र हास्य तथा वीररस आदि की व्यंजना ने उनकी 'सतसई' को हिन्दी काव्य साहित्य का एक उज्ज्वल आलोकस्तम्भ बनाने की चेष्टा की है। सारांश यही है कि बिहारी प्रारम्भ से ही सुसंस्कृत वातावरण में रहे थे अत: उनके अनुभव तथा ज्ञान की सीमाओं में इतना विस्तार आ गया था जिसको उन्होंने अपनी प्रतिभा के सहारे काव्यशृङ्खला में अनुस्यूत कर दिया।

बिहारी सतसई में कलापक्ष

भाषा :—भाषा भावों को एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति तक पहुँचाने का माध्यम है। यहाँ हम भाषा के सांकेतिक एवं कथितरूपों का विवेचन प्रसंग तथा स्थान के अभाव में नहीं करेंगे। हमारा आशय लिखित भाषा से है। स्थूल रूप से देखने पर हमें समाज के प्रत्येक व्यक्ति की भाषा एकसी ही प्रतीत होती है। शब्दों के निर्माण में एक जैसे प्रकृति प्रत्ययों तथा व्याकरण के नियमों की योजना होती है; परन्तु सूक्ष्मरूप से लिखित अथवा साहित्यिक भाषा का अध्ययन करने पर यह ज्ञात हो जाता है कि भाषा व्यक्ति एवं विषय भेद के अनुरूप ही अपना रूपपरिवर्त्तन करती रहती है। एक बहुपठित लेखक की भाषा तथा अल्पज्ञ लेखक की भाषा में स्वत: ही अन्तर हो जाता है। इसी प्रकार विषय तथा रस आदि के आधार पर एक ही लेखक भाषा के विविध रूपों का प्रयोग करता है। सारांश यह है कि भक्तिकाल तथा रीतिकाल की कविता की भाषा प्रमुख रूप से ब्रज थी तथापि उसमें प्रत्येक कवि ने कुछ न कुछ मौलिक परिवर्त्तन एवं प्रयोग किए। इसी सिद्धान्त के आधार पर महाकवि सूरदास तथा तुलसीदास की ब्रजभाषा से बिहारी की ब्रजभाषा में पर्याप्त अन्तर आ गया है। यही नहीं रीतिकालीन समसामयिक-कवियों की ब्रजभाषा में भी हमें एकरूपता नहीं मिल सकती। अस्तु, भाषाओं के ऐतिहासिक विकास का अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि ब्रजभाषा का उद्‌भव शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ है। भौगोलिक दृष्टि से देखने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि ब्रजभाषा—उत्तर-भारत, अवध, मध्यभारत, राजस्थान तथा पंजाब एवं गुजरात की सीमाओं तक अपना साहित्यिक अधिकार क्षेत्र बनाए हुए थी। इसलिए यह बात आवश्यक नहीं है कि ब्रजभाषा में वही व्यक्ति पद्य रचना कर सकता है जिसका जन्म आगरा मथुरा अथवा इटावा की सीमाओं में हुआ हो। ब्रजभाषा ने समय-समय पर उर्दू-फारसी आदि विदेशी तथा बुन्देलखण्डी, अवधी एवं राजस्थानी आदि समीपवर्त्तिनी भाषाओं

के शब्दों को भी मुक्त होकर ग्रहण कर लिया व्याकरण के नियमों के आधार पर ब्रजभाषा जितनी खड़ीबोली के निकट है उतनी ही अवधी से दूर। ब्रज तथा खड़ीबोली की प्रवृत्ति दीर्घान्त रही है तो अवधी की ह्रस्वान्त। उदाहरण के लिए 'तुम्हारा' (आकारान्त) ब्रजभाषा में 'तुम्हारौ' अथवा 'तिहारौ' (औकारान्त) तथा अवधी में 'तुम्हार' अथवा 'तुहार' (अकारान्त) शब्द बनते हैं। दूसरी बात यह है कि ब्रज तथा खड़ीबोली में संकोच तथा अवधी में 'विस्तार' की प्रवृत्ति होती है, यथा 'श्वान' (खड़ीबोली में), 'स्वान' (ब्रजभाषा में) तथा 'सुम्रान' (अवधी में) बनता है। इसी प्रकार ब्रजभाषा तथा खड़ीबोली में कर्त्ताकारक का चिह्न 'ने' कहीं-कहीं आता है परन्तु अवधी में उसका लोप हो जाता है। 'बिहारी सतसई में इस प्रकार के अनेक उदाहरण मिलेंगे जिनमें ब्रजभाषा खड़ीबोली तथा अवधी के भाषागत रूपों का प्रयोग किया गया है।

अवधी भाषा के सर्वनामों में प्रयुक्त होने वाला प्रारम्भिक एकारान्त स्वर मिलता है जो कि ब्रज तथा खड़ीबोली में आकर 'इकारान्त' हो जाता है। विहारी ने यदि ब्रजभाषा का 'जिहिं' लिखा है तो उन्होंने कई स्थलों पर 'जेहि तथा तेहि' का भी प्रयोग किया है। क्रियाओं में भी विहारी ने 'दीन, कीन तथा लीन' आदि पूर्वी प्रयोगों को अपनालिया है। अवधी के 'भू' धातु से बनने वाले 'आहि' तक का प्रयोग भी 'विहारी सतसई' ने किया है। इसी प्रकार खड़ीबोली के क्रियापदों एवं कृदन्तों को भी बिहारी ने ग्रहण कर लिया है जैसे 'दी' (एकवचन में) तथा 'दीं' (बहुवचन में)। इसी प्रकार बिहारी ने बुन्देलखण्डी शब्दों का प्रयोग भी यत्र तत्र किया है। एक तो बिहारी जन्मत: बुन्देलखंडी थे और दूसरे केशवदास के शिष्य; अत: उनमें बुन्देलखण्डी शब्दों का मिलना चमत्कारोत्पादक नहीं है। 'गीधे, बीधे तथा स्यौं' आदि का प्रयोग केशवदास के समान विहारी ने भी किया है। इसी प्रकार 'इजाफ़ा-क़िबलनुमा तथा रुख' आदि फ़ारसी के शब्दों का प्रयोग करने में भी बिहारी कहीं हिचकिचाए नहीं हैं। सारांश यह है कि बिहारी ने एक ओर यदि ब्रजभाषा का साहित्यिक रूप प्रतिष्ठित किया तो दूसरी ओर उसके शब्दभाण्डार को भी समृद्ध बनाया।

पीछे की पंक्तियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि बिहारी की ब्रजभाषा में अन्यान्य प्रान्तों के शब्दों का प्रचुर प्रयोग किया गया है। बिहारी ने कहीं-

कहीं व्याकरण के नियमों की उपेक्षा की है। जिस प्रकार बंगाली व्यक्तियों ने हिन्दी में लिङ्ग विपर्यय कर दिया है उसी प्रकार हिन्दी के वक्ता एवं लेखकों ने भी संस्कृत के अनेक शब्दों का लिङ्ग परिवर्तित कर दिया है। संस्कृत में 'आत्मा तथा कोकिल' सदा पुंल्लिङ्ग में आते हैं, हिन्दी वालों ने दोनों शब्दों को ही स्त्रीलिंग में कर दिया। यहाँ तक कि संस्कृत के नपुंसकलिंग को ही उन्होंने स्त्रीलिंग तथा पुंल्लिग में ही अन्तर्भूत कर दिया। अद्यतन कवियों ने भी भाषा के अनेक शब्दों के लिंगों में परिवर्त्तन कर दिया है। विहारी ने भी 'वायु 'वायु' तथा 'उसास' जैसे अनेक शब्दों को दोनों ही लिंगों में प्रयुक्त कर दिया। एक ही शब्द स्थान भेद के कारण अपना लिङ्ग बदल दिया करता है। इसका कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं दिया जा सकता कि विहारी ने शब्दों के लिङ्ग प्रयोग में ऐसी स्वच्छन्दता क्यों अपनाई ? 'मिठास' को उन्होंने सर्वत्र पुंल्लिङ्ग में ही प्रयुक्त किया है।

विहारी की भाषा का सर्वप्रमुख गुण यह है कि वह सदा भावों का अनुवर्त्तन करती हुई चलती है। अनेक कवियों के साथ यह असंगति रहती है कि उनकी भाषा भावों के साथ कदम मिला कर नहीं चल पाती। परिणाम यह होता है कि व्यापक शब्द, भाण्डार शब्दों की आत्मा तक का परिचय, चित्रोपम शैली का प्रयोग, अनुरणनपूर्ण ध्वन्यात्मक शब्दों का प्रयोग— इन सबके अभाव में कविता उतनी सशक्त नहीं बन पाती जितनी कि पाठक अथवा श्रोता पर स्थायी प्रभाव छोड़ने के लिए आवश्यक होती है। विहारी की भाषा सदा भावों के साथ साथ ही चलती है। भाषा की समस्तता एवं कल्पना की समाहारपूर्णता उनकी सब से बड़ी विशेषता है। वे अधिक से अधिक कथ्य को अल्पात्यल्प शब्दों द्वारा प्रस्तुत करने में पूर्णतः समर्थ हैं। उनकी समस्तपदावली का एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है :—

'समरस-समर - सकोच - बस - बिवस न ठिक ठहराइ।
फिरि-फिरि उझकति, फिरि दुरति, दुरि-दुरि उझकति आइ॥"

चित्रोपमता उनकी भाषा की दूसरी विशेषता है। विहारी इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग अपनी कविता में करते हैं जिनके द्वारा सुन्दर चित्र पाठकों के

सम्मुख बन जाते हैं। यह विशेषता रीतिकाल के कम कवियों ही में मिलती है :—

"कहलाने एकत बसत अहि मयूर मृग बाघ।
जगतु तपोवनु सौ कियौ दीरघ दाघ निदाघ॥
छकि रसाल - सौरभ-सने मधुर - माधवी - गंध।
ठौर-ठौर झूमत-झिपत भौंर - झौंर - मधुग्रंध॥"

बिहारी की भाषा की तीसरी विशेषता है नाद-सौन्दर्य। ऐसे अनेक उदाहरण जुटाए जा सकते हैं जिनमें हम उच्चकोटि की ध्वननशीलता देखते हैं। उपर्युक्त अन्तिम दोहे से ही यह बात स्पष्ट हो जाती है। बिहारी ने पवन की साँय साँय, भृंगों की रणित घण्टावली तथा पैर के आभूषणों की झमक झमक का तथावत वर्णन किया है :—

"रनित भृंग घंटावली झरत दान मधुनीर।
मंद मंद आवतु चल्यौ कुंजर - कुंज - समीर॥
ज्यौं ज्यौं आवति निकट निसि त्यौं त्यौं खरी उताल।
झमकि झमकि टहलैं करै लगी रहचटैं लाल॥

रीतिकाल के कवियों में यह गुण बिहारी के अतिरिक्त महाकवि देव की कविता में ही प्राप्त होता है।

'बिहारी सतसई' की भाषा की चौथी विशेषता है लोकोक्तियों अथवा मुहावरों की प्रयोग-प्रचुरता। वास्तव में जिस कवि की भाषा में जितनी अधिक लाक्षणिकता होगी, जितना अधिक लोकोक्तियों वा मुहावरों का प्रयोग होगा—उतनी ही उसकी भाषा में सार्वजनीन प्रभावोत्पादनक्षमता आ जाएगी। बिहारी तथा घनानन्द आदि ऐसे कुछ ही कवि हैं जिनमें समाज में प्रचलित मुहावरों का पुष्कल प्रयोग मिलता है। कहीं कहीं बिहारी के मुहावरों के प्रयोग में विदेशी विन्यास आगया है परन्तु बिहारी की चेष्टा वहां यही रही है किउन मुहावरों को भारतीय प्रकृति के अनुकूल बना दिया जाए। बिहारी के मुहावरों के कुछ उदाहरण हम नीचे देते हैं :—

"खरी पातरी कान की कौन बड़ाऊ आनि।
आक कली न रली करै अली अली जिय जानि॥
मूड़ चढ़ाए हूं रहैं पर्‌यौ पीठि कच भारु।
रहै गरैं परि, राखिवौ तऊ हिएं पर हारु॥"

बिहारी की भाषा में यदि लाक्षणिक प्रयोग देखना है तो उनका यह प्रसिद्ध दोहा यहाँ उद्धृत करना अप्रासंगिक न होगा :—

"दृग उरझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गाँठि दुरजन हिएँ दई नई यह रीति॥"

'बिहारी सतसई' के शब्द प्रयोग को देखने से पता चलता है कि उसमें एक ओर शुद्ध संस्कृत के तत्सम शब्द हैं तो दूसरी ओर प्राकृत और अपभ्रंश में प्रयोग किए जाने वाले तद्भव शब्दों का प्रयोग भी मिलता है जैसे लोचन का लोइन तथा 'वचन' का वयन आदि :—

"लगा लगी **लोइन** करैं मन नाहक बँधि जाति।"

बिहारी ने कहीं-कहीं पर शब्दों को विकृत भी किया है। कुशलता की बात तो यह है कि तुलसी, भूषण तथा देव का सा शब्द भंग उनमें नहीं मिलता। कुछ स्थलों पर तो यह विकृति खटकने वाली है कुछ स्थलों पर स्वाभाविकता एवं कोमलता के आग्रह से बिहारी ने शब्दों की तोड़ मरोड़ करली है :—

स्वाभाविक तोड़ मरोड़—

'समरस **समर** सँकोच बस' में श्लेष अथवा यमक जैसे द्वयर्थक शब्दों का प्रयोग करने के लिए अथवा 'स्मर' शब्द की गद्यता को दूर करने के लिए ही बिहारी 'समर' लिखते हैं। इसी प्रकार संक्रमण से 'संक्रोनु' तथा 'सोनजाय' को स्वर्णजात वा स्वर्णजाती से बिहारी ने रूपान्तरित कर लिया है। जहाँ खटकने वाले प्रयोग हैं वे अधिकाँशतः पुनरुक्ति में आए हैं, यथा 'कै कै' (कर करके) के स्थान पर 'ककै', 'त्यौं त्यौं' के स्थान पर 'तत्यौं' और 'ज्यौं-ज्यों' के स्थान पर 'जज्यौं' का प्रयोग बिहारी ने कुछ दोहों में किया है।

"जज्यौं उझकि झाँपति बदन, झुकति बिहँसि सतराति।
तत्यौं गुलाल झुठी मुठी झझकावत प्यौ जात॥"

अथवा :—

"साहस ककै टलाटली"

इसके विपरीत बिहारी ने इनका शुद्ध प्रयोग भी किया है :—

"ज्यौं ज्यौं पटु झटकति हठति हँसति नचावति नैन ।
त्यौं त्यौं निपट उदारहू फगुआ देत वनैन ॥"

कहीं-कहीं बिहारी ने कोमल अनुभूतियों का चित्रण करते समय 'टकार' का प्रयोग अवश्य किया है जो कि कर्णकटु होगया है, जैसे

"झटकि चढ़ति उतरति अटा नैंकु न थाकति देह ।
भई रहति नट कौ बटा अटकी नागर नेह ॥"

तथा :—

"विकट-निपट जौ लौं लगे खुलैं न कपट-कपाट ।"

परन्तु ऐसे प्रयोग सर्वत्र नहीं आए हैं ।

बिहारी ने दोनों प्रकार की भाषाओं के प्रयोग किए हैं—यदि पात्र अशिक्षित अथवा ग्रामीण है तो वे ग्राम्य शब्दों का तथा यदि पात्र नागरिक एवं सभ्य है तो भाषा में सुसंस्कृत पदावली का प्रयोग बिहारी ने किया है । ग्रामीण नायिका के वर्णन तथा चतुर नागरिक-नायिकाओं के वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है । शैली का भाषा के साथ समवाय-सम्बन्ध है । बिहारी की शैली कहीं-कहीं पर अत्यन्त सरल रूप में आई है, जहाँ उनका लक्ष्य उपदेश प्रधान रहा है :—

"नर की औ, नलनीर की गति एकै करि जोइ ।
जेतौ नीचौ ह्वै चलै तेतौ ऊंचौ होइ ॥"

इसके विपरीत कहीं-कहीं उनकी शैली में, थोड़े शब्दों में अधिक से अधिक कहने की प्रवृत्ति के कारण कसावट एवं गठन आ जाता है :—

"खौरि-पनच भृकुटी-धनुष वधिक-समर तजि कानि ।
हनत तरुन-मृग-तिलक-सर सुरकि-भाल-भरि तानि ॥"

सारांश यह है कि बिहारी की भाषा अत्यन्त परिष्कृत एवं प्रौढ़ है । वे ब्रज भाषा के उन इने गिने कवियों में से हैं जिनकी भाषा को हम 'मापदण्ड' कह सकते हैं । सेनापति, रत्नाकर तथा घनानन्द जैसी साहित्यिकता एवं सौष्ठव

बिहारी में हमें सर्वत्र मिलती है। दोहा जैसे छोटे छन्द की रचना करना जितना सरल है उतना ही उसका ललित पद विन्यास आयासपूर्ण होता है। बिहारी की भाषा में यत्र-तत्र बुन्देलखण्डी, उर्दू-फारसी तथा अवधी के शब्दों का प्रयोग भी अनायास एवं नैसर्गिक रूप से हुआ है। उन्होंने उन्हीं शब्दों का प्रयोग हिन्दी में किया है जो कि सर्वत्र-प्रचलित हैं। कहीं-कहीं पर उन्होंने भूषण के समान शब्दों में रूपान्तर भी कर दिया है परन्तु उससे विकृति अपेक्षाकृत कम आ पाई है। बिहारी ने जीवन और जगत् के शाश्वत तथ्यों को ऐसी प्रवाहपूर्ण शैली में प्रस्तुत किया है कि वह उनके परवर्त्ती कवियों के लिए अनुकरणीय होगया। मतिराम के अतिरिक्त अन्य किसी दोहाकार में बिहारी जैसी व्यवस्थित भाषा एवं शैली नहीं मिल सकती है।

'बहारी सतसई' का छन्द (दोहा) और उसकी विशेषताएं

छन्दशास्त्र की दृष्टि से अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि बिहारी ने मुख्यत: 'दोहा' छन्द में ही रचना की है। कहीं-कहीं पर 'सोरठा' नामक छन्द का भी उन्होंने प्रयोग किया है, जो कि दोहे से बहुत कुछ मिलता जुलता है। यह सभी जानते हैं कि दोहे को विपरीत कर देने से 'सोरठा' छन्द की रचना हो जाती है। दोहा तथा सोरठा दोनों ही मात्रिक छन्द हैं। दोनों में कुल मिलकर ४८ मात्राएं होती हैं। दोहा में १३ तथा ११ एवं सोरठा में ११ तथा १३ वीं मात्रा पर यति होती है। दोहा के दूसरे तथा चतुर्थ एवं सोरठा के प्रथम तथा तृतीय चरण में अत्यानुप्रास होता है। यह अन्त्यानुप्रास एक दीर्घ तथा एक ह्रस्व मात्रा पर (ऽ।) होना चाहिए। काव्य-शास्त्रियों ने दोहे के हंस—मयूर आदि २१ प्रकार के भेदों का उल्लेख किया है। बिहारी में ये सभी प्रकार के भेद पाए जाते हैं। अब यह प्रश्न स्वभावतः उठता है कि बिहारी ने दोहा अथवा सोरठा को ही अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम क्यों बनाया ? वस्तुत: बिहारी मुक्तक रचनाकार हैं। मुक्तक कविता की यह पहली शर्त होती है कि उसमें छोटे से छोटे छन्द का ही प्रयोग करना चाहिए क्योंकि मुक्तककार एक छन्द में एक ही भाव का वर्णन करता है। बिहारी का प्रत्येक दोहा एक ही भाव को लेकर चलता है। उनके दोहों में भावातिशय्य नहीं मिलता— यह दूसरी

बात है कि एक ही भाव को व्यक्त करने के लिए उन्होंने एक दोहे में अनेक अनुभावों एवं संचारियों को स्थान प्रदान किया है। मुक्तक कविता की सबसे प्रमुख विशेषता है उसकी प्रेषणीयता। यह प्रेषणीयता अपेक्षाकृत प्रबन्धकाव्य में इतनी तीव्र तथा तत्काल प्रभावोत्पादिनी नहीं होती जैसी कि मुक्तक काव्य में। कारण स्पष्ट है, प्रबन्धकाव्य में किसी देश की व्यापक संस्कृति–आचार-आदर्श-निष्ठा तथा अनेक-मुखी-व्यवहार-ज्ञान का परिचय पात्र-विशेष के माध्यम से होता है, वहां रस की निष्पन्नता में बीच बीच में अनेक अवरोध आ जाते हैं। यही कारण है कि 'रामचरितमानस' की अपेक्षा 'सूरसागर' के पदों ने श्रोता अथवा वाचकों के हृदय को अधिक रसमग्न किया है। दोहे की अपेक्षा कवित्त, सवैया, कुण्डली अथवा छप्पय छन्द आकार में बड़े होते हैं। वहाँ कवि को भाव-प्रकाशन के लिए पर्याप्त क्षेत्र मिल जाता है। परिणामस्वरूप भाव अपनी तीव्रता एव संक्षिप्तता की अपेक्षा विश्लेषण-सहित ही इन बड़े छन्दों में आता है। यही कारण है कि बिहारी ने दोहा को ही अपनी 'सतसई' के लिए चुना। दूसरा कारण यह है कि 'सतसई परम्परा' पर पूर्ववर्त्ती कवियों का प्रभाव पड़ा है। 'गाथा सप्तशती' एवं 'आर्यासप्तशती' में आर्याछन्द को वही प्रधानता दी गई है जो कि संस्कृत में अनुष्टुप् छन्द को प्राप्त थी। हिन्दी में आकर इस परम्परा का विकास दोहा रूप में हुआ। तीसरा कारण यह है कि बिहारी के आश्रयदाता मिर्जा राजा जयसिंह ने "नहिं पराग नहिं मधुर मधु" की कोटि के अन्य दोहों की रचना के लिए ही उन्हें प्रेरित किया था। चौथा कारण यह भी है कि तुलसी तथा रहीम ने जो कि उनसे कुछ पहले के हैं, अपनी सतसइयों की रचना दोहा नामक छन्द में ही की। अत: यह स्पष्ट हो जाता है कि बिहारी के अपनी 'सतसई' में दोहा छन्द का प्रयोग विशेष प्रयोजन के लिए ही किया है। वे और छन्दों में भी कविता लिख सकते थे, परन्तु उन्हें स्वभावः दोहे से ही अधिक मोह था। बिहारी के समकालीन कविवर रहीम ने दोहा के विषय में निम्नलिखित विवेचनकिया है :—

> "रूप कथा पद चारु पट कंचन 'दोहा' लाल।
> ज्यौं निरखत ही सूक्ष्म गति, मोल 'रहीम' बिसाल॥

दीरघ दोहा अरथ के, आखर थोरे आहिं।
ज्यों रहीम नट कुण्डली, सिमिटि कूदि चलि जाहिं॥"

रहीम द्वारा वर्णित विशेषताएँ बिहारी सतसई के एक एक दोहे में देखी जा सकती हैं। बिहारी के दोहे देखने में भले ही छोटे हैं पर प्रभाव में पर्याप्त विशाल हैं। जितनी-जितनी बार उन्हें पढ़ा जाएगा उपनी उतनी ही उनकी अर्थ गंभीरता का परिचय मिलेगा बिहारी के दोहों के विषय में किसी कवि ने सत्य ही कहा है :—

"सतसैया के दोहरा, ज्यौं नावक के तीर।
देखत में छोटे लगैं, घाव करैं गंभीर॥"

प्रश्न होता है कि बिहारी के दोहों में वे विशेषताएँ कौन सी हैं जो 'घाव करैं गंभीर' को युक्तियुक्त सिद्ध करती हैं? उत्तर होगा बिहारी की समास-प्रधान पदावली तथा कल्पना की समाहार-शक्ति। समास-प्रधान शैली का प्रयोग वहीं किया जाता है जहाँ कवि 'गागर में सागर' भरने का उद्योग करता है। बिहारी रससिद्ध कवि थे। उनके प्रतिभा-सम्पन्न-हृदय में प्रचुर अनुभूतियाँ एवं मस्तिष्क में विपुल-कल्पनात्मक उद्भाविका शक्ति थी। जब भी वह किसी एक भाव को अपने दोहे में निवद्ध करने की इच्छा करते थे तभी अनेकानेक सुकुमार कल्पनाएँ आ आकर उनके दोहे का शृङ्गार करने लगती थीं। बिहारी ने दोहे की लघुता के कारण, कल्पना की इस समाहार-शक्ति की रक्षा करने के लिए, समस्त-शैली को अपनाया है। बिहारी इस दिशा में ब्रजभाषा के अद्वितीय कवि हैं। वे किसी भी बड़े से बड़े तथ्य को दोहे की दो पंक्तियों में व्यक्त करने में कुशल हैं। यहां दो उदाहरण क्रमशः प्राकृत तथा संस्कृत के पद्यों के दिए जाते हैं, जिन्हें बिहारी ने अपने सूक्ष्मार्थवाही दोहों में थोड़े से ही शब्दों में बाँध दिया है, तथा अर्थ भी अधिक प्रेषणीय बना दिया है :—

"जावणकोसविकासं पावइ ईदसी मालईकलिआ।
मअरन्दपाणलोहिल्ल भमर तावच्चिअ मलेसि॥"

बिहारी में :—

"नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहिं बिकास इहिं काल।
अली कली ही सौ बँध्यौ आगें कौनु हवाल॥"

इसी प्रकार अमरुकशतक के एक शार्दूल विक्रीडित छन्द को यहाँ प्रस्तुत किया जाता है जिसमें वर्णन की प्रधानता तो है परन्तु बिहारी जैसी संकेतात्मकता नहीं आ पाई है :

"मुग्धे मुग्धतयैव नेतुमखिल: काल: किमारम्यते ।
मानं धत्स्व धृति बधान ऋजुतां दूरे कुरु प्रेयसि ॥
सख्यैवं प्रतिबोधिता प्रतिवचस्तामाह भीतानना ।
नीचै: शंस हृदिस्थितो हि ननु मे प्राणेश्वरः श्रोष्यति ॥.'

बिहारी में इसी भाव को यों देखिये :—

"सखी सिखावति मान विधि सैननि बरजति बाल ।
हरुये कहि मो हिय बसत सदा बिहारी लाल ॥"

यद्यपि बिहारी के इन दोहों में प्राकृत एवं संस्कृत के कथ्य का ही पुनर्लेखन है तथापि इसमें पुनरुक्ति नहीं आ पाई है । बिहारी ने अनुकरण नहीं किया है । उन्हें जो भाव रुचिकर लाग, उसे आत्मसात् कर लिया, तब अपनी शैली में उसे अभिव्यक्त कर दिया । यह असाधारण प्रतिभावान् कवि ही कर सकता है ।

बिहारी के दोहे छन्दशास्त्र के नियमों से कसे हुए हैं । उनके पूर्ववर्त्ती एवं पश्चाद्वर्त्ती कवियों के दोहों में ऐसा गठन और ऐसी कसावट प्रायः नहीं मिल पाती । कबीर, तुलसी, वृन्द, रसनिधि आदि अनेक कवियों के दोहों में न्यूनपदत्व तथा अधिकपदत्व दोष मिल सकता है किन्तु बिहारी के दोहों में ये दोष ढूंढ़ने पर भी नहीं मिल सकते । अन्य कवियों के दोहों में गति एवं यति सम्बन्धी दोष पर्याप्त-मात्रा में प्राप्त होते हैं, पर बिहारी के दोहों में यह दोष भी नहीं है । इसका कारण स्पष्ट है । बिहारी के दोहों की भाषा इतनी सशक्त, प्रांजल एवं अर्थगर्भा है कि वहां पर इन दोषों के लिए अवकाश नहीं मिलता । यही कारण है कि किसी अन्य कवि के दोहों में यदि ऐसी प्रांजलता एवं सशक्तता दिखाई पड़ती है तो उसे लोग भ्रमवश बिहारी का दोहा कह बैठते हैं । रहीम, मतिराम तथा रसलीन के अनेक दोहों को इसी भ्रम के आधार पर कुछ व्यक्तियों ने बिहारीकृत मान लिया है ।

'बिहारी सतसई' में अलंकार-विधान

बिहारी रीतियुग के कवि हैं। उनसे पूर्व आचार्य केशवदास आदि अनेक कवियों ने लक्ष्य-लक्षण ग्रन्थों की रचना प्रारम्भ कर दी थी। इन आचार्य कवियों पर दण्डी, भामह तथा रुद्रट आदि संस्कृत के अलङ्कारवादी कवियों का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा था। परिणाम यह हुआ कि उनकी कविता रस निष्यन्दिनी न होकर अलंकार-वैचित्र्य तथा चमत्कार-चारुता का उदाहरण बन गई। कविता के बाह्य-स्वरूप का शृंगार तो इन कवियों ने किया परन्तु उसके आन्तरसौन्दर्य के निदर्शन में ये कवि असावधान बने रहे। रीतिकाल की कविता शरीर से तो सुसज्जित हो गई परन्तु उसका सहज सुकुमार हृदय इस अति कलावादिता के कारण रुग्ण हो गया। आचार्य केशव ने तो कविता में अलंकारों की अनिवार्यता के लिए यहाँ तक कह दिया।

> "जदपि सुजात सुलच्छिनी सुवरन सुरस सुवित्त।
> भूषण विना न राजहीं कविता बनिता मित्त ॥"

केशव ने तो इस कथन का अपनी कविता में अक्षरशः पालन किया ही, साथ ही साथ उनके परवर्त्ती कवि भी अलंकारों को ही काव्य में प्रमुख मानने लगे। अतः अब 'रस' काव्य की आत्मा नहीं रहा। अलंकार साधन न होकर साध्य बन गए। कुशलता की बात तो यह है कि बिहारी में जितना अलंकारों के प्रति आग्रह है उतने ही रस की निष्पन्नता में वे सजग भी हैं। 'बिहारी सतसई' की कविता में रस एवं अलंकार दोनों का उचित अनुपात रहा है। अलंकारों की अनावश्यक दृढ़ शिला ने रस की अजस्र-प्रवाहिनी को अवरुद्ध करने का प्रयास कहीं भी नहीं किया है। बिहारी यह भली प्रकार जानते थे कि केवल अलङ्कार-प्राणता को कविता का सर्वस्व मान लेने पर उनकी भी वही दशा होगी जो कि केशवदास की हुई थी। अतः बिहारी ने रस को तो प्रतिपाद्य माना तथा अलंकार रीति तथा गुण आदि को उन्होंने रसोत्कर्ष का साधन मान लिया। बिहारी का अलंकार विधान उतना ही समृद्ध है जितना कि रीतिकाल के अन्य श्रेष्ठ कवियों का है। उन्होंने शब्दमूलक-अर्थमूलक तथा उभयमूलक अलंकारों का प्रचुर प्रयोग किया है। सादृश्यमूलक अलंकारों के प्रयोग के साथ-साथ उन्होंने विपरीतता

बोधक अलंकारों का भी सफल प्रयोग किया है। अनुपात की दृष्टि से उन्हें शब्दालंकारों की अपेक्षा अर्थालङ्कार ही अधिक प्रिय रहे हैं।

बिहारी ने अलंकारों का प्रयोग दो रूपों में किया है। कहीं तो वे स्वतन्त्र रूप में किसी अलङ्कार का प्रयोग करते हैं और कहीं किसी भाव विशेष को दिखाने के लिए अलंकारों का विधायन करते हैं। शब्दालंकारों का प्रयोग प्राय: कवि ने चमत्कार-कौशल प्रदर्शित करने के लिए ही किया है तथा अर्थालंकारों एवं अप्रस्तुतों का प्रयोग रस के उत्कर्ष-विधायन के लिए। शब्दालंकारों में यमक, श्लेष, अनुप्रास तथा मुद्रा को लेते हैं। यमक का प्रयोग बिहारी ने प्राय: जान-बूझ कर किया है :—

बरजीते सर मैन के ऐसे देखै मैंन।
हरिनी के नैनानु तैं हरिनी के ए नैन॥
कनक कनक तैं सौगुनी मादकता अधिकाइ।
इहि खाएँ बौराइ जगु उहिं पाएँ बौराइ॥
तो पर वारौं उर बसी सुनि राधिके सुजान।
तू मोहन कैं उर बसी ह्वै उरबसी समान॥

उपर्युक्त दोहों में हरिनी के, कनक तथा उरबसी शब्दों मे कवि ने यमक की छटा प्रस्तुत की है। यहाँ उसका उद्देश्य नायिका के नेत्र, सोने की महिमा तथा नायिका की सुन्दरता का निर्वचन करना नहीं है। वह तो अलंकार का प्रयोग ही मुख्य रूप से करना चाहता है। इसी प्रकार श्लेष का उदाहरण भी दृष्टव्य है :—

"चिरजीवौ जोरी जुरै क्यौं न सनेह गंभीर।
को घटि ए वृषभानुजा वे हलधर के बीर॥
अजों तर्यौना ही रह्यौ स्रुति सेवत इक अंग।
नाक बास बेसरि लह्यौ बसि मुकुतनु के संग॥

मुद्रालंकार का प्रयोग निम्नलिखित दोहों में दर्शनीय है :—

"सामाँ सैन सयान की सबै साह कै साथ।
बाहुबली जय साहजू फते तिहारे हाथ॥

तथा

"कत लपटैयतु मो गरैं सो न जुही निसि सैन।
जिहिं चंपक बरनी किए गुल्लाला रंग नैन।।

शब्दालंकारों के अन्तर्गत अनुप्रास का प्रयोग भी बिहारी ने सफलता पूर्वक किया है :—

"रनित भृंग घंटावली झरत दान मधुनीर।
मंद मंद आवत चल्यौ कुंजर कुंज समीर।।
अधर धरत हरि कैं परत ओठ दीठि पटु जोति।
हरित बाँस की बासुरी इन्द्रधनुष सी होति।।"

इसी प्रकार बिहारी ने अर्थालङ्कारों का प्रयोग भी पर्याप्त मात्रा में किया है। अप्रस्तुत विधान के लिए प्रायः वे उत्प्रेक्षा अलंकारों को ही चुनते हैं :—

"सोहत ओढ़ैं पीत पटु स्याम सलौने गात।
मनौ नील मनि सैल पर आतपु पर्यौ प्रभात।।
छिप्यौ छबीली मुँह लसैं नीलैं अंचर - चीर।
मनौ कलानिधि झलमलै कालिन्दी कैं नीर।।

बिहारी की उत्प्रेक्षाएँ उतनी ही सुन्दर बन पड़ी हैं जितनी कि सूरदास की। उन्होंने इस अलंकार के प्रयोग में कवि प्रतिभोत्थित संभावनाएँ ही प्रस्तुत की हैं। उन्होंने उत्प्रेक्षाओं के प्रयोग में चाक्षुष सादृश्य के स्थान पर प्रभाव साम्य को ही मुख्य रक्खा है। चाक्षुष साम्य के लिए तो उपमा एवं रूपकों का आश्रय ही उन्होंने लिया है। विशाल दृश्यों की कल्पना करते समय वे उत्प्रेक्षा के उपयोग को कदापि नहीं भूलते हैं। बिहारी की उत्प्रेक्षाओं में एक बात और स्मरणीय है कि उनमें उपमेय का सादृश्य तो मिलता ही है परन्तु उपमेय पक्ष से उपमान पक्ष सदा भारी-भरकम रहा है।

स्थूल सादृश्य प्रस्तुत करने में बिहारी ने उपमा अलंकार का प्रयोग किया है। उनकी उपमाओं के कुछ उदाहरण यहाँ दिए जाते हैं :—

"सहज सेत पचतोरिया पहिरत अति छबि होति।
जलचादर के दीप लौं जगमगाति तन-जोति।।

मैं समुझ्यौ निरधार यह जगु काँचौ काँच सौ ।
एकै रूप अपार प्रति बिंवित लखियत तहाँ ।।
दोऊ चाह भरे कछू चाहत कह्यौ कहैं न ।
नहिं जाचक सुनि सूम लौं बाहर निकसत बैन ।।

कुछ अन्य प्रमुख अलंकारों का विवेचन नीचे किया जाता है। उपमा तथा उत्प्रेक्षा की भाँति रूपक भी साम्यमूलक अलंकार है। जहाँ उपमेय तथा उपमान का अभेद दिखाया जाता है वहाँ रूपक अलंकार होता है। उपमा में यह अभेद नहीं होता। उत्प्रेक्षा में संभावना की जाती है। रूपक में उपमेय तथा उपमान परस्पर मिल जाते हैं :—

"तौ लौं या मन सदन में हरि आवैं किहि बाट।
विकट निपट जौलौं लगे खुलैं न कपट कपाट ।।
खौरि-पनिच भृकुटी-धनुष बधिक समरु तजि कानि।
हनतु तरुन-मृग तिलक-सर सुरक-भाल भरि तानि ।।"

'सम' अलंकार का उदाहरण पीछे दिए हुए 'चिरजीवौ जोरी जुरै' शीर्षक दोहे से दिया जा सकता है। इसी प्रकार मीलित-उन्मीलित, तद्गुण एवं अतद्-गुण को भी विहारी के दोहों में अनेक स्थलों पर ढूँढ़ा जा सकता है। एक स्थान पर असंगति अलंकार का प्रयोग देखिये :—

"दृग उरझत टूटत कुटुम जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गाँठि दुरजन हिएँ दई नई यह रीति ।।

यहाँ दृगों के उलझने से परिवार का टूटना और फिर प्रतिक्रिया स्वरूप चतुर व्यक्तियों में प्रेम होना तथा दुर्जनों के मन में गाँठ पड़ना परस्पर असंगत बातों को कवि ने कुशलता पूर्वक एकत्र कर दिया है। इसी प्रकार बिहारी ने विरोधमूलक अलंकारों का प्रयोग भी सफलता से किया है। विरोधाभास, विशेषोक्ति तथा विभावना के अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं :—

"तंत्री नाद कवित्त रस सरस राग रति रंग।
अनबूड़े बूड़े तिरे जे बूड़े सब अंग ।।

—विरोधाभास

"मन न मनावन कों करै देत रुठाइ रुठाइ ।
कौतुक लागे पिय पिया खिझहूं रिझवत जाइ ।।"

—विभावना

"सौहैं हूं चाह्यौ न तैं केती द्याई सौंह ।
ए हो क्यौं बैठी किए ऐंठी ग्वैठी भौंह ।।"

—विशेषोक्ति

"निज करनी सकुचौंह कत सकुचावत यहि चाल ।
मोहूँ सौं अति विमुख त्यौं सनमुख रहि गोपाल ।।"

—विषम

वक्रोक्ति अलंकार का प्रयोग बिहारी ने प्रचुर रूप से किया है । वाग्वैदग्ध्य की सर्जना के लिए उन्होंने इस अलंकार को प्रयुक्त किया है ।

"बंधु भए का दीन के को तार्‌यौ रघुराइ ।
तूठे तूठे फिरत हौ झूठैं विरुद बुलाइ ।।"
"अरे परेखौ को करै तुही बिलोकि बिचारि ।
किहि नर किहिं सर राखियौ खरे बढ़े पर पारि ।।"

—काकुवक्रोक्ति

अन्योक्ति का प्रयोग बिहारी ने अनेक स्थानों पर किया है । प्रायः उपदेशपरक दोहों में बिहारी ने अन्योक्ति की नियोजना की है । तुलसी के अतिरिक्त, दोहों में अन्योक्ति काव्य लिखने वालों में बिहारी तथा वृन्द अन्यतम हैं ।

"स्वारथु सुकृतु न स्रमु वृथा देखि बिहंग बिचारि ।
बाज पराएं पानि पर तू पंछीनु न मारि ।।

इसी प्रकार प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास, अनुज्ञा, विषादन, स्वभावोक्ति, पर्यायोक्ति, अपह्नुति, सन्देह तथा भ्रान्तिमान् आदि अनेक अलङ्कार उनके दोहों में आए हैं । इस प्रसंग में यह तथ्य सदा स्मरणीय है कि बिहारी कवि थे आचार्य नहीं । उन्होंने लक्षण ग्रन्थ की रचना नहीं की । 'बिहारी-सतसई' शुद्ध रूप से लक्ष्य ग्रन्थ है । बिहारी ने अलंकारों का प्रयोग सर्वत्र ही रसोत्कर्ष के लिए किया है । उनका उद्देश्य अलंकार—चातुर्य दिखाना कदापि नहीं

था। यही कारण है कि उनकी कविता में ज्ञात एवं अज्ञात रूप से जो अलंकार पक्ष उभरा है वह भावानुभूति की तीव्रता को बढ़ाने के लिए ही है। दो एक स्थलों पर यदि वे अलंकारों का 'मन्दिर' खड़ा करते हैं तो उसमें प्रतिष्ठापना रस देवता की ही उन्होंने की है।

'बिहारी-सतसई' में भावों का आदानप्रदान

यह तथ्य पिछले अध्यायों में अनेकवार स्पष्ट किया गया है कि बिहारी बहुज्ञ एवं बहुश्रुत थे। उन्होंने संस्कृत-प्राकृत एवं अपभ्रंश के समस्त तत्कालीन लोकप्रिय कवियों के ग्रन्थों का गम्भीर अध्ययन किया था। यही नहीं राजदरबारों में रहने के कारण वे अनेक प्रकार के व्यक्तियों के सम्पर्क में आए; अतः वैद्यक-ज्योतिष-राजनीति तथा व्यवहार शास्त्र में भी वे पर्याप्त कुशल हो गए। बिहारी ने अपने पूर्ववर्त्ती कवियों के लक्ष्य ग्रन्थों एवम् स्वतन्त्र कृतियों के पारायण के अतिरिक्त संस्कृत एवम् हिन्दी के काव्यशास्त्र का भी विधिवत् अध्ययन किया था। यद्यपि वे स्वयं आचार्य-कवि नहीं थे, तथापि उनके दोहे लक्षण ग्रन्थों की परम्परा एवम् विधि-निषेधों का पूर्णतः पालन करते हैं। नायक नायिकाओं के नखशिख वर्णन, नायिका भेद, विप्रलम्भ एवम् मिलन शृङ्गार के व्यापक-विश्लेषण से इस कथन की पुष्टि हो जाती है। यों तो बिहारी की कविता में कालिदास-भवभूति-माघ-श्रीहर्ष एवम् जयदेव आदि कवियों के भावों की स्पष्ट छाया यथास्थान दीख पड़ती है; परन्तु उन पर "अमरुकशतक"—"गाथा-सप्तशती" तथा आर्या सप्तशती" का विशेष ऋण है। इन ग्रन्थों के कुछ उदाहरण देकर आगे यह सिद्ध किया गया है कि बिहारी के अधिकांश दोहों पर अन्यपूर्ववर्त्ती कवियों की छाप है।

परन्तु इसका यह आशय कदापि नहीं निकालना चाहिए कि बिहारी की कविता का प्रासाद अनुकरण के मूल पर खड़ा हुआ है। वस्तुतः प्रत्येक साहित्यकार अपने समाज एवम् पूर्ववर्त्ती साहित्यिकों की रचनाओं से प्रभावित होता है। कालिदास का प्रभाव कुमारदास के "जानकी हरण" पर पड़ा है तो भारवि के "किरातार्जुनीयम्" की छाया माघ के "शिशुपालवधम्" पर पड़ी है। इसी प्रकार यदि बिहारी हाल-अमरुक, गोवर्धनाचार्य, जयदेव, विद्यापति तथा सूर आदि से प्रभावित हों तो इसमें क्या आश्चर्य ! बिहारी ने उतना अपने पूर्ववर्तियों

का अनुकरण नहीं किया जितना कि उनके पश्चाद्वर्ती कवियों ने 'बिहारी सतसई' का आँख मूंदकर अनुकरण किया। बिहारी के भावानुकरण में भी एक मौलिकता है। वे जिस भाव को दूसरे से लेते हैं उसे पहले आत्मसात् कर लेते हैं फिर अपनी कल्पना एवं भाषा की समासान्त छटा से, अलंकृत करके उसे सर्वथा नवीन रूप प्रदान कर देते हैं। बिहारी ने जिन भावों को ग्रहण किया है वे संस्कृत के लम्बे-लम्बे छन्दों में प्राय: व्यक्त हुए हैं—इससे यह शंका होने लगती है कि उन्होंने अपने छोटे से छन्द में पूर्णतः भाव का अनुकरण नहीं किया होगा; परन्तु यह देखकर आश्चर्य होता है कि वे उस भाव को सर्वांशत: ४८ मात्राओं वाले दोहे में अपनी ओर से कुछ न कुछ और जोड़कर ही प्रस्तुत करते हैं। तुलसी के द्वारा "बाल्मीकि रामायण" के भावों का कहीं-कहीं उचित अनुकरण नहीं हो पाया है, सूरदास ने भी स्थान-स्थान पर विद्यापति के भावों को यथावत् स्वीकार कर लिया है, पर बिहारी इस दोष से सर्वथा मुक्त हैं। बिहारी ने अनुकरणमात्र के लिए भावग्रहण नहीं किया है अपितु उसे और भी सुन्दर, मनोसंवेद्य तथा चमत्कार-प्रवण बनाने के लिए ही वे यह उद्योग करते हैं। वर्तमान प्रयोगवादी कवियों में से अधिकांश की रचनाएं टी० एस० इलियट, एजरा पाउण्ड, स्पैण्डर तथा रिम्बो आदि की कविताओं की शब्द प्रतिशब्द अनुवाद हैं परन्तु बिहारी ने कभी एक-एक शब्द का अनुकरण नहीं किया। उनके ऐसे दोहों में, जहाँ पर किसी पहले कवि का प्रभाव है, अनेक प्रकार की विशेषताएं आ जाती हैं। पहले तो वे अनावश्यक विस्तार को स्थान नहीं देते। बिहारी केवल उन्हीं आवश्यक एवम् मर्मस्पर्शी प्रसंगों को स्थान देते हैं जो तत्काल श्रोता एवम् पाठकों के हृदय को रससिक्त कर दें। दूसरे, बिहारी अनुभाव, हाव एवम् चेष्टाओं के गत्यात्मक वर्णन में अद्वितीय हैं इसलिए पराए भाव पर भी वह अपनेपन की अमिट छाप लगा देने में चतुर हैं।

ऊपर हमने बिहारी के भावग्रहण का विवेचन किया है, अब बिहारी से प्रभावित होकर हिन्दी के अन्य कवियों की ओर संकेत करना भी हम आवश्यक समझते हैं। बिहारी का अपने परवर्त्ती कवियों पर व्यापक प्रभाव पड़ा है। मतिराम, रसनिधि, रामसहाय, वृन्द, विक्रम, चन्दन तथा वियोगीहरि की सतसइयाँ किसी न किसी रूप में बिहारी की ऋणी अवश्य हैं, इसे कोई अस्वीकार

नहीं कर सकता। भाषा, भाव, शैली एवं छन्द की दृष्टि से उपर्युक्त सभी कवियों पर भी विहारी को अपना आदर्श मान लिया। न केवल इन सतसईकारों अपितु अन्य कवियों पर भी विहारी का प्रभाव पड़े विना न रह सका। पद्मकार, देव, रसलीन तथा रत्नाकर आदि अनेक कवियों ने विहारी से वहुत कुछ सीखा है। रत्नाकर जी के जीवन का अधिकांश तो विहारी साहित्य के अध्ययन, चिन्तन एवम् मनन में ही व्यतीत हुआ था अत: उनकी कविताओं के वर्ण विन्यास, समास प्रधानता, अनुभाव विधान, वाग्वैदग्ध्य आदि अनेक तत्त्वों पर विहारी का ज्ञान एवम् अज्ञात रूपों से प्रभाव पड़ा है। रसलीन के अनेक दाहे शैली एवम् भाव की दृष्टि से 'विहारी-सतसई' की टक्कर के वन पड़े हैं। इसलिए भ्रमवश रसलीन के दोहे भी विहारी के नाम पर चलने लगे। विहारी के परवर्त्ती सतसई-कारों में से केवल मतिराम ही एक ऐसे कवि हैं जिन पर अत्यन्त अल्प प्रभाव पड़ा है। मतिराम स्वयं ही रससिद्ध कवि थे। ब्रजभाषा में मतिराम के समान सवैये लिखने वाले कम ही हुए हैं। दोहा लिखने में भी उन्हें अभूतपूर्व सफलता मिली है। मतिराम का सा भाषालालित्य ब्रजभाषा के कम कवियों में ही दिखाई पड़ता है। विक्रम, रसनिधि एवं रामसहाय की सतसइयों में ऐसे सैकड़ों दोहे भरे पड़े हैं जो भाषा, अलंकार, भावशैली आदि की दृष्टि से विहारी की असफल अनुकृति के द्योतक हैं। इन कवियों को अनुकरण में सफलता न मिलने का मूलकारण भाषागत अधिकार का न होना है। विहारी को ब्रजभाषा पर जैसा अधिकार था वैसा इन कवियों में नहीं मिलता। यद्यपि दोहा-रचना हिन्दी काव्य में सरलतम कार्य है परन्तु प्रभावशाली एवम् स्थायी महत्व के दोहों की रचना विहारी, रहीम, मतिराम तथा रसलीन जैसे विरले कवि ही कर पाए हैं। विहारी ने जिस भाव को अपनी परिमार्जित शैली के द्वारा दो पंक्तियों में स्पष्ट किया है उसे उनके परवर्त्ती कवि छप्पय, कुण्डली, कवित्त, सवैया आदि वड़े-वड़े छन्दों में भी सीमित नहीं कर सके हैं। किसी कवि ने विहारी के दोहों की इस भावपेशलता एवम् प्रभावपूर्णता के लिए सत्य ही कहा है :—

"सतसैया के दोहरे ज्यौं नावक के तीर।
देखत में छोटे लगैं घाव करैं गम्भीर॥"

यहाँ पर हमने अनेक पूर्ववर्त्ती एवम् परवर्त्ती कवियों की रचनाओं के

उद्धरण देकर यही सिद्ध शरने की चेष्टा की है बिहारी ने दूसरों के भावों में अपनी नवनवोन्मेषशालिनी-प्रज्ञा के संयोग से किस प्रकार स्वर्ण को सुगन्धित करने का प्रयास किया है, और कैसे उनके परवर्त्ती कवियों ने बिहारी के भावों का अपहरण करके उनका सदुपयोग तथा दुरपयोग कर डाला। स्थानाभाव के कारण हमने इन तुलनात्मक दोहों की व्याख्या नहीं की है। विज्ञ पाठक स्वयं ही बिहारी तथा अन्य कवियों द्वारा एक ही भाव पर लिखी गई विविध रचनाओं के अध्ययन से उनकी उच्चावचता का न्यायपूर्ण निष्कर्ष निकाल सकते हैं।

'बिहारी सतसई' में भावग्रहण—

नहिं पराग नहिं मधुरमधु नहिं विकास इहिं काल।
अली कली ही सौं बंध्यौ आगैं कौनु हवाल॥ बिहारी॥
"जावण कोस विकासं पावइ ईदसी मालईकलिआ।
मअरन्दपाणलोहिल्ल भमर तावच्चिअ मलेसि॥" गाथासप्तशती॥
"अन्यासु तावदुपमर्दसहासु भृङ्ग!
लोलं विनोदय मनः सुमनोलतासु।
मुग्धामजातरजसं कलिकामकाले
व्यर्थं कदर्थयसि किं नवमल्लिकायाः॥" विकटनितम्बा॥
सखी सिखावति मान-विधि सैननि बरजति बाल।
हरुये कहि मो हिय बसत सदा बिहारी लाल॥ बिहारी॥
"मुग्धे मुग्धतयैव नेतुमखिलः कालः किमारभ्यते।
मानं धत्स्व धृतिं बधान ऋजुतां दूरे कुरु प्रेयसि॥
सख्यैवं प्रतिबोधिता प्रतिवचस्तामाह भीतानना।
नीचैः शंश हृदिस्थितस्तो हि ननु मे प्राणेश्वरः श्रोस्यति॥"

—अमरुकशतक

मैं मिसहा सोयौ समुझि मुहुँ चूम्यौ ढिग जाइ।
हँस्यौ, खिस्यानी, गल गह्यौ, रही गरैं लपटाइ॥
"शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै।
निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्॥

विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं ।
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता ॥"

—अमरुकशतक

इत आवति चलि जात उत चली छ सातक हाथ ।
चढ़ी हिंडोरैं सी रहै लगी उसाँसनु साथ ॥ बिहारी
"प्राप्ता तथा तानवमङ्गयष्टिस्त्वद्विप्रयोगेण कुरङ्गदृष्टेः ।
धत्ते गृहस्तम्भनिर्वर्त्तितेन कम्पं यथा श्वास समीरणेन ॥

—विक्रमाङ्कदेव चरित

सनि कज्जलु चखि-झख-लगन उपज्यौ सुदिन सनेहु ।
क्यों न नृपति ह्वै भोगिवै, लहि सुदेसु सब देहु ॥ बिहारी ॥
"तुलाकोदण्डमीनस्थो लग्नस्थोपि शनैश्चरः ।
करोति नृपतेर्जन्म वंशे च नृपतेर्भवेत् ॥" जातक संग्रह ॥
मंगल बिन्दु सुरंगु मुख ससि केसर आड़ गुरु ।
इक नारी लहि संग रसमय किय लोचन जगतु ॥
"एकनाडी समारूढौ चन्द्रमाधरणी सुतौ ।
यदि तत्र भवेज्जीवस्तदैकार्णविता मही ॥"

—नरपति जयचर्चा

तजि तीरथ हरिकथा तन दुति करि अनुराग ।
जित वन केलि निकुंज मग पग पग होत प्रयाग ॥
"आश्रोण कोणदेशात् विकसितकुमुदामोदिनीपार्श्वभागा ।
नीलेन्द्रक्लान्तकान्ता कलिकलुषहरा संसरन्ती च मध्यात् ॥
व्योमस्थेव त्रिवेणी त्रिदशवशकरी देवतेव त्रिरूपा ।
त्रीन् संस्कारान् धमन्ती जयतु नयनयोःकापि कान्तिर्भवान्या ॥"

—पण्डित शालिग्राम शास्त्री

मकराकृत गोपाल कैं कुण्डल सोहत कान ।
धंस्यो समर हिय धर मनौ ड्यौढ़ी लसत निसान ॥

—बिहारी

"शान्ते मन्मथसंगरे रणभृतां सत्कारमातन्वती ।
वासोऽदाज्जघनस्य पीनकुचयोर्हारं श्रुतेः कुण्डले ॥
बिम्बोष्ठस्य च वीटिकां सुनयना पाण्यो रणत्कङ्कणे ।
पश्चालम्बिनि केशपाशविचये युक्तो हि बन्धःकृतः ॥"

—अमरुक शतक

लिखन बैठि जाकी सबी गहि गहि गरब गरूर ।
भए न केते जगत के चतुर चितेरे कूर ॥

"वारं वारं विरमति दृशामुद्गतो वाष्पपूर— ।
स्तत्संकल्पोपहितजडिमस्तम्भमभ्येति गात्रम् ॥
सद्यः स्विद्यन्नयन विरतोत्कम्पलोलाङ्गुलीकः ।
पाणिर्लेखाविधिषु नितरां वर्त्तते किं करोमि ॥"

—भवभूति

आवत जात न जानियत तेजहिं तजि सियरान ।
धरहिं जवाँइहिं लौं घट्यौ खरौ पूस दिन मान ॥

—बिहारी

"श्वसुरपुरनिवासः स्वर्गतुल्यो नराणां ।
यदिवसति विवेकी पञ्चषड्वासराणां ॥
यदि मधुघृतलोभान् मासमेकं वसेचेच्च् ।
स भवति खरतुल्यो मानवो मानवानाम् ॥

—अज्ञात

कंजनयनि मंजन किएँ बैठी ब्यौरति बार ।
कच अंगुरिन बिच दीठि दै चितवति नंदकुमार ॥

—बिहारी

"चिकुर विसारणतिर्यङ्नतकण्ठी विमुखवृत्तिरपि बाला ।
त्वामियमङ्गुलिकल्पितकचावकाशा विलोकयति ॥"

—आर्या सप्तशती

"बिहारी सतसई" का भाव प्रदान

'विक्रम सतसई' और "बिहारी सतसई"—

"बैठी गुरुजन साथ में लखी अचानक लाल।
नैन इसारन सौं कही सैन निसारत बाल॥

—विक्रम

कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत, खिलत, लजियात।
भरे-भौन में करत हैं नैनन ही सब बात॥

—बिहारी

"सहज अरुन ऐंड़ीनि की लाली लखै बिसेखि।
जावक दीबै जकि रही नाइन पाइन लेखि॥

—विक्रम

पाँइ महावरु देन कूं नाइनि बैठी आइ।
फिरि फिरि जानि महावरी एड़ी मीड़ति जाइ॥

—बिहारी

"झरत मंद मकरंद मद गुंजत मंजुल भृंग।
मनु बसन्त महराज को मारुत मत्त मतंग॥"

—विक्रम

रनित भृंग घंटावली झरत दान मधु नीर।
मंद मंद आवत चल्यौ कुंजर कुंज समीर॥

—बिहारी

"रूप सिन्धु तेरौ भर्यौ अति घनि अधिक अथाह।
जे बूढ़त हैं बिन कसर ते पावत मन चाह॥"

—विक्रम

तंत्री नाद कवित्त रस सरस राग रति रंग।
अनबूड़े बूड़े, तरे जे बूड़े सब अंग ॥

—बिहारी

"अति दुति ठोढ़ी बिन्दु की ऐसी लखी कहूं न।
मधुकर सूनु छक्यौ परयौ मनौ गुलाब प्रसून ॥"

—विक्रम

ललित स्याम लीला, ललन, बढ़ी चिबुक छबि दून।
मधु छाक्यौ मधुकर परयौ मनौ गुलाब प्रसून ॥

—बिहारी

"चपल चलाकनि सौं चलत गनत न लाज लगाम।
रौकैं नहिं क्यौं हूँ रहत, दृग तुरंग गति बाम ॥"

—विक्रम

लाज लगाम न मानहीं नैना मों बस नांहि।
ये मुंह जोर तुरंग ज्यौं एंचत हूं चलि जाँहि ॥

—बिहारी

"रसनिधि सतसई" (रतनहजारा तथा "बिहारी सतसई"

चतुर चितेरे तुव सवी लिखत न हिय ठहराइ।
कलम छुवत कर आँगुरी कटी कटाछन जाय ॥" रसनिधि
लिखन वैठि जाकी सबी गहि गहि गरव गरूर।
भए न केते जगत के चतुर चितेरे कूर ॥ बिहारी
"उरझत दृग बंधि जात मन कहो कौन यह रीति।
प्रेम नगर में आहकैं देखी बड़ी अनीति ॥

तथा :—

अद्भुत गति यह प्रेम की लखौ सनेही आइ।
जुरै कहूं टूटै कहूँ कहूँ गाँठि परि जाइ ॥" रसनिधि
दृग उरझत टूटत कुटुम जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गाँठि दुरजन हियैं दई नई यह रीति ॥ बिहारी
"कुहू निसा तिथि पत्र में बाँचन कौं रहिजाइ।

तुव मुख ससि की चांदनी उदै करत है ग्राइ ॥" रसनिधि

पत्रा ही तिथि पाइयैं वा घर के चहुँ पास ।
नित प्रति पूनौं ही रहत ग्रानन ग्रोप उजास ॥ बिहारी

"कैइक स्वाँग बनाइ कै नाचौ बहु विधि नाँच ।
रीझत नहिं रिझवार वह बिना हिए कैं साँच ॥" रसनिधि

जप माला छापैं तिलक सरैं न एकौ काम ।
मन काँचैं नाचै वृथा साँचैं राँचै राम ॥ बिहारी

"ग्रद्‌भुत गति यह रसिक निधि सरस प्रीति की बात ।
ग्रावत ही मन साँवरौ उर कौ तिमिर नसात ॥" रसनिधि

या ग्रनुरागी चित्त की गति समुझै नहिं कोइ ।
ज्यौं ज्यौं डूबैं स्याम रँग त्यौं त्यौं उज्जलु होइ ॥ विहारी

"देत बताए प्रगट जो जावक लाग्यौ भाल ।
नव नागरि के नेह सौं भले बने हौ लाल ॥" रसनिधि

पलनु पीक ग्रंजन ग्रधर धरे महावरु भाल ।
ग्राजु मिले सु भली करी, भले बने हौ लाल ॥ विहारी

"मतिराम सतसई" तथा "बिहारी-सतसई"

"मानत लाज लगाम नहिं नैंकु न गहत मरोर ।
होत तोहिं लखि बाल के दृग तुरंग मुँह जोर ॥" मतिराम

लाज लगाम न मानहीं नैना मो बस नाहिं ।
ए मुँह जोर तुरंग ज्यौं एंचत हूँ चलि जाहिं ॥ बिहारी

"खेलत चोर मिहींचनी परे प्रेम पहिचानि ।
जानी प्रगटत परस तैं तिय-लोचन-पिय-पानि ॥ मतिराम

दृग मिहिचति मृगलोचनी भर्‌यौ, उलटि भुज, बाथ ।
जानि परत तिय नाथ के हाथ परस हीं हाथ ॥ बिहारी

"होत दस गुनौ ग्रंक है दिएँ एक ज्यौं बिन्दु ।
दिएँ डिठौना यौं बढ़ी ग्रानन ग्राभा इन्दु ॥" मतिराम

कहत सबै बेंदी दिएं ग्रांकु दसगुनौ होतु ।
तिय लिलार बेंदी दिएं, ग्रगनितु बढ़तु उदोतु ॥ बिहारी

राम सतसई (श्रृंगार सतसई) तथा बिहारी सतसई—

"बिरह आँच नहिं सहि सकी सखी भई बेताब।
चनकि गई सीसी गयौ छिटकत छनकि गुलाब ॥" राम सतसई
औंधाई सीसी, सुलखि बिरह वरति विललाति।
बिचहीं सूखि गुलाब गौ छींटौ छुई न जात ॥ बिहारी
"सगरब गरब खिचै सदा चतुर चितेरे आइ।
पर वाकी बाँकी अदा नैंकु न खींची जाइ ॥" राम सतसई
लिखन बैठि जाकी सबी गहि गहि गरब गरूर।
भए न केते जगत के चतुर चितेरे कूर ॥ बिहारी
"जुग जुग ए जोरी जियैं यों दिल काहु दिया न।
ऐसी और तिया न हैं ऐसे और पियान ॥" राम सतसई
चिरजीवौ जोरी जुरै क्यों न सनेह गंभीर।
को घटि ए वृषभानुजा वे हलधर के बीर ॥ बिहारी
"ठकुराइन पाइन चितै नाइन चित चकवाइ।
फिरि फिरि जावक देति है फिर फिरि जाइ समाइ ॥" राम सतसई
पाँइ महाबरु दैन कूं नाइनि बेठी आइ।
फिरि फिर जानि महाबरी एड़ी मींड़ति जाइ ॥ —बिहारी

'आर्यागुम्फ' और "बिहारी सतसई"—

"दत्तममकर्णनमिह सम्यगथाभूद्वृथा ममाह्वानम्।
मन्ये तारणविरुदस्त्यक्तो द्विरदं समुत्तार्य ॥" —आर्यागुम्फ
नीकी दई अनाकनी फीकी परी गुहारि।
तज्यौ मनौ तारन बिरुद बारक बारन तारि ॥ —बिहरी
"सा राधा भवबाधामपहरतु नागरिकी।
यस्यास्कान्त्या कान्तः श्यामो हरिर्भवति ॥" —आर्यागुम्फ
मेरी भवबाधा हरौ राधा नागरि सोइ।
जा तन की झांई परैं स्यामु हरित दुति होइ ॥ —बिहारी

"श्रृङ्गार सप्तशती" और बिहारी सतसई—

"मस्तक मण्डितमुकुटवर हृदय लसित वनमाल।
मम हृदये बस कटिरसन मुरलीधर गोपाल॥"—श्रृंगार सप्तशती

सीस मुकट कटि काँछनी कर मुरली उर माल।
वहि बानकु मो मन बसो सदा बिहारीलाल॥ —बिहारी

"अपनय भवबाधां मम राधे! त्वं कुशलासि।
हरिरपि दधति हरिद्द्युतिं, यदि माधवमुपयासि॥" श्रृङ्गार सप्तशती

मेरी भवबाधा हरौ राधा नागरि सोइ।
जा तन की झाँईं परैं स्यामु हरित दुति होइ॥ —बिहारी

'बिहारी-सतसई' का साहित्यिक-मूल्यांकन

हिन्दी साहित्य का इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि प्रत्येक साहित्यिक युग ने हिन्दी को एक महान् कवि तथा उसकी एक महत्तम कृति हमें प्रदान की है। वीरगाथाकाल ने यदि चन्दबरदाई और "पृथ्वीराज रासो", भक्तिकाल ने तुलसी और "मानस" तथा आधुनिक काल ने "प्रसाद और कामायनी" हमें महाकवि तथा महान् काव्य कृतियों के रूप में दीं तो रीतिकाल ने भी हमें बिहारी तथा उनकी सतसई देकर साहित्य के क्षेत्र में श्रीवृद्धि की। बिहारी ने यद्यपि उक्त महाकवियों की भाँति हमें कोई महाकाव्य तो नहीं दिया परन्तु 'बिहारी सतसई' ने यह अवश्य सिद्ध कर दिया कि 'सूर सागर' की परम्परा में लिखा जाने वाला 'बिहारी सतसई' जैसा मुक्तक-ग्रन्थ भी 'मानस' और 'कामायनी' की भाँति साहित्यिक कीर्त्ति का अक्षयस्तम्भ हो सकता है। देशविदेश के अनेक विद्वानों ने इस ग्रन्थ की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। भारतीय साहित्य के सुधी समीक्षक आचार्य ग्रियर्सन ने 'बिहारी सतसई' की 'लालचन्द्रिका-टीका की भूमिका में तो यहाँ तक कहा है कि ऐसा ग्रन्थ उन्हें यूरोप की किसी भाषा के साहित्य में देखने को नहीं मिला—

"Bihari Lal hasbnee called the Thompson of India; but I do not think that he or any of his brother-poets of Hindustan can be usefully compared with any western poet, I know nothing like his verses in any European Language,"

इतना ही नहीं 'इम्पीरियल गजेटियर' में किसी पाश्चात्य लेखक ने बिहारी की भूरि-भूरि प्रशंसा की है :—

"Surdas had many successors, the most famous of whom was Behari Lal of Jaipur, whose satsaiya is

one of the dentiest pieces of art in any Indian Language,"

'रामचरित मानस' के पश्चात् हिन्दी में अब तक कोई ऐसा ग्रन्थ नहीं मिलता जिस पर 'बिहारी सतसई' के बराबर टीकाएँ लिखी गई हों। स्वर्गीय रत्नाकर जी ने 'बिहारी सतसई' पर लिखी गई ५२ टीकाओं की ओर संकेत किया है। रत्नाकर जी के ग्रन्थ के प्रकाशन के पश्चात् भी बिहारी पर अनवरत रूप से शोधकार्य होता रहा है। आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र तथा डाक्टर हरवंश लाल आदि अनेक ख्यातिनाम आलोचकों के प्रयत्न इस क्षेत्र में विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इस बीच यों तो बिहारी पर अनेक पुस्तकें लिखी गईं परन्तु उनमें श्री विश्वनाथप्रसाद जी मिश्र की पुस्तक का ही पिष्टपेषण होता रहा। आधुनिक युग में लिखी गई सतसई की टीकाओं में 'रत्नाकर' तथा भगवानदीन की टीकाओं ने विशेष ख्याति प्राप्त की। 'रत्नाकर' जी ने बिहारी सतसई की भाषा का व्याकरणसम्मत एवं वैज्ञानिक रूप स्थिर किया तो लाला भगवानदीन जी ने उसके के अलंकारों को स्पष्ट किया। वस्तुत: ये दोनों टीकाएँ एक दूसरी की पूरक हैं। रत्नाकर जी की टीका में अलंकारों का अभाव उतना ही अखरता है जितना कि 'दीन' जी की टीका में मूलपाठ की शुद्धि का अभाव। इसके अतिरिक्त इन दोनों टीकाओं में जो सर्वाधिक अभाव था—वह तुलनात्मक अध्ययन का। यहाँ तुलनात्मक अध्ययन का तात्पर्य 'देव तथा बिहारी' अथवा 'बिहारी और मतिराम' की तुलना से नहीं है, अपितु यह कहने का अभिप्राय है कि बिहारी पर किन का प्रभाव पड़ा तथा बिहारी ने किन पश्चाद्भावी कवियों को प्रभावित किया? इस अभाव को ध्यान में रखकर ही इन पंक्तियों के लेखक ने इस ग्रन्थ की टीका करना अपना कर्त्तव्य समझा। इस विषय पर हम पृथक् रूप से लिख चुके हैं, तथा टीका भाग में भी इस दिशा की ओर प्रभूत संकेत किए गए हैं। यहाँ हमारा आशय उन तथ्यों को स्पष्ट करने का है जिनके आधारस्वरूप यह ग्रन्थ हिन्दी काव्यमर्मज्ञों का कण्ठहार बना है।

'बिहारी सतसई' की अक्षयकीर्त्ति के भावपक्ष एवं कलापक्ष सम्बन्धी अनेक आधार हैं। शृङ्गाररस के मिलन तथा विरहात्मक क्षेत्र के बहुविध स्वरूप,

नायक नायिका भेद, नखशिख चित्रण, भक्ति विह्वलहृदय के सहजोद्गार, प्रकृति का चित्रात्मक उपस्थापन, नीति विषयक उक्तियों का यथास्थान संकेत, सशक्त-प्रांजल शैली में अलंकार-रीति तथा गुणों के माध्यम से रसाभिव्यंजना तथा कोमलकान्तपदावली, वाग्वैदग्ध्य, अनुभाव एवं प्रसंगावतरण आदि अनेक आधार ऐसे हैं जिनसे 'बिहारी सतसई' सम्पूर्ण रीतिकाल के साहित्य रूपी तक्र में से नवनीत के समान पृथक् होकर अपनी सहज नैसर्गिक-स्निग्धता के कारण अब तक सब के मन को आकर्षित करती रही है।

"बिहारी सतसई" में समासपूर्ण पदावली—

बिहारी से पूर्व ब्रजभाषा में व्यासप्रधान शैली की कविताएँ लिखी जाती थीं। उनसे पूर्व यद्यपि तुलसीदास तथा सूरदास ने कहीं-कहीं समस्त पदावली का प्रयोग किया था परन्तु उन्हें इसमें अधिक सफलता न मिली। इस असफलता का कारण भी स्पष्ट है। इन दोनों कवियों की शैली ऐसे स्थलों पर पूर्णत: संस्कृत परिनिष्ठित हो गई। 'विनय पत्रिका' के स्तोत्र तथा 'साहित्यलहरी' के कूट पदों में ब्रजभाषा की नैसर्गिक चारुता का अभाव है तथा संस्कृत शैली का प्रभाव है। बिहारी ने सर्वप्रथम यह सिद्ध कर दिया कि विशुद्ध ब्रजभाषा में भी समास-पूर्ण शैली का प्रयोग किया जा सकता है। बिहारी 'गागर में सागर' भर देने के लिए विख्यात हैं। उन्होंने ४८ मात्रा के छोटे से छन्द—दोहा—में ही उतनी बातों को एक साथ कह डाला है जो कि अनेक कवि सवैया, कवित्त तथा छप्पय जैसे दीर्घ छन्दों में नहीं कह पाते हैं। उनके दोहे आकार में लघु होने पर भी प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से महान् हैं। इस तथ्य की ओर निम्न दोहे में संकेत भी किया गया है :—

"सतसैया के दोहरे ज्यौं नावक के तीर।
देखत में छोटे लगैं घाव करैं गम्भीर॥"

यह शक्ति तथा सामर्थ्य उन्हीं कवियों में मिल सकती है जिन्हें भाषा के मर्म से पूर्ण परिचय हो। ब्रजभाषा की आत्मा से बिहारी बखूबी परिचित थे। वे यह जानते थे कि किस स्थान पर कौनसा शब्द विशेष प्रभावपूर्ण हो सकता है। बिहारी ने इस उद्योग में सफल होने के लिए उर्दू तथा फ़ारसी एवं अन्य

प्रान्तों की शब्दावली का खुलकर प्रयोग किया। बिहारी की भाषा के लिए किसी कवि ने सत्य ही लिखा है :—

ब्रजभाषा बरनी सबै कविवर बुद्धि बिसाल।
सब की भूषण 'सतसई' रची बिहारीलाल ॥"

बिहारी ने साङ्गरूपक तथा उत्प्रेक्षा अलंकारों के प्रयोग में इस समास शैली को अपनाया है। उनके इस प्रकार के दोहों में दो उद्देश्यों की सिद्धि हो जाती है। पहले तो शब्दलाघव के द्वारा उनका भाव सहज मनःस्पर्शी हो जाता है, दूसरे अलङ्कारों की छटा से वह भाव साङ्गोपाङ्ग रूप में श्रोता तथा सहृदय पाठकों को मोह लेता है। यह उनकी समास शैली का ही सामर्थ्य है जो कि एक विशदभाव की रक्षा एवं प्रेषणीयत्व की सृष्टि भी कर लेती है। स्व० आचार्य पद्मसिंह शर्मा ने इसी तथ्य को भगीरथी का रूपक देकर स्पष्ट किया है :—

"ज़रा से दोहे में जो अर्थ सिमटा बैंठा था वह वहाँ से निकलते ही इतना फैल गया कि कुण्डलियों और कवित्तों के बड़े मैदानों में नहीं समा सका। मानों गंगा का का समृद्ध प्रवाह है जो शिवजी की लटों में से निकलकर किसी के काबू में नहीं आता। ऐसी भागीरथी के प्रवाह को किसी बड़े गढ़े में भर कर रखना सामर्थ्य से बाहर है।"

श्री राधाकृष्णदास के मतानुसार "उत्प्रेक्षा और मुहाविरों के तो बिहारी बादशाह थे। हिन्दी में ऐसे गठे हुए वाक्य और ऐसे बोलचाल के शब्द कहीं भी नहीं पाये जाते जैंसे कि बिहारी सतसई में मिलते हैं।" देव के प्रबल समर्थक मिश्रबन्धुओं ने भी बिहारी सतसई की प्रशंसा में कहा है कि "बिहारी की भाषा बड़ी मनोहर है। इनके सभी शब्दों में झलमलाहट, जगमगाहट तथा चमकीलापन मिलता है। ऐसे शब्दों का चयन करते हैं कि दोहा चमचमा उठता है। भाषा भावों के अनुसार ही परिवर्त्तित होती है—तथा "बिहारी की कविता यदि जुही की कलि या चमेली का फूल है तो देव की कविता गुलाब या कमल-कुसुम।"

बिहारी के दोहे अर्थगांभीर्य के लिए भी प्रसिद्ध हैं। श्रेष्ठ कविता में यह गुण होना आवश्यक है कि उसे जब-जब पढ़ा जाए तब-तब उसमें नवीन अर्थों की

अवधारणा हो सके। यह गुण प्रयोगवादी कवियों की रचना को छोड़कर हिन्दी के आधुनिकतम अच्छे से अच्छे कवि की कृतियों में उपलब्ध हो जाता है। श्री वियोगीहरि ने 'वीर सतसई' की भूमिका में विहारी के अर्थ गाम्भीर्य के विषय में सत्य ही कहा है कि "इनका एक-एक दोहा टकसाली रत्न है। इस क्षीरसागर के रत्नों की अनेक जौहरियों ने परख की, किन्तु उनकी ठीक-ठीक कीमत कोई भी न जाँच सका। कितनी टीकाएं हुईं, कितनी युक्तियाँ पेश हुईं, परन्तु सन्तोष कहीं पर भी नहीं हुआ।" वस्तुतः उपर्युक्त प्रशंसाएं अत्युक्तिमूलक नहीं है। इन विविध विद्वानों के बहुकालपर्यन्त बिहारी साहित्य मंथन के अनन्तर प्राप्त निष्कर्षों को ही यहाँ प्रस्तुत किया गया है।

किसी कवि ने 'बिहारी सतसई' के विषय में ठीक ही कहा है :—

"भाँति भाँति के बहु अरथ यामें गूढ़ अगूढ़।
जाहि सुनै रसरीति कौ मगु समुझत मतिमूढ़॥
जो कोऊ रसरीति कौ समुझै चाहै सारु।
पढ़ै बिहारी सतसई कविता कौ सिङ्गारु॥
उदै अस्त लौं अवनि पैं सबकौं याकी चाहि।
सुनत बिहारी सतसई सबहिं सराहि सराहि॥"

जिस प्रकार उपमा, अर्थगौरव तथा पदलालित्य के लिए कालिदास, भारवि, दण्डी अथवा नैषध (श्रीहर्ष) एवम् माघ आदि का संस्कृत काव्य में स्थान है—

"उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थ गौरवम्।
नैषधे (दण्डिनः) पदलालित्यम् मागे सन्ति त्रयोर्गुणाः॥"

उसी प्रकार 'माघेसन्तित्रयोर्गुणाः' के समान हिंदी ब्रजभाषा में बिहारी उपर्युक्त समस्त गुणों से युक्त कविता की रचना करने में अप्रतिम हैं। पिछले अध्यायों में 'बिहारी सतसई' के कलापक्ष के विषय में पर्याप्त विवेचन किया जा चुका है; अतः यहाँ हम कतिपय अन्य तथ्यों को भी प्रस्तुत करना चाहेंगे जिनसे 'बिहारी सतसई' का सम्यक् मूल्याङ्कन किया जा सके।

'बिहारी सतसई' में प्रसंग विधान—

जिस प्रकार कथाक्षेत्र में उपन्यास के लिए जीवन का व्यापक परिप्रेक्ष्य

रहता है उसी प्रकार कहानीकार के सम्मुख उस विराट् घटनासमूही जीवन की कोई विशेष घटना हुआ करती है। कविता में भी इसी तथ्य को देखा गया है। प्रबन्धकाव्य की रचना में कवि को पर्याप्त स्वतन्त्रता रहती है। बीच बीच में शुद्ध कथात्मकता का द्योतन करने वाली 'आगे चले बहुरि रघुराई। रिस्यूमूक पर्वत निअराई' जैसी पंक्तियाँ भी आ जाती हैं जो शुद्ध कवित्व की दृष्टि से तनिक भी मूल्य नहीं रखतीं परन्तु मुक्तककार के लिए ऐसे बन्धन होते हैं कि वह जीवन के उन्हीं मार्मिक प्रसंगों की अवतारणा अपने छन्दों में करे जो कि तुरन्त ही पाठकों का हृदय अपनी ओर खींच लें। इसके लिए मुक्तककार में सूक्ष्मदर्शिनी प्रतिभा के साथ-साथ मर्मान्वेषिणी शक्ति की भी अपेक्षा होती है। 'विहारी सतसई' में ऐसे अनेक दोहे आए हैं जिनमें विहारी ने स्वतन्त्र रूप से प्रसङ्गों की अवधारणा की है। विहारी के पूर्ववर्त्ती हिन्दी के मुक्तक कवियों ने संस्कृत के परम्परागत प्रसंगों का ही अनुकरण किया परन्तु उन्होंने नवीन प्रसंगों के विधान के लिए सर्वथा मौलिक एवं नूतन क्षितिजों का निर्माण किया। संस्कृत-प्राकृत एवं अपभ्रंश के राधाकृष्ण एवं नायक-नायिका मूलक मुक्तक काव्य में कुछ रूढ़ियाँ बन गई थीं जिन्हें हिन्दी के कवियों ने (कहीं-कहीं पर विहारी ने भी) स्वीकार कर लिया। विहारी का रूढ़िगत प्रसंग विधान निम्न दोहे से स्पष्ट हो जाता है :—

> "विथुर्‌यौ जावकु सौति पगु निरखि हँसी गहि गासु।
> सलज हँसौंहीं लखि लियौ आधी हँसी उसाँसु॥"

यहाँ वे ही पाठक इस दोहे का रसास्वाद कर सकेंगे जो इस तथ्य से परिचित होंगे कि कम्प शृङ्गार का सात्विक भाव है, और नायक ने परकीया नायिका के पैरों में जो महावर लगाया था वह कम्प के कारण ही बिखर गया। स्वकीया यह देखकर तुरन्त ही समझ लेती है कि अवश्य ही इसके पगों पर महावर नायक ने लगाया होगा। इसी प्रकार कहीं कहीं विहारी ने जो मौलिक प्रसंगों की उद्‌भावना की है वह भी दर्शनीय है। नायक तथा नायिका किसी कंकरीले मार्ग पर होकर जा रहे हैं। नायक के पैरों में बार-बार कंकड़ी गढ़ जाने से नायिका (असंगति अलंकार के कारण) दुःख से 'सी-सी' करने लगती है। नायक को उसका ऐसा करना बहुत अच्छा लगता है, इसलिए वह जानबूझकर

उसी मार्ग पर चलने लगता है :—

नाक चढ़ै सीबी करै जितैं छबीली छैल।
फिरि फिरि भूलि वहै गहै प्यौ कँकरीली गैल ॥

कुछ आलोचकों ने यहाँ देवदर्शन के दूरारूढ़ प्रसंग की उद्भावना कर डाली है—नंगे पैर चलने के कारण। गाँव में अब तक पैरों में बिना कुछ पहन कर खेतों तक तथा पास पड़ौस के गाँवों तक चले जाने की आदमियों में आदत देखी जाती है; अत: वे दोनों (नायक तथा नायिका) किसी मन्दिर आदि में न जाने की अपेक्षा गोचारण आदि के लिए यों ही कहीं वनप्रान्त की ओर जा रहे हैं। बिहारी के प्रसंगों में दोनों प्रकार के चित्र मिलते हैं। एक ओर नागरिक नायक तथा नायिकाओं के वर्णन हैं तो दूसरी ओर ग्रामीण प्रेमी एवं प्रेमिकाओं के वर्णन हैं ! पिछला दोहा ग्रामीण प्रसंग की उद्भावना का है। बिहारी ने इन दोहों में जिन प्रसंगों की अवतारणा की है उनसे सामाजिक स्थिति का व्यंग्यपूर्ण चित्र भी प्रस्तुत हो जाता है । वैद्य-कथावाचक तथा ज्योतिषी के प्रसंग ऐसे ही हैं। वैद्य जी स्वयं नपुंसक हैं परन्तु दूसरों को पारदभस्म दे रहे हैं, कथावाचक परस्त्रीगमन-निषेध का तो उपदेश दे रहे हैं परन्तु कनखियों से अपनी परकीया प्रेमिका को देखकर हँसी रोकने की चेष्टा कर रहे हैं, इसी प्रकार ज्योतिषी महाशय को पितृमारक योग में पुत्रोत्पत्ति देखकर बड़ा दुःख होता है, परन्तु जब उन्हें यह ज्ञात होता है कि यह तो जारज (अन्य व्यक्ति से उत्पन्न) संतान है तो उन्हें प्रसन्नता भी होती है, और हो भी क्यों नहीं ! एक ओर तो उन्हें पुत्र मिल गया दूसरे उनकी प्राणरक्षा भी हो गई और तीसरे उनके प्रतिद्वन्द्वी (ज्योतिषी जी की पत्नी का प्रेमी-उपपति) के मरजाने का भी विश्वास हो गया :—

"बहु धनु लै, अहसानु कै, पारौ देतु सराहि।
बैदबधू, हंसि भेद सौं, रही नाह मुँह चाहि ॥
परतिय दोष पुरान सुनि, लखि मुलकी सुखदानि।
कसुकरि राखी मिश्र हूँ मुँह आई मुसकानि ॥
चित पितमारक जोगु गनि, भयौ, भयैं सुत, सोगु।
फिरि हुलस्यौ जिय जोइसी, समुझैं जारज जोगु ॥"

परन्तु खेद यही है कि बिहारी ने प्रसंगोद्भावना की इस अद्भुत क्षमता का प्रयोग उचित रूप में नहीं किया है। यदि वे इन प्रसंगों के माध्यम से प्रेम के स्वस्थ एवं उदात्त-स्वरूप का चित्रण करते तो निस्सन्देह 'बिहारी सतसई' का साहित्यिक मूल्य और बढ़ जाता।

'बिहारी सतसई' में वाग्वैदग्ध्य, उक्तिवैचित्र्य तथा वक्रोक्तिविधान—

किसी साधारण बात को भाव एवं अभिव्यक्ति के असाधारण कवि प्रतिभोत्थित कल्पना-व्यापार के द्वारा कहना ही वाग्वैदग्ध्य तथा उक्तिवैचित्र्य कहलाता है। जिस कवि में ये शक्तियाँ जितनी प्रचुर मात्रा में होंगी उतनी ही उसकी कविता में सुष्ठुता एवं चारुता आएगी। यह चारुता कहीं प्रयत्नसाध्य होती है तो कहीं अनायास ही कवि की नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा से अद्भुत प्रतिभा के कारण उत्पन्न होती है। वाग्वैदग्ध्य तथा उक्तिवैचित्र्य के लिए भावपक्ष एवं कलापक्ष का सन्तुलन होना आवश्यक है। प्रायः यह सन्तुलन विरले कवियों में ही देखा जाता है। कबीर और जायसी के काव्य में यदि भावपक्ष सबल है तो केशवदास में कलापक्ष अपनी चरमसीमा पर है। उत्तमकाव्य की रचना इन दोनों पक्षों के संगम के बिना सम्भव नहीं। बिहारी के दोहों की कसावट में वाग्वैदग्ध्य तथा उक्तिवैचित्र्य का भी महत्वपूर्ण योग रहा है। इस वैदग्ध्य तथा वैचित्र्य के उत्पादन के लिए बिहारी ने श्लेष, रूपक तथा उपमा आदि अलंकारों को अपना माध्यम बनाया है। नीचे के दोहे में 'श्लेष' के प्रयोग से ही कवि ने वाग्वैदग्ध्य की अवतारणा की है :—

"त्यौं त्यौं प्यासेई रहत ज्यौं ज्यौं पियत अघाइ।
सगुन सलौने रूप की जु न चख तृषा बुझाइ॥"

यहाँ 'सलौने' शब्द के श्लेष से ही विदग्धता आई है। परन्तु यहाँ यह स्मरणीय तथ्य है कि बिहारी ने जिस श्लिष्ट शब्द का प्रयोग किया है वह सर्वसाधारण की योग्ता से बाहर का नहीं है। इसी प्रकार उक्तिवैचित्र्य के उदाहरण भी बिहारी में ढूंढ़े जा सकते हैं। किसी तथ्य को स्पष्ट करने अथवा किसी मुद्रा का निरीक्षण करने की जो विशिष्ट पद्धति है उसी को उक्तिवैचित्र्य कहा जाता है। तथ्य एवम् मुद्राओं का वर्णन निम्न दोहों से स्पष्ट हो जाता है :—

"कीन्हे हूँ कोरिक जतन अब कहि काढ़ैं कौनु ।
भौ मन मोहन रूप मिलि पानी में कौ लौनु ।।
भौंह उंचैं, आँचरु उलटि मौर मोरि मुहुँ मोरि ।
नीठि नीठि भीतर गई, दीठि दीठि सौं जोरि ।।

बिहारी के वक्रोक्ति विधान को समझने के लिए आचार्य कुन्तक द्वारा लिखित 'वक्रोक्ति जीवित' का अध्ययन करना अनावश्वक न होगा। कुन्तक के पूर्ववर्त्ती आचार्य भामह ने वक्रोक्ति को शब्द एवम् आर्थ दो भागों में बाँटा है। भामह ने लिखा है कि लोकातिक्रान्तगोचर अतिशय की उक्ति से कथन में वक्रता आती है। उदाहरण के लिए यदि किसी व्यक्ति के लिए कहा जाए कि 'वह वृद्ध हो गया है'—तो इसमें कोई लोकातिक्रान्तता नहीं होगी, परन्तु इसी बात को यदि यों कहा जाए कि 'उसके जीवन की संध्या आ गई है' तो इस उक्ति में एक प्रकार की वक्रता आ जाएगी। कुन्तक के मतानुसार 'विचित्र अभिधा' ही वक्रोक्ति है। यह वक्रोति लोकव्यवहार से भिन्न वैदग्ध्यपूर्ण हुआ करती है। इस विदग्धता का अभिप्राय कविकर्म कुशलता से है, अत: केवल शब्द और अर्थों की क्रीड़ा से वक्रोक्ति नहीं हो जाती। कुन्तक ने इसी प्रतिभा अथवा कविकर्मकौशल पर अधिक बल दिया है :—

"प्रतिभा प्रथमोद्भेदसमये यत्र वक्रता।
शब्दाभिधेययोरन्तः स्फुरतीव विभाव्यते ।।"
(वक्रोक्ति काव्यजीवित—कुन्तक)

कुन्तक ने इस वक्रता के भी अनेक भेद किए हैं जिनमें वर्णविन्यासवक्रता, उपचार वक्रता, विशेषण वक्रता, संवृत्ति वक्रता, वृत्ति वक्रता, पदपूर्वपरार्द्ध वक्रता कालवैचित्र्य-वाक्य एवम् प्रकरण वक्रता आदि प्रमुख हैं। बिहारी वक्रोक्ति के धनी हैं। उनकी सतसई में इस वक्रोक्ति के अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं। बिहारी की वक्रता के कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं :—

"दु:खी होहुगे सरल चित बसत त्रिभंगीलाल।
हठ न करौ अति कठिन है मो तारिबो गुपाल ।।

कत बेकाज चलाइयत चतुराई की चाल।
कहैं देत यह रावरे सब गुन बिनगुन माल॥
किती न गोकुल कुलवधू काहि न किन सिखदीन।
कौन तजी नहिं कुलगली ह्वै मुरली सुर लीन॥"

'बिहारी सतसई' में अनुभाव-व्यंजना—

बिहारी में अनुभाव एवम् मुद्राओं का चित्रण स्वतन्त्र रूप से मिलता है। उन्होंने संस्कृत काव्यशास्त्र की शृङ्खलाओं में बंधकर अनुभावों की व्यंजना नहीं की। अनुभाव एवम् मुद्राओं के चित्रण में बिहारी ने जो मौलिकता दिखाई है वह हिन्दी के बहुत कम कवियों में मिलती है। ब्रजभाषा के कवियों में उनकी परम्परा का निर्वाह करने वाले केवल 'रत्नाकर' जी हैं। बिहारी का अनुभाव वर्णन अत्यन्त हृदयग्राही है। बिहारी ने भावों की व्यंजना न करके, अनुभावों के माध्यम से ही उन्हें व्यक्त किया है। मुक्तककाव्य की सफलता के लिए अनुभावों की योग्यता नितान्त आवश्यक होती है। बिहारी ने इन अनुभावों के नियोजन में भी विशेष परिष्कृत रुचि का परिचय दिया है। एक भाव के अन्तर्गत अनेक अनुभाव हुआ करते हैं, उनमें से कतिपय प्रभावोत्पादक एवम् रसोद्रेकी अनुभावों का चयन करने में बिहारी को अद्‌भुत सफलता मिली है। यदि व्यापक दृष्टि से देखा जाए तो यह स्पष्ट हो जाता है कि हावों तथा चेष्टाओं को भी 'अनुभाव' के अन्तर्गत लिया जा सकता है। कहीं प्रसंगवश इन्हें उद्दीपन में भी लिया जा सकता है क्योंकि शृंगार रस में नायक तथा नायिका परस्पर एक दूसरे के आलम्बन तथा आश्रय हुआ करते हैं। नीचे के दो उद्धरणों में बिहारी ने व्याकुलता एवम् मोह के भावों का वर्णन किया है—परन्तु स्पष्ट रूप से नहीं। यहाँ भी वे अनुभावों को ही अपना आधार बनाकर चलते हैं:—

"कहा लड़ैते दृग करे परे लाल बेहाल।
कहुँ मुरली कहुँ पीत पटु कहूँ मुकुटु बनमाल।
रही दहेंड़ी ढिग धरी, भरी मथनिया बारि।
फेरति कर उलटी रई नई बिलोवनि हारि॥"

इस प्रसंग में यह बात और स्मरणीय है कि बिहारी ने अधिकतर नायिकाओं

के मिलन विरह सम्बन्धी शृंगार रसपरक अनुभावों की व्यंजना ही अपनी सतसई में की है।

प्रस्तुत विषय का और अधिक विवेचन करना यहाँ अप्रासंगिक होगा क्योंकि पीछे हम बिहारी के वाङ्मयवैविध्य के विश्लेषण में तथा अन्य निबन्धों में 'बिहारी सतसई' की विशेषताओं का विशद वर्णन कर चुके हैं। सारांश यह है कि बिहारी अपने युग के श्रेष्ठ कवि तथा 'बिहारी सतसई' अपने काल की उत्कृष्ट कलाकृति है। 'बिहारी सतसई' में भावपक्ष एवं कलापक्ष का सन्तुलन, प्रकृति के रमणीक दृश्यों का नियोजन, सुकुमार अलंकार विधान, वाग्वैदग्ध्य, वक्रोक्ति नियोजन, मानव प्रकृति के सजीव चित्रण, शृंगार रस के मिलन एवं विप्रलंभ पक्ष का सुरम्य उद्घाटन तथा लोक व्यवहार एवं नीतिशास्त्र का विचक्षण विश्लेषण– यह सभी कुछ एक साथ मिल जाता है। बिहारी साहित्य के उस मिलनबिंदु पर स्थित हैं जहाँ संस्कृत-प्राकृत एवं अपभ्रंश की काव्य परम्परा आकर रुकती है और जहाँ से हिन्दी के शृंगारपरक काव्य के परवर्ती स्वरूप का एक नया मोड़ प्रारम्भ होता है। उनमें विद्वत्ता एवं कवि प्रतिभा का द्विविध व्यक्तित्व 'पानी में कैं लौन' की भाँति मिल गया है। राधाकृष्णदास का बिहारी के विषय में निम्नलिखित मत बहुत कुछ सत्य है :—

"यदि सूर सूर है, तुलसी ससी और उडुगन केसवदास हैं तो बिहारी उस पीयूषवर्षी मेघ के समान है जिसके उदय होते ही सबका प्रकाश आच्छन्न हो जाता है, फिर उसकी वृष्टि से कवि कोकिल कुहकने, मनोमयूर नृत्य करने और चतुर चातक चहकने लगते हैं, फिर बीच बीच में लोकोत्तर भावों की विद्युत् चमकती है और हृदयच्छेद कर जाती है।"

'बिहारी सतसई' की शृंगारपरकता के लिए किसी कवि ने यथार्थ ही कहा है :—

"स्याम राम रति में पगे तुलसी सूर निहाल।
बूड़े रस शृंगार में चतुर बिहारीलाल॥"

रीतिकाल की ऐतिहासिक-सामाजिक एवं सांस्कृतिकपृष्ठभूमिका

किसी भी साहित्यिक युग अथवा कवि का मूल्याङ्कन तब तक पूर्ण नहीं समझा जाता जब तक कि हम उसके युग की ऐतिहासिक-सामाजिक-धार्मिक-नैतिक एवं सांस्कृतिक परम्पराओं की ओर दृष्टिपात न किया जाय। आचार्य शुक्ल का इतिहासअब तक हिन्दी-साहित्य का मापदण्ड रहा है। अनेक दृष्टियों से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका विश्लेषण एक सुनिश्चित चिन्तनधारा में होकर प्रस्फुटित हुआ है, अतः उसमें इतिहास की तिथि एवं नामावली प्रस्तुत करने का तत्व प्रमुख रहा है, सामाजिक परिप्रेक्ष्य में उन्होंने किसी युग अथवा कवि को नहीं देखा है। शुक्लजी के सम्मुख ऐसी अनेक सीमाएं थीं जिनके फलस्वरूप वे यह-सब नहीं दे पाए। अस्तु, हमें यहाँ शुक्लजी अथवा अन्य किसी समीक्षक की व्यक्तिगत सैद्धान्तिक परम्परा पर विचार करना अभीष्ट नहीं है। रीतिकाल की कविता के साहित्यिक मूल्याङ्कन में पूर्वाग्रहों ने भी पर्याप्त योग दिया। हम यह मानते हैं कि भक्तिकालीन काव्य के समान उसमें सामन्तवाद के विरुद्ध खुली-ललकार देने की सामर्थ्य नहीं है, तुलसी तथा सूर जैसे महाकवि एवं 'रामचरित-मानस' जैसा महाकाव्य भी उसमें नहीं मिलते फिर भी रीतिकाल की कविता में ऐसे अनेक तत्व हैं जिनके कारण उसका उदारतापूर्ण समीक्षण होना आवश्यक था, जो नहीं हो सका। यहाँ हमारा उद्देश्य रीतिकाल की कविता के सामाजिक पक्ष का उद्घाटन करना ही है। इसके लिए तत्कालीन इतिहास की ओर हमें मुड़ना होगा।

शुक्लजी ने यद्यपि सं० १७०० से १९०० वि० तक रीतिकाल को माना है। परन्तु अब अनेक विद्वानों की खोज के आधार पर यह तथ्य सर्वविदित हो गया है कि हिन्दी कविता में रीति अथवा शृङ्गार के तत्वों का आधान आदिकाल से ही होता रहा था। श्री रमेशकुमार शर्मा ने अपनी थीसिस "रीति कविता का आधुनिक हिन्दी कविता पर प्रभाव" लिखते समय 'पृथ्वीराजरासो' में ऐसे अनेक प्रसंगों का वर्णन किया है जिनमें रीतिकाव्य के तत्व अस्पष्ट रूप से अंकुरित

होने लगे थे। हाँ यह अवश्य सत्य है कि रीतिकाव्य के विकास एवं पतन की कहानी १७०० से १९०० वि० तक के अन्तराल में ही संघटित हुई है। जहाँगीर के बाद संवत् १७०० में सम्राट् शाहजहाँ भारत की राजगद्दी पर बैठा। शाहजहाँ ने जहाँगीर के राज्य की सीमाओं का भौगोलिक विस्तार भी किया। दक्षिण में बीजापुर-गोलकुण्डा तथा अहमद नगर तक उत्तर पश्चिम में कन्धार तक मुगलों का साम्राज्य फैल गया। किन्तु यह उत्कर्ष कुछ ही दिनों तक रहा। मुगलसेना पश्मोत्तर सीमा पर तीन बार पराजित हुई। मध्यएशिया के अभियानों में भी उसे विजय नहीं मिल सकी। परिणाम यह हुआ कि जो विशाल साम्राज्य अकबर ने स्थापित किया था, उसकी जड़े शाहजहाँ के शासनकाल के अन्तिम दिनों में आकर हिलने लगीं। राज्यकोष निरन्तर सेना पर व्यय किया जाने लगा। सेना के उच्चाधिकारियों को वेतन की अपेक्षा जागीरें देना प्रारम्भ हो गया, परिणाम स्वरूप केन्द्रीय सत्ता विखण्डित होने लगी। यही वह समय था जब हिन्दी कविता के मूल में भी घुन लगना प्रारम्भ हो गया। संवत् १७१५ में सम्राट् शाहजहाँ सख्त बीमार पड़ा। उसके चारों पुत्र दारा-शुजा-औरंगजेब और मुराद गद्दी के लिए परस्पर लड़ने लगे। शाहजहाँ अपने बड़े पुत्र दाराशिकोह को सम्राट् बनाना चाहता था। उधर औरंगजेब दारा की अपेक्षा अधिक कूटनीतिज्ञ एवं योद्धा था। दारा और मुराद को तो उसने क्रमशः युद्ध एवं बन्दीगृह में मार डाला। शुजा अराकान की पहाड़ियों की तरफ भाग गया, जहाँ से कभी लौटकर नहीं आ पाया। संवत् १७१५ से १७६४ तक प्रायः आधीशताब्दी तक भारत पर औरंगजेब का शासन रहा। उसके शासन के लगभग पहले २० वर्ष तो देश की आन्तरिक अवस्था को व्यवस्थित करने में बीत गए—उधर फिर दक्षिण में विद्रोह की आग भड़कने लगी। शाहजहाँ अपने शासन के उत्तरकाल में हिन्दुओं के विरुद्ध जो घृणापूर्ण-वातावरण की पृष्ठभूमि प्रस्तुत कर गया उसी पर औरंगजेब की धार्मिक असहिष्णुता की क्रूर पताका फहराई। उसने काशी के विश्वनाथ एवं मथुरा के केशवदास के मन्दिरों को तुड़वाकर मूर्त्तिभंजन कराया। इन दमनपूर्ण घटनाओं से हिन्दू उसके विरोधी हो गए। बुन्देलखण्ड में चम्पतराय और उसके पुत्र छत्रसाल ने भी विद्रोह का डंका बजा दिया। दक्षिण में मराठों ने शिवाजी के नेतृत्व में औरंगजेब के विरुद्ध युद्ध की तैयारियाँ प्रारम्भ कर दीं।

राजस्थान में जोधपुर के राजा जसवंतसिंह तथा जयपुर नरेश मिर्ज़ा जयशाह अवश्य उसके साथ थे जो कि जीवन भर औरंगजेब के पक्ष में लड़ते रहे। बिहारी ने अपने कई दोहों में इसका उल्लेख किया है :—

'स्वारथु सुकृतु न स्रम वृथा देखि विहंग बिचारि।
बाज पराए पानि परि तू पंछीनु न मारि॥
यौं दल काढ़े वलख तैं तैं जयसाह भुआल।
उदर अघासुर कैं परैं ज्यौं हरि गाइ गुआल॥''

परन्तु औरंगजेब को यह सहारा भी अधिक समय तक नहीं मिल सका। जसवन्तसिंह की मृत्यु के उपर्यन्त उसने जयपुर को हथिया लिया, जिससे राजपूतों में रोष की भावना फैल गई। दुर्गादास आदि अनेक वीर राजपूत सरदार उसके विरुद्ध हो गए। उधर नारनौल तथा मेवाड़ के प्रान्तों में सतनामी मत का प्रचार जोरों से होने लगा। ये सतनामी मुगल साम्राज्य के कट्टर शत्रु थे। पंजाब के सिक्खों में भी असन्तोष की चिनगारी फूट रही थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि सम्पूर्ण भारत में मुगल साम्राज्य के प्रति तीव्र विरोध की भावना का उदय होना प्रारम्भ हो गया था तथा इसके साथ ही साथ शाहजहाँ और औरंगजेब का घोर व्यक्तिवादी-राज्यतंत्र विनाश के कगार पर खड़ा होकर किसी भी विद्रोह के प्रवाह के साथ ढह जाने की आशंका से काँप रहा था। १७४३ विक्रमी में औरंगजेब के मरने के बाद मुगल सिंहासन पर अशक्त—विलासी एवं निर्वीर्य शासक बैठे जो कि शासन की गाड़ी को येनकेन प्रकारेण खींचते रहे। अन्त में संवत् १९१४ (१८५७ ई०) की राज्यक्रान्ति में मुगल शासन का अन्तिम क्षण आ पहुँचा। सत्ता मुगलों के हाथ से फिरंगियों के चरणों में आ गिरी। शाहजहाँ के मयूर सिंहासन पर इंगलिस्तान का गवर्नर जनरल बैठकर देश का शासन चलाने लगा। इस राज्यक्रान्ति से पहले आगरा एवं अवध में विद्रोह हो चुके थे। स्वयं मुसलमानों में भी फिरकापरस्ती आ गई। शिया और सुन्नी, ईरानी तथा तूरानी आपस में लड़ने लगे। उधर उत्तर पश्चिम से नादिरशाह एवम् अहमदशाह अब्दाली के आक्रमण भी हुए। दिल्ली के राजपथ पर खुलकर कत्लेआम हुआ। बक्सर के युद्ध में अँग्रेजों ने शाह आलम को भी पराजित कर दिया। राजस्थान

में अम्बेर-मेवाड़-मारवाड़ और कोटाबूँदी के राजपूत राजा भी पारस्परिक ईर्ष्या एवम् द्वेष के कारण शक्तिहीन हो गए। राजपूत राजा भी मुसलमानी विलास के रंग में आकण्ठनिमज्जित हो गए। सम्पूर्ण भारत में ऐसा कोई व्यक्तित्व नहीं रहा जो कि देश की बिखरी हुई शक्ति को एकता के सूत्र में पिरोकर अँग्रेजों की सत्ता से डटकर मुकाबला करता। संक्षेप में यह भारत के मुगल साम्राज्य के पतन की करुण कहानी है। मुगलों के पतन के साथ ही साथ देशी रजवाड़े और रियासतें भी अशक्त हो गईं। परिणाम यह हुआ कि आश्रयदाताओं के अभाव के कारण काव्य एवं अन्य ललितकलाओं की प्रगति रुक गई। विशेष रूप से कविता के क्षेत्र में यह पतन औरंगजेब के शासनकाल में ही होना प्रारम्भ हो गया था।

सामाजिक स्थिति—

रीतिकाल की सामाजिक स्थिति का वर्णन विदेशी यात्रियों ने विशद रूप से किया है। शाहजहाँ के समय में (रीतिकाल में) भारत में सामन्तवादी शासन चल रहा था। सम्राट् इस सामन्ती व्यवस्था का आधार केन्द्र था। सम्राट्, उच्च सैनिक एवं सत्ताधिकारियों से लेकर शासन के चपरासी एवं दासों का एक विशिष्ट वर्ग वन गया था। व्यापारी, दुकानदार साहूकार एवम् उद्योग धन्धे करने वालों का पृथक् समुदाय था। यद्यपि ये मध्यवर्ग में ही आते हैं परन्तु शिक्षा तथा संस्कृति के क्षेत्र में ये लोग बहुत पीछे रह गए। तीसरा वर्ग मज़दूर एवम् कारीगरों का था जो कि खाली पेट रहकर समाज के उच्चवर्गों की सुविधा के साधनों का उत्पादन करता था। किसानों को भारी-भारी कर एवम् मालगुजारी देनी पड़ती थी। बेगार की प्रथा चल रही थी। कोड़ों के भय से ये लोग इच्छा न होने पर भी उच्चवर्ग के विकास तथा समृद्धि के लिए कार्य करते थे। संवत् १६७७ में गुजरात में अकाल पड़ जाने के कारण वहाँ की आर्थिक परिस्थिति पर घातक प्रभाव पड़ा। इस अकाल का वर्णन वानट्विस्ट नामक एक डच व्यापारी ने निम्न शब्दों में किया है :—

"As the famine increased men abadoned towns and villages and wandered helplessly. It was easy to recognise their Condition : eyes sunk deep in the head,

lips pale and covered with slime, the skin hard with the bones showing through, the belley nothing but a pouch hanging down empty, knuckles and knee-caps showing prominently. One would cry and howl for hunger, while another lay stretched on the ground dying in misery ; whereber you went, you saw nothing but corpses."

(W. H. Moreland From Akbar to Aurangjeb (P. 212)

समाज में स्पष्ट रूप से उपभोक्ता तथा उत्पादक दो वर्गों की रचना हो चुकी थी ।राजदरबार की शानशौकत के लिए अपार धनराशि की आवश्यकता होती थी अत: बलपूर्वक जनता से रुपया खींच-खींचकर सरकारी कोषों को भरा जा रहा था । जनता के प्रति शासक वर्ग का दुर्व्यवहार था । सम्राट् की इच्छा ही शासनसूत्र संचालित करने के लिए विधान का काम करती थी । प्रजा के ऊपर दुहरी शासन व्यवस्था थी । बिहारी ने अपने निम्न दोहे में इसे स्पष्ट किया है :—

"दुसह दुराज प्रजान कौं क्यौं न बढ़ै दुख द्वन्द ।
अधिक अंधेरो जग करैं मिलि मावस रवि चन्द ।।"

केन्द्रीय शासन की दुरवस्था के साथ ही साथ रियासती शासन में भी बड़ी गड़बड़ी चल रही थी । जयपुर नरेश मिर्जा जयशाह का उदाहरण इस संदर्भ में अनावश्यक नहीं होगा । 'बिहारी-सतसई' का निम्न दोहा महाराज जयशाह के विलास जर्जर रूप को कितना स्पष्ट कर देता है :—

"नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहिं विकास इहिं काल ।
अली कली ही सौं बंध्यौ आगैं कौनु हवाल ।।"

बर्नियर ने अपनी यात्रा के विवरण में जो मुगल शासन एवम् जनता का चित्र उपस्थित किया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय की जनता की कैसी दयनीय दशा थी :—

"The Country is ruined by the necessity of defraying the enormous changes required to maintain the

splendour of a numerous court, and to pay a large army maintained for the purpose of keeping the people in subjection. No adequate idea can be conveyed of the sufferings of that people. The cudgel and the whip compel them to excessive labour for the benefit of otherns, ad drive to despair by every kind of cruel treatment, their revolt or their flight is only prevented by the presencc of a military force."

(Travels in the Mogul Empire P. 230)

तत्कालीन मज़दूर एवं कमकरवर्ग का जो चित्रण डवल्यू० एच० मोरलेंड ने किया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मज़दूर अथवा उत्पादक की कोई व्यक्तिगत इच्छा ध्यान में नहीं रखी जाती थी। वे उपभोक्ता वर्ग के हाथों में बिके हुए थे। उन्हें इस श्रम का मूल्य केवल उनकी 'जीवन-रक्षा' के रूप में दिया जाता था जिसका रोटी एवं कपड़े से कोई सम्बन्ध नहीं था। बिना अन्न के नारी-पुरुष एवं बच्चे छटपटाकर प्राण देते थे परन्तु उच्च अधिकारियों के कानों में जूँ तक नहीं रेंगती थी। यह सामाजिक असंगति केवल उसी युग में हो—ऐसी बात नहीं। हम आज भी, स्वतन्त्र हो जाने के बावजूद उसी शासन के दमनचक्र में पिस रहे हैं। गौराङ्ग प्रभुओं के चले जाने पर हमें भौतिक स्वतन्त्रता तो मिल गई परन्तु मानसिक-आर्थिक तथा राजनैतिक दासता की हथकड़ी-बेड़ियों से आज भी हमारे देश के युवकों के हाथ-पैर छिले जा रहे हैं। वस्तुतः जैसी शासन की मशीनरी आज के युग में खराब है वैसी ही दशा उस काल में भी थी। १८५७ का विद्रोह अकस्मात् ही नहीं हुआ। उसे केवल सिपाही-विद्रोह कहकर झुठलाया नहीं जा सकता। उस क्रान्ति के पीछे कई-सौ वर्ष की भूखी-प्यासी-अत्याचारों से पीड़ित जनता का हाथ एवं साथ था। संक्षेप में यहाँ मोरलेण्ड का वर्णन दिया जाता है :—

"Weavers, naked themselves toiled to clothe others. Peasants, them-selves hungry, toiled to feed the towns and cities. India, taken as a unit, parted with

useful commodities in exchange for gold and silver, or in other words gave breads for stones. Men and Women, living from season to season on the verdge of hunger, could be contented as long as the supply of food held out, when it failed, as it so often did, their hope of salvation was the slave-trader and the alterntaives were canibalism, suicide or starvation. The only way of escape from that system lay through an increase in production coupled with a rising standard of life, but this road was barred by the administrative methods in vogue. which penalized production and regarded every indication of increassed consumption as a signal for fresh extortion."

(From Akbar to Aurangjeb, P. 304-5 by W. H. Moreland)

इस युग तक आते-आते वर्णव्यवस्था का प्रभाव क्षीण हो चुका था। किसी वर्ण का व्यक्ति अपनी रोज़ी और रोटी की खातिर कोई भी व्यवसाय कर सकता था। छोटे-छोटे व्यापारियों तथा दुकानदारों को भी इसी वर्ग में गिना जा सकता है। शिक्षा-संस्कृति एवं राजनैतिक चेतना के अभाव के कारण सामन्तवादी शासन का दमन एवं अत्याचार का कुठार इन पर निरन्तर आघात करता रहता था। रात दिन की गाढ़ी महनत की पूँजी से महाजनों तथा सरकारी खजानों का काम चलता था। विशाल राज्य प्रासाद, आमोद विलास की सामग्री के उपस्करण, कामिनी तथा कादम्ब की सुलभता के लिए उच्चवर्ग सदा ही इन्हें कर देने के लिए आतंकित करता रहता था। कर देने पर सम्पत्ति अथवा जन-अपहरण कर लेना साधारण सी बात थी। ज़मीदारों के द्वारा किसानों की हरी भरी खेती में पशुओं का छुड़वा देना तथा पकी फ़सल को काट लेना या अग्नि-सात् कर देना एक साधारण-सी बात थी।

निम्नवर्ग में साम्प्रदायिकता की भावना अपेक्षाकृत बहुत कम थी। हिन्दू

और मुसलमानों की अनेक रस्मरीतियाँ एक दूसरे के धर्म में आकर घुल मिल गई थीं। यह उद्योग अकबर के काल से ही चला आ रहा था। प्रेममार्गी तथा निर्गुणभक्तिधारा के कवियों ने हिन्दू मुस्लिम एकता के लिए पर्याप्त प्रयत्न किए थे जिनकी शृङ्खला को इस समय के धरणीदास-सहजोबाई-दरियासाहब तथा पल्टू आदि अनेक कवि आगे तक बढ़ाने का प्रयास कर रहे थे। फिर भी शिक्षा के अभाव के कारण किसी भी समय हिन्दू एवं मुसलमान परस्पर मारकाट के लिए प्रस्तुत हो सकते थे। औरंगजेब की धार्मिक असहिष्णुता की दुर्नीति ने जनता के मस्तिष्क तथा हृदयों को और आधिक भ्रष्ट कर दिया। हिन्दू समाज में नारी का स्थान भी धीरे-धीरे गर्हित हो चला। उसे केवल विलास का साधन समझा जाने लगा। राजाओं में बहुपत्नीवाद की परम्परा चल पड़ी। प्रायः राजमहलों में सुन्दर एवं युवा स्त्रियों को ही नियुक्त किया जाता था। राजाओं की इस विलास जर्जरता से जनता में भी पर्याप्त भ्रष्टाचार बढ़ा। सरकारी उच्चपदाधिकारी-महाजन तथा अन्य पूँजीवादी वर्ग के व्यक्ति निर्धन जनता पर निरन्तर अत्याचार करने लगे। मजदूर और कृषकों की स्त्रियों का कोई सम्मान नहीं रहा। जब चाहा तभी उनके शरीर एवं यौवन का उपभोग कर लिया गया। इस दुरवस्था का सबसे बड़ा कारण आर्थिक अभाव ही रहा। पैसे के लोभ में चरित्र और सतीत्व का मूल्य घट गया। गाँवों तथा नगरों से युवास्त्रियों को पकड़-पकड़ कर बलपूर्वक राजदरबारों में 'गोलियाँ' बनाकर रख दिया जाता था। ज़मीदारों के यहाँ रखैल स्त्रियाँ रखने की परम्परा चल गई थी। सम्पूर्ण नागरिक तथा ग्रामीण जनता की मनोवृत्ति में भोगविलासपरकता आ बैठी थी। प्रायः दूतियाँ तथा सखियाँ इस भ्रष्टाचार को फैलाती थीं। न केवल राजमहलों की कुट्टिनियों ने अपितु सामान्य जनसमाज की (रीतिकालीनकविता में वर्णित) दूतियों ने परस्पर नायक नायिकाओं के संघटन का दायित्व संभाल रक्खा था। प्रेम का आदर्श रूप नहीं था। आत्मा के सौन्दर्य की अपेक्षा अस्थिचर्ममय देह की भूख प्यास जनजीवन के माध्यम से साहित्य में आई। यहाँ एक बात स्मरणीय है कि यह भ्रष्टाचार निम्नवर्ग के व्यक्तियों में कम था, सामन्तवादी तथा पूंजीपतियों के बीच में अधिक था। स्वकीया के प्रति प्रेम न होकर परकीया नायिका के पीछे-पीछे चक्कर लगाना उस युग की 'फैशन' बन गया था। रीतिकाव्य पर

घोरश्रृाङ्गारिकता का जो आरोप लगाया जाता है वह कुछ तो परम्परागत साहित्यिकदाय के कारण है और कुछ तात्कालिक समाज की संस्कृतिभ्रष्टदशा के प्रतिबिम्ब स्वरूप ! शाहजहाँ तथा औरंगजेब के व्यक्तिगत पात्रों से उस युग की निराशा—अनास्था—भ्रष्टाचार तथा अराजकतावादी समाज का यथा-तथ्य चित्रण प्राप्त किया जा सकता है। यहाँ औरंगजेब के एक पत्र का अंश उद्धृत किया जाता है, जिसमें उसने अपने जीवन के अन्तिम क्षणों का वर्णन किया है। यह वर्णन केवल औरंगजेब का ही नहीं अपितु तत्कालीन भारत के समाज की ओर भी संकेत करता है:—

"My fears for the camp and follower are great; but alas! I know not myself. My back is bent with weakness, and I have lost the power of motion. The breath which rose has gone and has last not even hope behind it. I have committed numerous crimes and know not with what punishments I may be seized. Though the protector of the Mankind will guard the camp, yet there is incumbent also on the Faithful and on my sons. When I was alive, no care was taken and now I am gone, the consequences may be guessed. Guardianship of a people is a trust by God committed to my sons. Be cautious that none of the Faithful are slain or that their miseries fall upon My head....... The domestics and courtiers, however deceitful, yet must not be ill treated. It is necessary to gain your views by gentleness and art. The complaints of the unpaid troops aro as before. Daras hikoh though of much gudgment and good understanding, settled large pensions on the people, but paid them ill, and they were ever discontented. I am going. Whatever

good or evil I have done, it was for you. Take not amiss nor remember the offence I have done unto myself, that account may not be demanded of me hereafter,"

—Sarkar, History of Aurangjeb (Calcutta 1915) V, P. 259.

रीतिकाल में ललितकलाओं की स्थिति

भारतीय इतिहास में जिस प्रकार गुप्तयुग 'स्वर्ण युग' कहा जाता है उसी प्रकार दूसरा 'स्वर्णयुग' मुगल शासन काल भी है। मुगल सम्राटों के समय में स्थापत्य, मूर्त्ति, चित्र, संगीत, नृत्य एवं काव्यकलाओं का तो चरम विकास हुआ ही, साथ ही साथ अनेक उपयोगी कलाओं को भी इस युग में प्रश्रय मिला। ललितकलाओं में भारतीय तत्वों के साथ ही साथ मुस्लिम संस्कृति के तत्त्वों का प्रवेश भी हुआ। यहाँ बाबर-हुमायूँ तथा अकबर के युग की ओर चलना हमारा लक्ष्य नहीं है। जहाँगीर-शाहजहाँ तथा औरंगजेब के युग में हुई विविध कलाओं की प्रगति ही हमारी प्रतिपाद्य वस्तु है।

रीतिकालीन स्थापत्य कला—

जहाँगीर के समय में स्थापत्य कला के क्षेत्र में पर्याप्त विकास नहीं हुआ। सिकन्दरा स्थित अकबर बादशाह का मक़बरा तथा आगरा में नूरजहाँ के पिता एतमादुद्दौला का मक़बरा उसके युग की स्थापत्यकला के उदाहरण हैं। पच्चीकारी तथा जड़ाऊ का काम इन दोनों इमारतों में देखने योग्य है। अकबर का मक़बरा लाल पत्थर का एतमादुद्दौला का मक़बरा शुभ्रस्फटिक का बना हुआ है। जहाँगीर को उद्यान कला में विशेष रुचि थी। काश्मीर में उसके समय के आरोपित उद्यान आज तक देखे जाते हैं।

शाहजहाँ का युग स्थापत्यकला के चरम उत्कर्ष का काल है। विश्वविख्यात इमारत 'ताजमहल' का निर्माण शाहजहाँ के युग में ही हुआ। तत्कालीन कला-कारों का हृदय जैसे इसमें साकार हो उठा है। श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शब्दों में यह "काल के कपोल पर स्थित नयन-बिन्दु" है। ताजमहल के सौन्दर्य का विवेचन स्वयं एक स्वतन्त्र निबंध का विषय है। दिल्ली का लाल किला भी इसी समय निर्मित हुअ। ताजमहल के निर्माण में महाकाव्योचित कला का निदर्शन किया गया है। इन स्थापत्यकला के प्रतीकों में चित्रकला के चारुतम रूप भी

दर्शनीय हैं। शाहजहाँ के पश्चात् औरंगजेब गद्दी पर बैठा। वह कट्टर सुन्नी था। उसे कलाओं के प्रति आसक्ति नहीं थी। औरंगजेब ने स्वयं अनेक विशाल मंदिरों एवं प्रतिमाओं का भंजन कराया। उसके युग में कुछ मस्जिदें तथा मक़बरे बनाए गए। औरंगजेब की स्थापत्यकला में सरलता और सादगी है। शाहजहाँ की सी अलंकारप्रियता नहीं है। धीरे-धीरे मुगल सम्राटों का कोष रिक्त होने लगा, फलत: ताजमहल एवं दीवाने ख़ास जैसी कलाकृतियाँ आगे नहीं बन सकीं। लखनऊ तथा अवध के नवाबों के कुछ महल अवश्य ऐसे हैं जिनमें कलात्मकता है। परन्तु इनमें बाहरी चारुता ही अधिक है। डा० स्मिथ के शब्दों में शाहजहाँ के पश्चात् की मुगल-स्थापत्य कला अश्लील एवं पतनशील है। राजपूतों एवं सिक्खों के स्थापत्य-आदर्शों पर मुस्लिम वास्तु-कला का प्रभाव ही अधिक पड़ा है, उनमें मौलिकता का अभाव अखरता है।

रीतिकालीन-चित्रकला—

जिस प्रकार स्थापत्यकला में देशी और विदेशी तत्व आकर मिल गए उसी प्रकार रीतिकाल की चित्रकला पर भी फ़ारस का प्रभाव पड़ा। भारत की रंग प्रधान चित्रकला पर रेखाओं का भी प्रभाव पड़ा। सूक्ष्मावयवों की सज्जा, गोलाई और छाया तथा प्रकाश के तत्व इस युग की चित्रकला में एकत्र हो गए हैं। जहाँगीर के समय के चित्रों में मनोभावों की व्यंजना, गत्यात्मक सौन्दर्य एवं सजीवता के तत्त्व मिलते हैं। शाहजहाँ के युग तक आते-आते यही सहजता अलंकरण में बदल गई। हल्के रंगों के स्थान पर गहरे एवं तीव्र रंगों का प्रयोग होने लगा। सुनहरी रंग का अपेक्षाकृत प्रचुर प्रयोग होने लगा जो कि आशा-उल्लास एवं राजसी वैभव का प्रतीक ही अधिक था। सामान्य जीवन के चित्रों की उपेक्षा की गई। अनेक भवनों पर आलिखित चित्रों में पक्षियों, तरु-पल्लव एवं कलियों के साथ ही साथ सुराही एवं प्याले की आकृतियाँ चित्रित की जाने लगीं। वस्तुतः कलाओं की मूल आत्मा में कोई सूक्ष्मभेद नहीं है। इन सम्पूर्ण कलाओं का साध्य सौन्दर्यमूलक आनन्दात्मक रस की निष्पत्ति ही है। राग-रागिनियों के भेदोपभेद रीतिकाल में उसी प्रकार किए गए जिस प्रकार कविता में नायक-नायिका तथा नखशिखा का विश्लेषण हुआ। कृष्ण-राधा की रासलीला

एवंव ारहमासा ग्रादि पर इस युग में चित्रों का निर्माण हुग्रा। नायिका भेद के प्राचीन चित्रों का संग्रह ग्राज भी श्री मुकन्दीलाल बी० ए० ग्राक्सफोर्ड के पास है। इन चित्रों की माँग ग्राज ग्रमेरिका तक में की जाती है। (ग्रकाडमी एनुग्रल दिसम्बर १९५१, 'ग्रकादमी ग्रॉफ फाइन ग्रार्ट्स' इण्डियन म्यूज़ियम कलकत्ता पृ० २०)। इसी रिपोर्ट के ग्राधार पर कांगड़ा पद्धति के चित्र, शामदास-हरदास-मोलाराम ग्रादि के चित्र भी मिलते हैं जिनमें स्पष्टत: चित्रों के नीचे नायिकाग्रों के वे ही नाम दिए गए हैं जो बिहारी-देव ग्रौर केशव की कविताग्रों में ग्राए हैं। इन चित्रों में ग्रधिकाँशत: बिहारी के दोहों का प्रभाव पड़ा है। कतिपय विद्वानों ने इस समय की प्रतिकृति कला—स्टैंसिल ग्रार्ट-के ग्राधार पर यहाँ तक कह डाला है कि चित्रकला ग्रपने घोरतम ह्रास के युग में थी। यह कहना सर्वथा भ्रामक है। प्रतिकृति-कला की ग्रावश्यकता तभी पड़ सकती है जब किसी चित्र के 'माडिल' की जनता में विशेष माँग हो! ग्रमेरिका में तो ग्रब तक 'स्टैंसिल ग्रार्ट' के जन्मदाता की वर्षी मनाई जाती है। उस काल के चित्रों में यदि प्रतिकृति कला का प्रयोग हुग्रा तो कौन भारी कमी ग्रागई! जैसे रीतिकाल की कविता को लोगों ने ग्रलंकारपूर्ण-रस विहीन एवं रूढ़िबद्ध कहा उसी प्रकार इस समय की चित्रकला को भी ग्रगत्यात्मक, निर्जीव, बाह्यरूपमूलक ग्रौर न जाने क्या क्या नहीं कहा! परन्तु श्री मुकन्दीलाल जैसे सहृदय समीक्षकों से हमें ऐसी संभावना है कि वे रीतियुग की चित्रकला की संरक्षा एवं उसके महत्त्व को ग्रधिकाधिक लोकप्रिय करने में योगदान करते रहेंगे। यह सत्य है कि उस युग की कला में पिकासो ग्रौर 'घनवाद' की छाया नहीं मिलती जहाँ पर चित्रदर्शन से रसनिष्पत्ति का ग्रवसर तो ग्राता नहीं प्रत्युत एक बौद्धिक कसरत ग्रौर करनी पड़ती है। इस क्यूबिज़्म से प्रभावित होने पर ग्राज की कविता में ग्रतिबौद्धिकता, ग्रसंप्रेषणीयता एवं ग्रतिबाह्यता तथा उलझाव ग्राया ग्रागया है। जो भी है, रीतिकाल की चित्रकला में भले ही ग्रजन्ता के चित्रों जैसी जनजीवन की नैसर्गिक छटा न हो परन्तु मध्ययुग की संस्कृति की भावनाग्रों का रसपेशल ग्राकलन उसमें ग्रवश्य किया गया है—इसे कोई ग्रस्वीकार नहीं कर सकता।

रीतिकालीन संगीतकला :—

डा० नगेन्द्र के मतानुसार रीतिकाल की कलाओं में मौलिकता का अभाव है। यदि किसी युग की कलागत श्रेष्ठता का मापदण्ड मौलिकता ही है तो सम्भवत: आज भी संगीत के क्षेत्र में कोई विशेष प्रगति नहीं हुई। आचार्य भातखण्डे ने संगीत की गति में नवीन चरण तो नहीं जोड़े परन्तु उसकी पुरातन सुन्दरता एवं रसग्राह्यता की पुन: स्थापना की है।

इसके अतिरिक्त आधुनिक सिनेमा क्षेत्र के संगीताचार्यों ने पूर्वी एवं पाश्चात्य संगीतों का तेल और पानी का सा मिश्रण कर दिया है। हमारे देश के शास्त्रीय संगीत के स्वरों के आरोह एवं अवरोह के गाने की शैली में जो हृदयाकर्षकता, वातावरण सापेक्षता एवं नैसर्गिक चारुता थी उसके पवित्र सिंहासन पर एस० डी० बर्मन, शंकर जयकिशन और ओ० पी० नैयर आदि संगीत निर्देशकों ने अमेरिकी एवं योरोपीय संगीत को लाकर थोप दिया। यह सत्य है कि भारतवर्ष में नृत्य एवं संगीतकलाएं अपने विकास के ऊर्ध्वतमशिखर तक पहुँच चुकी हैं, अतः उनमें नया योगदान करना सम्भव नहीं है; फिर भी अवध की राज्यसभाओं ने हमें नृत्यकला में कत्थक प्रणाली, विशेषरूपेण वाजिदअलीशाह की 'ठुमरी' ने अपना प्रमुख योग दिया है। तबला-ठुमरी और दादरा नृत्यसंगीत के प्राण हैं, जो कि रीतिकाल की देन है। इस तथ्य से भी सभी परिचित हैं कि भारतीय संगीत की आत्मा 'रस' ही है। उस पर नायिका भेद का प्रभाव भी पड़ा है। रागों के 'भावों' का निर्धारण किया गया तथा प्रत्येक राग के गाए जाने का समय निश्चित किया गया। कृष्णानन्द व्यास के 'रागकल्पद्रुम' आदि ऐसे ऐसे अनेक ग्रन्थ हैं जिनसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि संगीत में भी काव्य के समान भेदोपभेद तथा वर्गीकरण-विश्लेषण किया गया। उसमें मौलिकता का अभाव है। फिर भी इतना तो स्वीकार किया ही जा सकता है कि संगीत में तत्कालीन प्रवृत्तियों का प्रतिबिम्ब मिलता है। आगे चलकर औरंगजेब के समय में संगीत आदि कलाओं की प्रगति प्राय: रुद्ध हो गई। औरंगजेब कट्टर धार्मिक मुसलमान था। उसे काव्य एवं संगीत-वाद्य तथा नृत्यादि कलाओं में किंचित् मात्र भी रुचि नहीं थी। फिर भी भागदत्त जैसे संगीतकार

उसके युग में हो गए। रीतिकालीन परिपाटी एवं जीवन के साथ श्रृङ्गार भावना के कारण सङ्गीत ने सम्बन्ध स्थापित कर लिया। सङ्गीत पर रीतिकाल की कविता का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। रसूलन बाई के 'काँकर मोरे लग जैहे, ना रे' वाले प्रसिद्ध दादरा में परकीया नायिका का वर्णन किया गया है। डी० वी० पलुस्कर के गीत 'पिय पल न लागी मोरी अँखियाँ' में विरह वर्णन तथा दीपाली नाग के 'राग गौरी' में संभोग श्रृङ्गार का वर्णन किया गया है। रीतिकाल के सङ्गीत में श्रृङ्गाररस एवं राधा-कृष्ण का वर्णन ही अधिक मिलता है, बीच बीच में भक्तिभाव को भी स्थान दिया गया। संक्षेप में यही कह सकते हैं रीतिकाल के संगीत में मध्ययुग की परम्पराएँ चली आ रही थीं। बाबा हरिदास, तानसेन एवं बैजूबावरा के संगीत का प्रभाव उस युग के गायकों पर स्पष्टत: प्रतिलक्षित होता है। साहित्य एवं सङ्गीत के समवाय सम्बन्ध से उस युग की अनुभूतियों का वास्तविक चित्रण किया गया है। उस काल की सांस्कृतिक एकता का परिचय भी हमें, इन कलाओं के विषयगत साम्य से, मिल सकता है। साहित्य एवं संगीत के अन्योन्य प्रभाव को प्रो० रमेशकुमार शर्मा ने अपने शोधग्रन्थ "रीति कविता का आधुनिक हिन्दी कविता पर प्रभाव" में विशदरूप से दिखाया है।

रीतिकालीन काव्यकला—

हिन्दी साहित्य का इतिहास इसका साक्षी है कि आलोचकों ने रीतिकाल के साथ उदारतापूर्ण एवं न्यायसंगत व्यवहार नहीं किया है। कुछ आलोचकों ने 'रसवाद' के नाम पर तो कुछ ने कला और जीवन की अन्योन्याश्रित संगति के नाम पर जो छीछालेदर रीतिकाव्य की है वह पर्याप्त सीमा तक असन्तुलित एवं एकपक्षीय रही है। श्री रमेशकुमार शर्मा ने अपने शोधग्रन्थ "रीति-कविता का आधुनिक हिन्दी कविता पर प्रभाव" में उन कारणों का सविस्तार विवेचन किया है जिनके द्वारा ब्रजभाषा और फलत: रीतिकविता को गहरा आघात लगा है। उन अनेक कारणों में से एक, और सर्वप्रमुख कारण है ब्रजभाषा तथा खड़ीबोली की कविता का पारस्परिक संघर्ष। प्रारम्भ में खड़ीबोली के समर्थन

में आन्दोलन करने वाले कतिपय विद्वान् लेखकों ने रीतिकाव्य को गर्हित, घृणित एवं प्रतिक्रियावादी तक कह डाला। श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने 'पल्लव' की भूमिका में ब्रजभाषा और रीतिकाल पर अनेक आक्षेप लगाए हैं जो कि भावुकता-पूर्ण ही अधिक हैं। पं० रामनरेश त्रिपाठी, पं० जगन्नाथप्रसाद मिश्र तथा पं० माकराडें वाजपेई के वे वक्तव्य बड़े महत्त्वपूर्ण है, जिनमें उन्होंने खड़ीबोली के समर्थन में रीतिकाव्य को बहुत कुछ भला बुरा कह डाला। यहाँ उदाहरण के लिए त्रिपाठीजी का कथन दिया जाता है :—

"ब्रजभाषा देश को जगाना नहीं जानती,, बल्कि सुख की नींद सुलाना जानती है, और उसने अब तक देश को सुला भी रखा है।........मैं जोरदार शब्दों में सर्वसाधारण के सामने, यदि आवश्यकता हो तो कुतुबमीनार पर भी खड़े होकर कह सकता हूं कि हिन्दू समाज में व्यभिचार फैलाने, बेकारी कायरता और आलस्य बढ़ाने की मिथ्यावादिता से जनता के हृदय का तेज घटाने के अपराधी (ब्रजभाषा) रीतिकाल के कविगण हैं, ऐसे कवियों की कविताओं का विष हिन्दू जाति की नस में घुस गया है।"

श्री रामनरेश त्रिपाठी, सम्मेलन पत्रिका भाग २, अंक २, सं० १९८७) इसी प्रकार पं० जगन्नाथप्रसाद मिश्र एवं श्री मार्कण्डे बाजपेयी के लेखों में भी ब्रजभाषा एवं रीतिकाल के प्रति आक्रोष दिखाया गया है जिनमें आधारभूत सत्य का अभाव है। रीतिकाल की कविता सर्वथा प्रतिक्रियावादी थी, उसमें नग्नश्रृंगार एवं अश्लीलता के लिए ही स्थान था—ऐसी बात नहीं। बिहारी एवं केशव तथा रहीम आदि ऐसे अनेक कवि हैं जिनके व्यक्तिगत जीवन से ज्ञात होता है कि वे आश्रयदाताओं के प्रसाद के लिए ही साहित्यरचना नहीं करते थे। ये कवि समय-समय पर अपने आश्रयदाताओं को बहुमूल्य परामर्श भी दिया करते थे। भूषण-लाल एवं सूदन जैसे राष्ट्रियभावना के जागरूक कवि भी उसी युग में हुए हैं। भक्ति एवं शान्तरस परक साहित्य का सृजन भी इस युग में कम नहीं हुआ था। फिर यह भी सत्य है कि रीतिकाल की सामन्ती व्यवस्था और पाश्चात्य सामन्ती व्यवस्था में भी पर्याप्त अन्तर है। रीतिकाल के सामन्त यदि एक ओर अपने केन्द्रीयशासक के आज्ञाकारी सहायक थे तो दूसरी ओर समय-समय पर जनता के सुख-सन्तोष के लिए भी कृतप्रयत्न हुआ करते थे।

फिर रीतिकाल की कविता को शृङ्गारपरकता का दोष देना भी न्यायसंगत नहीं जान पड़ता। शृङ्गार की कविता एकदम बीच में ही आ कूदी हो, ऐसा नहीं। वीरगाथाकाल एवं भक्तिकाल में भी शृंगार प्रधान कविता का सृजन हो रहा था। प्राकृत-संस्कृत एवं अपभ्रंश काल से ही परम्परा चली आ रही थी। रीतिकाल के कवि ही इसके लिए एकान्ततः दोषी नहीं ठहराए जा सकते। सेनापति का प्रकृति चित्रण, देव के भक्तिपरक कवित्त, पद्माकर एवं भूषण का वीररस प्रधान काव्य तथा बिहारी के ऐसे अनेक दोहे हैं जिनमें तत्कालीन समाज की परिष्कृत रुचि दर्शनीय है। आवश्यकता इस बात की है कि रीतिकाल का सामाजिक दृष्टि से पुनर्मूल्यांकन किया जाए।

"तत्कालीन-कलाओं में सौन्दर्यानुभूति"—

आनन्द की भावना को मूर्त्त रूप देना ही सौन्दर्यानुभूति है। भाव एवं रूपों का नित्य सम्बन्ध सौन्दर्य का सृजन करता है। इस सौन्दर्यानुभूति के मूलतः दो भेद हैं। स्थूल सौन्दर्यानुभूति तथा आध्यात्मिक अथवा सूक्ष्म सौन्दर्यानुभूति। रीतिकालीन कलाओं में पहली प्रकार की सौन्दर्यानुभूति उपलब्ध होती है। नायक एवं नायिकाओं के नखशिख वर्णन, उनके वस्त्राभरणों का विशद चित्रण आदि ही कवियों ने अधिक किया। घनानन्द जैसे कवियों की अत्यन्त अल्पसंख्या है जिन्होंने रूप-सौन्दर्य के आन्तर-पक्ष का उद्‌घाटन किया है। प्रायः केशव-देव-बिहारी एवम् पद्माकर आदि ने स्थूल सोन्दर्य का ही वर्णन किया। वास्तविकता यह है कि सौन्दर्य के ऐसे स्थूल भेद ही नहीं किए जा सकते। स्थूल एवम् सूक्ष्म अथवा आन्तर सौन्दर्य परस्परावलम्बित होते हैं। स्थूल वस्तु से लेकर आत्मा के अभाव तक की एक लम्बी प्रक्रिया सौन्दर्यशास्त्र के अन्तरगत आती है। आनन्द की भावना व्यक्ति में आदि काल से चली आ रही है। आनन्द का सौन्दर्य से निकटतम सम्बन्ध है। अतएव सौन्दर्य भावना सृष्टि के आदिकाल से मानव जीवन में चली आ रही है। विकासवादी दृष्टि से मानव जीवन निरन्तर प्रगतिशील रहा है। परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में उसकी रुचि-अरुचि के मानदण्ड बदलते रहे। वह क्रमशः सरलता से जटिलता की ओर चला है अतः यह सौंदर्य-मूलक भावना भी समय-समय पर परिवर्त्तित होती रही। स्वच्छन्दता की ओर

से वह नैतिक एवम् आध्यात्मिक मूल्यों की ओर निरन्तर विकासमान रही है। कविता में इस निरन्तर विकासशील सौन्दर्य भावना का प्रतिबिम्ब देखने को मिल जाता है। सौन्दर्य की प्रेरणा कवियों को सदा जीवन से ही मिली है। रीतिकाल की कविता एवम् अन्य ललित कलाओं की सौन्दर्य प्रवृत्ति का भी मानव जीवन से सहज सम्बन्ध रहा है। पीछे हमने स्थापत्य-संगीत एवम् चित्रकला ने विवेचन में इस तथ्य की ओर संकेत किया है कि कलाएं सूक्ष्म से स्थूल के चित्रण की ओर बढ़ती रही हैं अतः कविता में भी नायक एवम् नायिकाओं के आध्यात्मिक एवम् मानसिक सौन्दर्य की अपेक्षा शारीरिक रूपवर्णन की ही प्रधानता रही है। रीतिकाल में जनजीवन की चेतना एवम् गत्यात्मक प्रवृत्ति का अभाव रहा है, परिणामस्वरूप उस समय की कलाओं में पराजय तथा आत्मविस्मृति की भावना का प्रतिनिधत्व मिलता है, उसमें उत्साह एवम् प्रगति के तत्वों की कमी यत्रतत्र खलती है। सामन्तीय सामाजिक व्यवस्था के कारण उसमें नैसर्गिक चारुता के स्थान पर स्थूलचित्रण, परम्पराविधान, जनजीवन से उदासीनता एवम् सामन्तीय अनुभूतिपरकता ही अधिक मिलती है। नागरिक जीवन के उद्दाम एवम् अश्लील पक्ष को ही उस हमय की कलाओं में देखा जा सकता है। बिहारी-देव तथा पद्माकर की कविता, ताजमहल के बाद की स्थापत्यकला एवं चित्र तथा सङ्गीत कला के क्षेत्र में सर्वत्र स्थूलता ही दृष्टव्य है। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि रीतिकाल की कलाओं में सौन्दर्य की स्थूल-अनुभूतियों को ही प्रस्तुत किया गया है, उसमें मानव हृदय की सहज अनुभूतियों के परिष्कृत एवं उदात्त चित्रण के लिए अवकाश नहीं है।

भक्ति परक दोहे

[मङ्गलाचरण]

मेरी भव-बाधा हरौ, राधा नागरि सोइ।
जा तन की झाँईं परैं स्यामु हरित-दुति होइ ॥१॥

शब्दार्थ:—भवबाधा = सांसारिक कष्ट, नागरि = चतुर, झाँईं = प्रतिबिम्ब, हरित = प्रसन्न।

प्रसंग :—ग्रन्थरचना के प्रारंभ में कवि की प्रास्ताविक उक्ति:—

भावार्थ :—(१) वे चतुर राधा मेरे सांसारिक कष्टों का निवारण करें जिनके शरीर का प्रतिबिम्ब पड़ने से भगवान् कृष्ण के शरीर की आभा भी निष्प्रभ (हरित दुति) हो जाती है।

(२) वे चतुर राधा मेरी सांसारिक बाधाओं को (असफलता के मार्ग से) हटाएं जिनके शरीर की परछाईं को देखकर ही श्रीकृष्ण का व्यक्तित्व प्रसन्न (हरित दुति) हो जाता है। हराभरा होना प्रसन्नतासूचक मुहावरा है अत: यहाँ कवि का रंगों के मिश्रण का सूक्ष्म ज्ञान भी स्पष्ट हो जाता है। श्वेत तथा श्याम रंगों के मिश्रण से हरित रंग का निर्माण होता है।

(३) वे राधानागरी मेरे सांसारिक क्लेषों को दूर करें जिनका ध्यान (झांई परैं) करने मात्र से समस्त प्रकार के दु:ख तथा पाप (श्याम रंग प्रतीकार्थ में) निष्प्रभ हो जाते हैं।

विशेष :—कवि पर राधावल्लभ सम्प्रदाय का प्रभाव पड़ा है अत: राधा की उपासना पर विशेष प्रभाव डाल गया है। साथ ही बिहारी-सतसई के अधिकांश दोहे नायक-नायिका-प्रधान हैं अत: कृष्ण तथा राधा दोनों का ही मंगलाचरण में उल्लेख कर दिया गया है।

प्रस्तुत मंगलाचरण नमस्कारात्मक एवं वस्तुनिर्देशात्मक, दोनों ही प्रकार का है।

अलंकार :—श्लेष, काव्यलिङ्ग, रूपकातिशयोक्ति तथा अनुप्रास अलंकार।

प्रगट भए द्विजराज-कुल, सुबस बसे ब्रज आइ।
मेरौ हरौ कलेस सब, केसव केसवराइ ।।२।।

शब्दार्थ :—द्विजराज = ब्राह्मण, चन्द्रमा, सुवस = स्वेच्छया, भली प्रकार का वास, केसव = कवि के पिता का नाम, श्रीकृष्ण।

प्रसंग :—प्रस्तुत दोहे में कवि ने आत्मपरिचय दिया है, जिससे उसकी पारिवारिक स्थिति तथा भक्तिभावना के 'प्रकार' का संकेत मिलता है।

भावार्थ :—वे केशव (कृष्ण) रूपी केशवराय (कवि के पिता) मेरे क्लेशों-आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक—को दूर करें जो अपनी इच्छा से ही ब्रज में आकर वसे हैं तथा जिनका जन्म द्विजराजकुल (चन्द्रवंश) रूपी द्विजराजकुल (ब्राह्मणों के श्रेष्ठ वंश) में हुआ है।

विशेष:– द्विजराज और सुवस में श्लेष का प्रयोग करके कवि ने एक ओर तो अपने परिवार की श्रेष्ठता की ओर संकेत किया है, दूसरी ओर यह भी पता चलता है कि बिहारी का जन्म ब्रजप्रदेश के बाहर ही हुआ था और वे अपने पिता के साथ ही ब्रज में आकर वस गए थे। 'सुबस' शब्द से ऐसा प्रतीत होता है कि इनके पिता समृद्ध थे अत: किसी विवशता की अपेक्षा स्वयं ही यहाँ आकर वसे थे। कतिपय आलोचकों ने तो बिहारी को महाकवि केशवदास का पुत्र सिद्ध करने की चेष्टा की है किन्तु यह सत्य प्रतीत नहीं होता। यह संभव है कि केशवदास उनके गुरु रहे हों।

अलंकार :—श्लेष, रूपक, पुनरुक्ति तथा यमक।

तजि तीरथ, हरि राधिका-तन-दुति करि अनुराग।
जिहि ब्रज-केलि-निकुंज-मग पग पग होत प्रयाग ।।३।।

शब्दार्थ :—जिहिं = जहाँ, मग=मार्ग, प्रयाग = प्रयाग तीर्थ, प्रकृष्ट याग।

प्रसंग :—यहाँ कवि ने राधा-कृष्ण की युगलमूर्त्ति की उपासना पर बल दिया है।

भावार्थ :—अरे मन, तू अनेक तीर्थ स्थानों का भ्रमण करना छोड़ दे। तू उन कृष्ण तथा राधिका के शरीर की शोभा से प्रेम कर, जिनके चरण-चिह्नों

से व्रज के क्रीड़ा-कुंजों के स्थलों पर अनेक प्रयाग के तीर्थ बनते रहते हैं, अर्थात् जिनके पग-संकेतों का ध्यान करने से ही प्रकृष्ट यज्ञों का शुभ परिणाम—मोक्ष—मिल सकता है।

विशेष :— यहाँ पर कवि ने तीर्थ-यात्रा आदि वाह्याडम्वरों का निषेध करके भगवान् कृष्ण एवं राधा के चरणों में रति करने के लिये ही अपने मन को शिक्षा दी है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, विहारी मूलतः शृंगारी कवि हैं अतः उन्होंने अपनी भक्ति के लिए राधाकृष्ण-युग्म को ही श्रेयस्कर माना है।

प्रयाग हिंदुओं का तीर्थ है। गंगा, यमुना एवं सरस्वती के संगम पर स्नान करने से व्यक्ति पापमुक्त हो जाता है। यहाँ पर राधा की शोभा से गौरवर्णा गंगा और कृष्ण की शारीरिक छवि से नीलवर्णा यमुना की ओर संकेत है। सरस्वती का जल अरुण वर्ण का माना है तथा अनुराग (प्रेम) का वर्ण भी लाल है, अतएव राधाकृष्ण में प्रेम करने से ही त्रिवेणी का पुण्यलाभ हो जाता है।

अलंकार :—अनुप्रास, श्लेष, पुनरुक्ति, तद्गुण तथा व्यतिरेक।

सीस मुकुट कटि काँछनी, कर मुरली उर माल।
यहि बानक मो मन बसौ, सदा बिहारीलाल ॥४॥

शब्दार्थ :—काँछनी = पीताम्बर, उर = वक्षस्थल, बानक = रूप, बिहारी-लाल = कृष्ण, कवि का नाम। बसौ = निवास कीजिए, बसा हुआ है।

प्रसंग :—कवि ने इस दोहे में अपने आराध्य श्रीकृष्ण का रूपवर्णन प्रस्तुत किया है।

भावार्थ: :— कविवर बिहारीलाल कहते हैं कि मेरे मन में निरन्तर उन विहार करने वाले प्रियतम का इस प्रकार का रूप बसा रहता है (बसा रहे), जिनके सिर पर किरीट, कटि-प्रदेश में पीताम्बर, हाथ में वेणु तथा कंठ में माला सुशोभित होती रहती है।

विशेष :— कवि ने विषय तथा प्रसंग के अनुरूप ही अपने आराध्य का रूप-चित्रण किया है। शंख,चक्र, गदा तथा पद्मधारी कृष्ण की अपेक्षा शृंगार रस में वंशीवादक कृष्ण का स्मरण करना ही अधिक उचित है।

अलंकार :—अनुप्रास, स्वभावोक्ति तथा श्लेष।

तुलनात्मक :—हृदि स्थितो हि ननु मे प्राणेश्वर : श्रोष्यति ।

कोऊ कोरिक संग्रहौ, कोऊ लाख हजार ।
मो संपति जदुपति सदा, बिपति बिदारनहार ।।५।।

शब्दार्थ :—कोरिक = कोटि, बिदारनहार = नष्ट करने वाला ।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि स्वयं के प्रति कहता है कि चाहे कोई करोड़ रुपए एकत्र करे, या लाख अथवा सहस्त्र रुपयों का संग्रह करे किंतु मेरी तो सबसे बड़ी सम्पत्ति भगवान् कृष्ण हैं जो कि मेरी विपत्तियों को नष्ट करने वाले हैं ।

विशेष :—जिसे भगवत्कृपा रूपी सम्पत्ति मिल जाती है वह रजत और स्वर्ण-मुद्राओं के प्रति आकर्षित नहीं होता क्योंकि ये सब अस्थायी हैं और वह सम्पत्ति चिरन्तन ।

अलंकार :—अनुप्रास, रूपक तथा व्यतिरेक ।

दोष :—यहाँ प्रथम पंक्ति में अक्रमत्व दोष है !

या अनुरागी चित्त की गति समुझै नहिं कोइ ।
ज्यों ज्यों बूड़ै स्याम रँग त्यों त्यों उज्जलु होइ ।।६।।

शब्दार्थ :—अनुरागी = प्रेमी, लाल; स्याम=कृष्ण, काला; उज्जलु=पवित्र, श्वेत ।

प्रसंग :—यहाँ कवि ने कृष्णोपासना पर बल दिया है ।

भावार्थ :—इस अनुरागपूर्ण हृदय की गति से कोई भी परिचित नहीं हो सकता । जैसे जैसे यह श्याम रंग (कृष्ण का प्रेम, काला रंग जो कि पापों का प्रतीक है) में डूबता जाता है वैसे ही वैसे यह अधिक उज्ज्वल (पवित्र-शुभ) होता जाता है ।

विशेष :- यहाँ कवि ने बूड़ै शब्द से इस तथ्य को संकेतित किया है कि मन तब तक शुद्ध नहीं होसकता जब तक कि वह निजत्व छोड़कर अपने आराध्य में तदाकार नहीं हो जाता ।

अलंकार :—श्लेष, पुनरुक्ति, अनुप्रास तथा विरोधाभास । किसी मलिन वस्तु को कालिमा से प्रक्षालन करने पर शुभ्र नहीं बनाया जा सकता है, इसी विरोध को कवि ने श्लेष के द्वारा व्यक्त किया है ।

जपमाला छापैं तिलक, सरै न एकौ कामु ।
मन काँचैं नाचै बृथा, साँचै राँचै रामु ॥७॥

शब्दार्थ :—जप=मंत्रस्मरण, छापैं=चित्रित करना, सरै=सिद्ध होना, कांचै = कच्चा, काँच का, साँचै=सच्चा,साँचा ।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि आडम्बरपूर्ण भक्ति का खण्डन करते हुए कहता है कि किसी मंत्रविशेष का माला लेकर स्मरण करने तथा मस्तक एवं शरीर के अन्य अंगों पर तिलक छापे लगाने से तो एक भी काम सिद्ध नहीं हो पाता । इस प्रकार के भक्त का मन (जो कि उपर्युक्त कार्य करता है) कच्चा तथा चंचल होता है । राम तो केवल सच्चे हृदय में निवास करके प्रसन्न होते हैं । कच्चा मन तो काँच है जो कभी भी टूट सकता है अथवा जिसमें नाना नामरूपात्मक सृष्टि प्रतिविम्बित होती रहती है । सच्ची भक्ति का रूपक कवि साँचे से देता है जिसमें ढलने पर मन दृढ़ हो जाता है ।

विशेष :—ब्रह्म तो साधक के अन्तरात्मा का ही दूसरा रूप है । माया के भ्रमवश जीव उसे कस्तूरी के पीछे दौड़ने वाले हरिण की भाँति नाना उपायों से प्राप्त करने की चेष्टा करता है परन्तु वास्तविक ज्ञान होने पर उसका भ्रमनाश हो जाता है और वह 'अहं ब्रह्माऽस्मि' ऐसे ज्ञान को प्राप्त कर लेता है; इसीलिए हमारे यहाँ कहा गया है 'आत्मानं विद्धि' अथवा 'आत्मवित् ब्रह्मैव भवति' आदि ।

अलंकार :—श्लेष, रूपक तथा अनुप्रास ।

कीजै चित सोई तरे, जिहिं पतितनु के साथ ।
मेरे गुन-औगुन-गननु, गनौ न गोपीनाथ ॥८॥

शब्दार्थ :—गननु=समूहों को, गनौ न=गणना मत करो ।

प्रसंग :—कवि की विनयपरक उक्ति :—

भावार्थ :—हे भगवान् आप मेरे गुण तथा अवगुणों के समूह की गणना मत कीजिए अन्यथा गुणाभाव तथा अवगुणों की अतिशयता के कारण मेरा उद्धार नहीं हो सकेगा । आप मेरे लिए अपने मन में वही करुणा लाइए जिसके द्वारा आपने अनेक पापिष्ठों के संघ को मोक्ष-दान किया है ।

विशेष :—यहाँ उपलक्षण पद्धति का कवि ने प्रयोग किया है ।

अलंकार :—अनुप्रास, यमक आदि।

हरि कीजौं बिनती यहै, तुम सौं बार हजार।
जिहि तिहि भाँति डर्यौ रह्यौ, पर्यौ रहौं दरबार ॥६॥

शब्दार्थ :—जिहि तिहिं भाँति = जिस किसी भी प्रकार से।

प्रसंग :—कवि की दीन भक्त के रूप में आराध्य के प्रति प्रार्थनात्मक उक्ति :—

भावार्थ :—हे भगवान् ! मैं आप से सहस्र वार यही निवेदन करता हूँ कि आप जिस भी रूप में चाहें मुझे अपने दरबार में शरण देदें। मैं आपके चरणों में पड़ा रहने में भी सुख मानूंगा।

विशेष :—यहाँ कवि यही बताना चाहता है कि भगवान् की शरण में यदि ठोकरें भी खानी पड़ें तथा और किसी भी प्रकार के दु:ख उठाने पड़ें तो वे अधिक अच्छे हैं अपेक्षा इसके कि बार बार संसार में जन्म लेना पड़े।

अलङ्कार :—अनुप्रास, तथा रूपक।

नितप्रति एकत हीं रहत, बैस-बरन-मन-एक।
चहियतु जुगलकिसोर लखि, लोचन जुगल अनेक ॥१०॥

शब्दार्थ :—एकत = एकत्र, बैस = आयु, बरन = रंग, चहियतु = चाहे जाते हैं।

प्रसंग :—यहाँ कवि ने राधाकृष्ण की रूपातिशयता का वर्णन किया है।

भावार्थ :—जो नित्य प्रति एक होकर रहते हैं, जिनकी आयु, वर्ण तथा मन एक हो गए हैं ऐसे राधा-कृष्ण के जोड़े का सौन्दर्य देखने के लिए नेत्रों का एक ही युग्म पर्याप्त नहीं है, अर्थात् उस रूप को अनेक नेत्रयुग्मों के द्वारा ही देखा जा सकता है। मैं (कवि के लिए) भी उस सुन्दर रूप को अनेक लोचनों से देखना चाहता हूँ।

विशेष :—राधा एवं कृष्ण के एकात्म्य की ओर संकेत किया है। वर्ण की एकरंगता के ऐसे अनेक उदाहरण महाकवि माघ के शिशुपालवध में दिए गए हैं।

अलङ्कार :—अनुप्रास, अतिशयोक्ति एवं सम।

मोहूँ दीजै मोषु, ज्यों अनेक अधमनु दियौ।
जौ बाँधै ही तोषु, तौ बाँधौ अपने गुननु ॥११॥

शब्दार्थ :—मोषु = मुक्ति, अधमनु = नीचों को, तोषु = सन्तोष, गुननु = रज्जुओं से।

प्रसंग :—कवि की मुमुक्षासूचक निवेदनात्मक उक्ति :—

भावार्थ :—कवि कहता है कि हे भगवान् जिस प्रकार आपने अनेक नीच तथा पापियों को मुक्ति प्रदान की है उसी प्रकार मुझे भी मुक्त कर दीजिए (मोक्ष दे दीजिए) और यदि आपको मुझे बाँधने में ही सन्तोष मिलता है तो आप अपने गुणरूपी गुणों (व्यक्तित्व रूपी रज्जु) से बाँध दीजिए।

विशेष :—कवि मोक्ष और बन्धन दोनों को ही अपना अभिप्रेत मान लेता है क्योंकि दोंनों में ही वह ईश्वर के सामीप्य से विलग नहीं होता। यही उसका परम काम्य है। 'गुननु' शब्द से कवि की सगुणोपासना-मूलक प्रवृत्ति का संकेत मिलता है।

अलङ्कार :—श्लेष, रूपक तथा अनुप्रास आदि।

मैं तपाइ त्रयताप सौं, राख्यौ हियौ हमामु।
मति कबहुँक आएें यहाँ, पुलकि पसीजै स्यामु ॥१२॥

शब्दार्थ—तपाइ=तप्त करके, त्रयताप=आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक ताप, मति=कदाचित् , पसीजै=द्रवित होना।

प्रसंग-भावार्थ—कवि कहता है कि मैंने अपने हृदय रूपी हम्माम (स्नानागार) को आध्यात्मिक आधिदैविक तथा आधिभौतिक तीनों प्रकार के तापों से तप्त कर रक्खा है, कदाचित् कभी मेरे मन में भगवान् श्रीकृष्ण आएं तथा मेरे तापों (तपस्या अर्थ भी सम्भव है) से पुलकपूर्ण होकर द्रवीभूत हो उठें।

विशेष—कभी कभी प्रिय अपने प्रेमी की पीड़ा को देखकर भी दयालु हो उठता है यही सोचकर भक्त कवि ने अपने मन को दुःखत्रय के ताप से उष्ण कर रखा है। प्रियतम कृष्ण का मन कोमल है और कोमल वस्तु तनिक से ताप के कारण ही द्रवित होने लगती है।

अलंकार—अनुप्रास, रूपक तथा उत्प्रेक्षा (सम्भावना के कारण)

तौ लगि या मन-सदन में, हरि आवें किंहि बाट।
विकट जटे जौ लगु निपट, खुटें न कपट-कपाट ॥१३॥

शब्दार्थ—तौ लगि=तब तक, सदन=गृह, बाट=मार्ग, जौ लगु=जब तक, निपट=पूर्ण।

प्रसंग-भावार्थ :—भक्त कवि कहता है कि मेरे इस मन रूपी घर में तब तक भगवान् किस मार्ग से आ सकते है जब तक इसके द्वार पर जड़े हुए विशाल कपट रूपी कपाट नहीं खुलते। ईश्वर उसी भक्त के मन में आवास करता है जो कि निश्छल होता है—"भोले भाइ मिलैं रघुराई"। भक्ति के लिए श्रद्धा का होना परम आवश्यक है जो कपटी मन में नहीं रह पाती है।

विशेष :—मन की नीरसता, सकपटता और जड़ता के अर्थों को व्यक्त करने के लिए कवि ने उचित शब्दों का प्रयोग किया है।

अलङ्कार :—अनुप्रास, साङ्गरूपक।

भजन कह्यौ, तातैं भज्यौ; भज्यौ न एकौ बार।
दूरि भजन जातैं कह्यौ, सो तैं भज्यौ गँवार ॥१४॥

शब्दार्थ :—भजन = पूजन, तातैं = उससे, भज्यौ = भागा, भज्यौ न = पूजा नहीं।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि अपने मन को सम्बोधित करते हुए कहता है अरे ग्रामीण (अज्ञानी) मन ! मैंने तुझसे जिसकी पूजा करने के लिए कहा था उससे तू दूर भागता रहा। तूने एक बार भी उसकी उपासना नहीं की। जिन वस्तुओं से मैंने तुझे दूर रहने का आदेश दिया था तूने उन्हीं का सेवन किया।

विशेष :—माया को भक्ति-मार्ग की बाधा कहा गया है। सच्चा भक्त कभी उसके आकर्षण में नहीं फँसता। जिसका हृदय चंचल एवं मोहयुक्त होता है वह बार बार अपने गुरु के उपदेश की अवज्ञा कर के ब्रह्म के सद्रूप को भूल कर अविद्या के असद्रूप को ही सत्य मान कर उसमें स्वयं को बाँध लेता है और इस प्रकार जीवन-मरण तथा सुख-दुःख के चक्र में पड़कर पीड़ित होता रहता है।

मायावाद की प्रतिष्ठापना की गई है। 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' की ओर संकेत किया गया है।

अलङ्कार :—अनुप्रास, पुनरुक्ति तथा यमक ।

पतवारी माला पकरि, और न कछू उपाउ ।
तरि संसार पयोधि कौं, हरि नावैं करु नाउ ॥१५॥

शब्दार्थ :—पतवारी = पतवार, प्रतिज्ञा; पयोधि = समुद्र, नावैं = नाम को ।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि अपने मन को सम्बोधित करते हुए कहता है कि यदि तू इस संसार रूपी सागर को पार करना चाहता है तो हरिनाम रूपी नौका पर बैठ और माला रूपी पतवार को इस नौका में लगादे । इसके अतिरिक्त और कोई भी उपाय नहीं है ।

विशेष :—पतवार के द्वारा ही नौका की संतरणगति तीव्र होती है । प्रत्येक भक्त कवि ने भगवान् के नाम स्मरण के महत्व पर बहुत कुछ लिखा है ।

अलङ्कार :—सांगरूपक और अनुप्रास ।

यह बरियाँ नहिं और की, तू करिया वह सोधि ।
पाहन नाव चढ़ाइ जिहिं, कीने पार पयोधि ॥१६॥

शब्दार्थ :—वरिया = वारी, करिया = पतवार पकड़ने वाला, सोधि = सुधि करना, खोजना ।

प्रसंग-भावार्थ :—एक गुरु अपने शिष्य को सम्बोधित करते हुए कहता है कि अब सिन्धु-संतरण (मोक्ष प्राप्ति) का अवसर आ गया है अतः कोई और पार नहीं लगा सकता । तू उस कर्णधार की सुधि कर अथवा उसे ढूंढ़ले जिसने पत्थर की नौका बना बनाकर अनेक व्यक्तियों को पार लगा दिया है ।

विशेष :—करिया राम के लिए आया है । पत्थरों पर राम का नाम लिख कर नल-नील ने सेतु-वन्धन किया था और उस सेतु पर चढ़कर राम की सेना, कपि तथा भालू आदि सभी पार हो गए थे ।

मनुष्य को अपने जीवन के अन्तिम क्षणों में केवल भगवान् का ही स्मरण करना चाहिए क्योंकि वही इस संसार रूपी सागर से पार करा सकता है; मित्र, कलत्र और पुत्र नहीं ।

अलङ्कार :—रूपकातिशयोक्ति तथा अनुप्रास ।

मोहि तुम्हें बाढ़ी बहस, को जीतै जदुराज।
अपनें अपनें बिरद की, दुहूँ निबाहन लाज ॥१७॥

शब्दार्थ :—बाढ़ी = वढ़ गई है, जदुराज = कृष्ण, बिरद = यश, लाज = मर्यादा।

प्रसंग-भावार्थ :—भक्त कवि भगवान् से कहता है, हे कृष्ण ! अब मुझ में तथा आप में प्रतियोगिता हो रही है। मैं पुराना पापी हूँ और आप पापियों का उद्धार करने वाले हैं। अब हम दोनों को अपनी अपनी मर्यादाओं की रक्षा करनी है अर्थात् आप उद्धार करने में तथा मैं पाप करने में अपनी अपनी कला का प्रदर्शन करैं।

विशेष :—उपलक्षरणा पद्धति के द्वारा कवि यहाँ पर अपनी तुच्छता तथा विनय का प्रदर्शन करता है और यह कहना चाहता है कि भगवान् अधम व्यक्तियों का उद्धार करके वाले हैं।

अलङ्कार :—वक्रोक्ति।

या भव पारावार कौं, उलँघि पार को जाइ।
तिय छवि छायाग्राहिनी, ग्रहै बीच ही आइ ॥१८॥

शब्दार्थ :—पारावार=समुद्र, उलँघि=उल्लंघन करना, छायाग्राहिनी=छाया देखकर पकड़ने वाली।

प्रसंग-भावार्थ :—इस संसार रूपी पारावार को पार करके कौन व्यक्ति उस दूसरे तट (मुक्ति) पर जा सकता है। इस किनारे पर स्त्री की छवि है जो कि पुरुष की छाया देखकर उसे बीच ही में ग्रसित कर लेती है और वह कभी दूसरे तक नहीं जा पाता।

विशेष :—रामचरितमानस में एक स्थान पर आया है कि जब हनुमान् सिंधु पार करने के लिए गए तो उन्हें तट पर एक राक्षसी मिली जिसने उनके मार्ग में बाधा डाली, किन्तु अन्त में हनुमान् उससे बचकर सागर-पार हो गए। वस्तुत: यहाँ पर स्त्री की छवि का तात्पर्य माया से है। "माया महा ठगिनी हम जानी" —यही माया अथवा प्रकृति पुरुष को अपनी ओर संमोहित कर लेती है जिससे वह कभी नि:श्रेयस की प्राप्ति के लिए उद्योग नहीं कर पाता। हनुमान

जैसे जितेन्द्रिय व्यक्ति ही उसके पार जा सकते हैं।

अलंकार :—अनुप्रास-रूपक आदि।

तुलनात्मक :—संसार ! तव निस्तारपदवी न दवीयसी।
अन्तरा दुस्तरा न स्युर्यदि मदिरेक्षणा: ॥
—भर्तृहरि

लोपे कोपे इन्द्र लौं, रोपे प्रलय अकाल।
गिरिधारी राखें सबै, गो गोपी गोपाल ॥१९॥

शब्दार्थ : —लोपे=लोप होगए, लौं=समान।

प्रसंग-भावार्थ:—भक्त कवि कृष्ण भगवान् के माहात्म्य की ओर संकेत करते हुए कह रहा है कि जब असमय में ही इन्द्र ने निरन्तर कुपित होकर वर्षा द्वारा प्रलय-बेला उपस्थित करदी तब भगवान् श्रीकृष्ण ने पर्वत को अपनी अंगुलि पर धारण करके गाय, गोपिका तथा ग्वालों की रक्षा की तथा इन्द्र जैसे क्रुद्धों को लुप्त कर दिया।

विशेष :—श्रीकृष्ण के लोकरक्षक रूप का वर्णन किया गया है और उनकी अपार शक्ति का, कवि ने गो, गोपी तथा गोपाल की पृथक् पृथक् आवृत्ति करके, विराट् व्यक्तित्व उपस्थित कर दिया है।

अलंकार :—अनुप्रास, परिकरांकुर, उपमा तथा अतिशयोक्ति।

ब्रज बासिनु कौ उचित धनु, जो धन रुचित न कोइ।
सुचित न आयौ सुचितई, कहौ कहाँ तें होइ ॥२०॥

शब्दार्थ :—धनु=धन, धन=धन्यवाद, सुचित न आयौ=वह चित्त में न आया।

प्रसंग-भावार्थ :—भक्त कवि अपने हृदय से कहता है कि श्रीकृष्ण ही जिन ब्रज के निवासियों के उचित प्राप्य धन हैं, वे धन्य हैं। उन्हें और कुछ भी नहीं रुचता है। अरे मन ! यदि वही तेरे चित्त में नहीं आए तो तुझ में किस प्रकार पवित्रता आ सकती है।

विशेष :—मन तभी पवित्र हो सकता है जब कि उसमें भगवान् का आवास हो।

अलंकार :—यमक, अनुप्रास।

करौं कुबत जग, कुटिलता तजौं न, दीन दयाल ।
दु:खी हो उगे सरल हिय, बसत त्रिभंगीलाल ॥२१॥

शब्दार्थ :—कुबत = कुबात, कुटिलता = वक्रता, बुराई; त्रिभंगीलाल = तीन ओर से टेढ़े ।

प्रसंग-भावार्थ :—भक्त भगवान् से कहता है कि मैं संसार की समस्त बुराइयों को करता रहूँगा और हे दीनदयाल अपनी नीचता का कभी त्याग नहीं करूंगा क्योंकि ऐसा न करने से मेरा मन सरल (सीधा) हो जाएगा और आपके त्रिभंगी शरीर को उसमें प्रवेश करने पर कष्ट होगा ।

विशेष :-–यहाँ बिहारी का वाग्वैदग्ध्य देखते ही बनता है । भगवान् कृष्ण जब मुरली-वादन करते हैं तो उनका शरीर तीन भागों में मुड़ जाता है । कवि को अपने आराध्य का यही रूप इष्ट है । वह नहीं चाहता कि अपने मन को सरल बनाकर अपने भगवान् को कष्ट दे अर्थात् त्रिभंगी वस्तु का प्रवेश भी किसी कुटिल वस्तु में ही सम्भव है ।

अलंकार—सम ।

दूरि भजत प्रभु पीठि दै, गुन-विस्तारन-काल ।
प्रगटत निर्गुन निकट रहि, चंग रंग भूपाल ॥२२॥

शब्दार्थ :—पीठि दै=मुंह मोड़ कर, गुन=डोर-स्वभाव, चंगरंग=पतंग के समान ।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि ने निर्गुण ब्रह्म का समर्थन पतंग की उपमा देकर किया है ।

जिस समय पतंग उड़ाई जाती है तब वह डोर बढ़ा देने पर काफी ऊँची दूर तक उड़ जाती है और जब उस डोर को अपने निकट खींचा जाता है तो पतंग भी निकट चली आती है उसी प्रकार जब जब विश्वपालक भगवान् के गुणों की व्याख्या करना भक्त आरंभ कर देता है वह दूर होते जाते हैं और जब उनकी निराकारोपासना करता है तो वे अत्यंत निकट हृदय में ही चले आते हैं ।

विशेष :—सगुणोपासना में सेव्य-सेवक भाव का द्वैत बना रहता है अत:

भगवान् दूर रहता है परन्तु निर्गुणोपासना में ब्रह्म और साधक में अद्वैतता बनी रहती है।

अलंकार :—उपमा, श्लेष तथा अनुप्रास।

निज करनी सकुचेंहि कत, सकुचावत इहिं चाल।
मोहूँ से नित विमुख त्यों, सनमुख रहि गोपाल ॥२३॥

शब्दार्थ :—त्यौं=और, सनमुख=अनुकूल।

भावार्थ :—कोई भक्त भगवान् से दूर रहा अतः संकुचित होकर भगवान् की कृपा प्राप्त करके और अधिक लज्जित होता है, और कहने लगता है, हे भगवान् अपने बुरे कर्मों के करने से मुझ संकोची को, जो आपसे सदा विमुख रहा है, इस प्रकार की कृपापूर्ण अनुकूलता दिखा कर लज्जित कर रहे हैं।

विशेष :—किसी बुरे व्यक्ति को यदि सन्मार्ग पर लाना हो तो उसे बुराई की अपेक्षा उदारता से परिवर्त्तित करना चाहिए। इसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव भी पड़ता है। भक्त भगवान् की दया के सम्मुख स्वयं ही लज्जित होने लगता है और अपने पूर्वकृत अपुण्यों को छोड़ देता है।

अलंकार :—विरोधाभास।

गिरि तें ऊँचे रसिक मन, बूड़े जहाँ हजारु।
वहै सदा पसु नरन कौं, प्रेम पयोधि पगारु ॥२४॥

शब्दार्थ :—पगारु=खाई।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि ने भक्ति के प्रेम के माध्यम से सज्जन (रसिक) तथा असज्जन (अरसिक) का भेद करते हुए कहा है :—

भगवान् के जिस प्रेम रूपी अथाह सागर में पर्वतों से भी विशाल हृदय वाले रसिक मग्न होगए वही नीरस व्यक्ति रूपी पशु के लिए एक साधरण खाई के समान होता है।

विशेष :—प्रेम का वास्तविक अर्थ तो कोई भावुक ही जान पाता है नीरस नहीं, इसी प्रकार भक्ति करने के लिए रसिक हृदय होना पहली सीढ़ी है।

अलंकार :—रूपक, अनुप्रास तथा विषम।

मैं समुझ्यौ निरधार, यह जगु काँचौ काँच सौ।
एकै रूपु अपार, प्रतिबिंबित लखियतु तहाँ ॥२५॥

शब्दार्थ :—निराधार=निर्धारित करके।

प्रसंग-भावार्थ :—भक्त कवि कहता है कि मैंने अब यह निर्धारित कर लिया है कि यह संसार पारदर्शी कच्चे शीशे के समान है जिसमें एक ही वस्तु अनेक प्रतिबिम्बों में भासित होती हुई दिखाई पड़ती है।

विशेष :—यहाँ पर कवि पर अद्वैतवाद एवं प्रतिबिम्बवाद का विशेष रूप से प्रभाव पड़ा है। जिस प्रकार वृक्ष के ऊपर के आकाश तथा वन के ऊपर के आकाश के स्थूल द्वैत में भी सूक्ष्मत: ऐक्य है और जिस प्रकार जलगत आकाश के बिम्ब तथा जलाशयगत आकाश के बिम्ब में एकता होने पर भी अनेक रूपता अध्यासित होती है उसी प्रकार यह शुद्ध चिन्मय ब्रह्म मायोपहित होकर ईश्वर, जीव तथा जगत् के रूप में प्रतिभासित होता है।

अलंकार :—उपमा।

तुलनात्मक :—"जग में आकर इधर उधर देखा।
तू ही आया नज़र जिधर देखा॥"
—मीरदर्द

मोहन मूरति स्याम की, अति अदभुत गति जोइ।
बसतु सुचित अंतर तऊ, प्रतिबिम्बत जगु होइ॥२६॥

शब्दार्थ :—जोइ=देख कर।

प्रसंग-भावार्थ :—भक्त कवि को, मन में भगवान् के बसने के कारण वाह्य जगत् उसी शुद्ध चैतन्य के प्रतिबिम्ब रूप में दिखाई पड़ रहा है।

श्याम की मूर्त्ति अत्यंत संमोहनमयी है। इसकी गति अत्यंत अद्भुत ही दिखाई पड़ती है। यद्यपि वह हृदय के भीतर जाकर बस गई है तथापि यह निखिल प्रतीयमान सृष्टि उसी से बिम्बित होती हुई दीख पड़ रही है।

विशेष :—किसी ऐसी वस्तु का, जो स्वयं किसी के भीतर छिपी हुई है, बाहर बिम्ब नहीं पड़ता परन्तु वेदान्त के सिद्धान्त के अनुसार पंचकोषों से आच्छादित प्रत्यक् चैतन्य के प्रतिबिम्ब से ही इन्द्रियाँ वस्तु ग्रहण कर पाती हैं।

यही स्थिति वस्तु और अवस्तु का भेद होजाने पर भक्त की होती है जब वह यही कहने लगता है "सर्वं खलु, इदं ब्रह्म," "एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति" अथवा "इन्द्रो मायाभि: पुरुरूप ईयते" आदि।

अलंकार :—विरोधाभास तथा अद्भुत अलंकार।

दियौ सुसीस चढ़ाइ लै, आछी भाँति अएरि।
जापैं सुखु चाहतु लियौ, ताके दुखहिं न फेरि ॥२७॥

शब्दार्थ :—अएरि = स्वीकार कर ले, जापैं = जिस पर से, फेरि = वापस करना।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि अपने मन को सम्बोधित करते हुए कहता है कि जिस ईश्वर ने तुझे जो कुछ दिया है उसे भली प्रकार स्वीकार कर ले। यदि तू उससे सुख पाना चाहता है तो उसके दिए हुए दु:ख को मत लौटा।

विशेष :—सुख और दु:ख का क्रम चक्र की नेमि के समान चलता रहता है, जो आज दु:ख लेकर संतोष कर लेता है उसे कल सुख अवश्य मिलेगा।

अलंकार :—अनुप्रास।

कब कौ टेरत दीन ह्वै रट, होत न स्याम सहाइ।
तुमहूँ लागी जगत गुरु, जग नाइक जग बाइ ॥२८॥

शब्दार्थ :—रट = पुकार, सहाइ = सहायक, बाइ = वायु।

भावार्थ :—कवि भगवान् को उलाहना देता हुआ कहता है कि मैं कब से दीन स्वर में तुम्हें पुकार रहा हूँ परन्तु तुम मेरे सहायक नहीं होते। हे संसार के स्वामी भगवान् कृष्ण! तुम सबके गुरु हो परन्तु तुम्हारी यह निष्ठुरता देखकर लगता है मानों तुम्हें भी दुनियाँ की हवा लग गई हो।

विशेष :—दुनियाँ की हवा लगना एक प्रसिद्ध मुहावरा है जिसका अर्थ है संसारी होकर अपने कार्याकार्य को भूल जाना। जिसे जगत् की हवा प्रभावित कर देती हो वह अपना कर्त्तव्य भूल बैठता है। कदाचित् भगवान् भी दुनियाँ से प्रभावित होकर दीनों का उद्धार करने की अपनी मर्यादा को भुला बैठे हैं। यहाँ सूर का सा सख्यभाव दर्शनीय है।

अलंकार :—उत्प्रेक्षा और अनुप्रास।

बन्धु भए का दीन के, को तार्यो रघुराइ।
तूठे तूठे फिरत हौ, झूठे विरद कहाइ ॥२६॥

शब्दार्थ :—तूठे = संतुष्ट, कहाइ = कहलाकर।

प्रसंग भावार्थ :—कवि भगवान् से उलाहना देते हुए कहता है कि तुमने किस दीन के साथ बन्धुता स्थापित की है ? हे रघुराज रामचन्द्र ! तुमने किस का उद्धार किया है ? तुम व्यर्थ ही झूठे यश को लेकर सन्तुष्ट हुए फिरते रहते हो।

विशेष :—यहाँ भक्त (कवि) अपने उद्धार न होने के विषय में संकेत करते हुए कहता है कि जब तक तुम मेरा उद्धार नहीं करोगे तब तक तुम्हारे दीनबन्धुत्व तथा पतितपावनत्व मिथ्या है। यहाँ भी सख्यभाव की भक्ति है।

अलंकार :—पुनरुक्ति और वक्रोक्ति।

नीकी दई अनाकनी, फीकी परी गुहारि।
तज्यौ मनौं तारन-बिरदु, बारक बारनु तारि ॥३०॥

शब्दार्थ :—नीकी = भली, अनाकनी = आनाकानी करना, गुहारि = पुकार, बारन = हाथी।

प्रसङ्ग भावार्थ :—भक्त (कवि) भगवान् से उपालम्भ देते हुए कहता है कि हे भगवान् ! आपने अच्छी अनसुनी कर दी। मेरी सभी पुकारें प्रभावहीन हो गईं। आपकी इस उदासीनता से लगता है मानों आपने एक बार हाथी का (मगर से) उद्धार करके फिर वह संसार-सागर से पार उतारने का यश छोड़ दिया है।

विशेष :—गज और ग्राह की घटना सर्वविदित ही है। ग्राह से गज की रक्षा करने के लिए भगवान् नंगे पैर दौड़ कर आए थे।

अलंकार :—वक्रोक्ति, उत्प्रेक्षा, रूपक और अनुप्रास आदि।

जम-करि-मुंह-तरहरि पर्यौ, इहिं धरहरि चित लाउ।
बिषय-तृषा परिहरि अजौं, नर हरि के गुन गाउ ॥३१॥

शब्दार्थ :—जम = यम, करि = हाथी, तरहरि = नीचे, धरहरि = दृढ़ता-पूर्वक, नरहरि = भगवान, गुरु का नाम।

भावार्थ :—कवि अपने मन को समझाते हुए कह रहा है कि तू यम रूपी हाथी के मुंह के नीचे आ पड़ा है अत: अब भी अपने मन में दृढ़ता पूर्वक भगवान् (अथवा गुरु को) ग्रहण कर ले। आज भी समय है कि तू सांसारिक विषय वासनादि रूपी तृष्णाओं को छोड़कर उनकी शरण में स्थान पाले।

विशेष : —बाबा नरहरि दास कविवर बिहारी के दीक्षा गुरु थे।

अलंकार :—यमक, रूपक, श्लेष तथा अनुप्रास।

कौन भाँति रहि है बिरदु, अब देखिबी मुरारि।
बीधें मोसों आनि कै, गीधे गीधहि तारि ॥३२॥

शब्दार्थ :—देखिवी = देखना है। मुरारि = मुरा नामक राक्षस के शत्रु कृष्ण। वींधे = उलझ गए हो। गीधे = आदत पड़ गई है। गीधहिं तारि = जटायु नामक गृद्ध का उद्धार करके।

भावार्थ :—भक्त (कवि) भगवान् से कहता है कि हे मुरारि! अब मुझे यही देखना है कि आप अपने यश को कहाँ तक रखते हैं। यह जटायु नामक गृद्ध नहीं है जिसका एक बार उद्धार कर देने से आपको तारने की आदत पड़ गई है, अब की बार आपका पाला मुझ जैसे पापी से पड़ा है। मुझ से बिंधने पर कोई फिर कभी सुलझा नहीं है।

विशेष :—उपलक्षण पद्धति का प्रयोग। बींधे जैसे बुन्देल खण्डी शब्दों का प्रयोग। मुरारि विष्णु के ही अवतार राम और कृष्ण थे। राम ने जटायु का रावण से उद्धार किया था। मुर और जटायु का स्मरण दिला कर भक्त प्रकारान्तर से भगवान् को अपने लिए अनुकूल करने की चेष्टा कर रहा है।

अलंकार :—अनुप्रास-यमक।

जगतु जनायौ जिहिं सकलु सो हरि जान्यौ नांहि।
ज्यों आँखिनु सबु देखियै, आँखि न देखी जांहि ॥३३॥

शब्दार्थ :—जनायौ=ज्ञान का विषय बनाया, देखियै=देखा जाता है।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि भगवान् के प्रति कहता है कि जिसने सम्पूर्ण चरा-

चर विश्व को इन्द्रियज्ञान का विषय बनाया है वही ज्ञानातीत है। जैसे आँखों के द्वारा सब कुछ देखा जा सकता है किन्तु स्वयं आँख को नहीं देख सकते वैसे ही ईश्वर भी ज्ञानातीत है।

विशेष :—यह सम्पूर्ण विश्व ब्रह्म का ही विवर्त्त है, वही इसे उत्पन्न करता है और वही इसे दिखाता भी है। ब्रह्म अपरिदर्शनीय है, अवाङ्मनस्-गोचर है।

अलंकार :—अनुप्रास, विरोधाभास और दृष्टान्त।

दीरघ साँस न लेहु दुख, सुख साईंहिं न भूलि।
दई दई क्यों करतु है, दई दई सु कबूलि॥३४॥

शब्दार्थ :—दीरघ=दीर्घ, लेहु=लो, साईंहिं=स्वामी को, दई-दई=दैव दैव, दई=दी। सु=उसे, कबूलि=स्वीकार करलो।

प्रसंग-भावार्थ :—कोई गुरु अपने आपद्ग्रस्त शिष्य को (अथवा कवि अपने मन को) समझाते हुए कहता है तुझे दु:ख में दीर्घ निश्वास नहीं लेनी चाहिए और न ऐश्वर्य के क्षणों में ईश्वर को ही भुला देना चाहिए। तू इस दु:ख को देखकर क्यों 'दैव-दैव' करके पुकारता है। जो विधाता ने दिया है—सुख अथवा दु:ख—उसे (भगवत्प्रसाद मानकर) स्वीकार कर ले।

विशेष :—वास्तविक ज्ञान होने पर व्यक्ति में तितिक्षा उत्पन्न हो जाती है। वह संसार के सुख-दु:खों की अनुभूति से निर्लिप्त होकर जीवन्मुक्त की भाँति रहता है। उसकी दृष्टि में 'सुख दु:खे समे' ही सत्य है।

अलङ्कार :—यमक तथा पुनरुक्ति।

जाकें एकोएक हूँ जग ब्यौसाइ न कोइ।
सो निदाघ फूलै फरै आकु डह डहौ होइ॥३५॥

शब्दार्थ :—ब्यौसाई=व्यवसाय, निदाघ=ग्रीष्म, आकु=अकौआ, डहडहौ=हराभरा।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि कहता है कि जिसका कोई भी सहायक नहीं होता उसकी रक्षा कठिन से कठिन समय में इसी प्रकार ईश्वर करता है जैसा कि सर्वथा एकाकी, उद्योगहीन अकौए का पेड़ गर्मी के दिनों में भी हराभरा रहता है जबकि अन्य वृक्ष जल द्वारा सींचे जाने पर भी उतने हरे भरे नहीं रह पाते।

विशेष :—(वस्तुत: यह दोहा अन्योक्तियों के अन्तर्गत आना चाहिए था परन्तु भक्ति परक होने के कारण इसे यहीं दिया गया है ।)

अलङ्कार :—विरोधाभास-अनुप्रास-अन्योक्ति ।

मन मोहन सों मोहु करि, तू घनस्यामु निहारि ।
कुंज बिहारी सों बिहरि, गिरधारी उर धारि ।।३६।।

शब्दार्थ :—मन मोहन = कृष्ण, घन स्यामु-कुंजबिहारी-गिरधारी = श्रीकृष्ण ।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—कवि अपने मन को समझाते हुए कह रहा है कि तू अन्य देवी देवताओं के पीछे पीछे मत भाग ! तू केवल मन को मोहने वाले कृष्ण से मोहकर, सदा घनश्याम (कृष्ण) को ही देखा कर, कुंजों में विहार करने वाले कृष्ण के साथ साथ ही विहार किया कर और गोवर्द्धन पर्वत को धारण करने वाले कृष्ण को ही हृदय में धारण किया कर ।

विशेष :—अनेक देवताओं की अपेक्षा कवि ने एक ही देवता के अनेक रूपों की पूजा करने के लिए विशेष बल दिया है ।

अलंकार :—परिकरांकुर-अनुप्रास और अधिक ।

समै पलट पलटै प्रकृति को न तजै निज चाल ।
भौ अकरुन करुना करौ, इंहिं कपूत कलिकाल ।।३७।।

शब्दार्थ :—पलटि = परिवर्त्तन, चाल = स्वभाव, भौ = हो गए, अकरुन = निष्ठुर, कुपूत = बुरा ।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—समय के बीतने पर कौन अपनी प्रकृति को नहीं बदल देता । वही बात मन में रखकर कवि (भक्त) ईश्वर से उलाहना दे रहा है कि इस दुष्ट कलिकाल में आप भी अपने करुणा करने वाले स्वभाव को छोड़कर निर्मम हो गए हैं ।

अलंकार :—अनुप्रास, अर्थान्तरन्यास ।

को छूट्यौ इंहिं जाल परि कत कुरंग अकुलात ।
ज्यों ज्यों सुरभि भज्यौ चहत त्यों त्यों उरझत जात ।।३८।।

शब्दार्थ :—कत = क्यों, सुरभि = सुलझना ।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—यहाँ पर भक्त किसी संसारी व्यक्ति को भौतिक दुःखों से मुक्ति पाने के लिए चेष्टा करता हुआ तथापि दुःखी होता हुआ देखता है। यही बात हिरन की अन्योक्ति से स्पष्ट कर दी गई है। अरे कुरंग (हिरन, अथवा बुरी वस्तु से प्रेम करने वाला-मायोपहित जीव) इस जाल (विश्व) में जो एक बार फंस गया वह सुलझने की चेष्टा करने पर भी बार बार उसी में उलझ गया। तू व्यर्थ ही आकुल क्यों हो रहा है।

विशेष :—जीवात्मा इस माया के वास्तविक रूप को (मिथ्या) जानकर भी उससे मुक्त नहीं हो पाता है। यही तत्त्व यहाँ संकेतित किया गया है।

अलंकार :—पुनरुक्ति, विरोधाभास तथा अन्योक्ति।

अपनें अपनें मत लगे बादि मचावत सोरु।
ज्यों त्यों सबकों सेइबौ एकौ नन्द किसोरु ॥३९॥

शब्दार्थ :—बादि=मतवाद, व्यर्थ, सेइबौ=सेवन करना, एकौ=एक ही।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि यहाँ पर यह सिद्ध करना चाहता है कि विविध देवताओं की पूजा करना एक ही नन्द किशोर की आराधना है। वह कृष्ण ही अपने विभिन्न रूपों में अन्य देवताओं में भी विद्यमान हैं। व्यर्थ ही लोग भाँति-भाँति के दार्शनिक मतवादों का प्रयोग करते हैं, अन्ततोगत्वा ईश्वर एक ही है।

विशेष:—सगुण नन्दकिशोर कृष्ण के माध्यम से निर्गुण 'एकमेवाद्वितीयम्' ब्रह्म की सत्ता की ओर ही कवि का प्रयोजन है। इसी को हम Unity in Diversity भी कह सकते हैं; 'एक तत्त्व की ही प्रधानता कहो उसे जड़ या चेतन।'

अलंकार :—पुनरुक्ति।

लटुवा लौं प्रभु कर गहैं, निगुनी गुन लपटाइ।
वहै गुनी कर तै छुटैं, निगुनीयै ह्वै जाइ ॥४०॥

शब्दार्थ :—लटुवा=लट्टू, लौं=समान, गुण=डोरी, निगुनीयै=निर्गुण ही।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि लट्टू की उपमा से भगवान् और जीवात्मा के गुणी, निर्गुणी रूप पर अपना मत देना चाहता है। जिस प्रकार लट्टू, घुमाने वाले की डोर में बंध कर सगुण होता है और उसके हाथ से छूटने पर निर्गुण

उसी प्रकार व्यक्ति भी ईश्वर का हाथ (कृपा) होने पर गुणी और उसका हाथ छूटने पर निर्गुणी (गुणहीन) हो जाता है।

विशेष :—यदि 'प्रभु' शब्द के बाद कामा लगा दिया जाय तो यही अर्थ व्यक्ति की अपेक्षा ईश्वर के लिए लग सकता है। यहाँ व्यक्ति की पकड़ को ही प्रमुखता दी गई है। यह उसी पर आधारित है कि वह ईश्वर को सगुण अथवा निर्गुण जैसे चाहे वैसे स्वीकार करले।

अलंकार :—उपमा, श्लेष।

तौ, बलियै, भलियै बनी, नागर नंद किसोर।
जौ तुम नीकै कै लख्यौ मो करनी की ओर ॥४१॥

शब्दार्थ :—बलियै=बलिहारी, भलियै=अच्छा ही, कै=करके, करनी=कर्म।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि (भक्त) भगवान् से कहता है, हे नंद किशोर! मैं तुम पर तभी बलिहारी हो जाऊं जब तुम मेरे किये हुये कार्यों की ओर उदार दृष्टि डालो। तब मेरा हर कर्म (आपकी सदय दृष्टि से) अच्छा ही हो जाएगा।

विशेष:—ईश्वर की कृपा होने पर बुरे काम भी भले कामों में परिणित हो जाते हैं। गणिका तोते को 'राम' नाम रटाकर और अजामिल मरते समय अपने बेटे नारायण (जो ईश्वर के नाम का पर्याय है) को बुलाने पर ही ईश्वर की कृपा से आजीवन कुकर्म करने पर भी मोक्ष के अधिकारी होगए थे।

अलंकार :—अनुप्रास।

ज्यों ह्वै हौं त्यौं होउंगौ, हौं हरि अपनी चाल।
हठ न करौ अति कठिन है, मो तारिबौ, गुपाल ॥४२॥

शब्दार्थ :—ज्यों ह्वै हों = जैसा होऊंगा। चाल = कर्म। मो तारिबो = मेरा उद्धार करना।

प्रसंग-भावार्थ :—कोई भक्त (कवि) भगवान् से कहता है कि मैं घोर पातकी हूं। आप अधिक सुकुमार हैं। मेरा उद्धार करना आप के द्वारा संभव नहीं है। जैसा भी होगा, मैं अपने शुभाशुभ कर्मों के आधार पर बन जाऊंगा,

आप इतना कष्ट उठाने की हठ मत कीजिए।

विशेष:—भक्तिविह्वल कवि यहाँ पर भगवान् के विराट रूप और उनकी अपरिमित शक्ति की ओर न ध्यान देकर उनके सुकुमार शरीर, जो कि उसकी पूजा के ध्यान में निश्चित हो चुका है, की ही कल्पना कर रहा है। 'हठ' शब्द का प्रयोग करने से भक्त की भगवान् के प्रति जो आत्मीयता प्रकट होती है वह अत्यंत सुन्दर बन पड़ी है।

अलंकार:—अनुप्रास, तथा अतिशयोक्ति।

चिरजीवौ जोरी, जुरैं क्यों न सनेह गँभीर।
को घटि, ए वृषभानुजा, वे हलधर के वीर।।४३।।

शब्दार्थ:—चिरजीवौ = चिरंजीव हों। जुटै = मिली रहे। वृषभानुजा = राधा, गाय। हलधर के वीर = कृष्ण, बैल।

प्रसग-भावार्थ:—(१) यहाँ पर कवि ने राधा और कृष्ण दोनों के तुल्यानुराग के स्थायित्व के लिए अपने विचार प्रकट करतें हुए लिखा है कि यह जोड़ी चिरंजीवी हो, इनका पारस्परिक स्नेह क्यों न गंभीर रहेगा? इनमें कौन किससे कम है? यदि ये वृषभानु की पुत्री हैं तो वे हलधर बलराम के भाई हैं। वृषभानु और बलराम दोनों ही राजा थे अत: राधाकृष्ण दोनों ही राज्यवंशी हैं।

(२) राधा की सखी उसके कृष्ण के प्रति किए प्रेम का परिहास करती हुई कहती है कि इनका प्रेम स्थायी क्यों न होगा—अर्थात् तनिक भी न होगा ये अत्यंत प्रचण्ड तेजोमय वृषराशि के सूर्य की पुत्री हैं तो वे हलधर शेषनाग के अवतार के भाई हैं अर्थात् दोनों ही कोपनशील स्वभाव के हैं जो कि प्रेम के स्थायित्व में व्यवधान होता है।

(२) कवि यहाँ पर स्वयं भी श्लेष के द्वारा राधा कृष्ण के साथ परिहास कर रहा है। यह जोड़ी चिरस्थायी हो। इनका प्रेम गंभीर बना रहे। इन दोनों में से कोई भी तुलना में कम नहीं है। यदि राधा वृषभ की अनुजा गाय हैं तो कृष्ण हल धारण करने वाले किसानों के वीर प्रिय हैं; अर्थात् यह जोड़ी गाय और बैलों की ही है।

विशेष:—भक्ति शृंगार तथा हास्य रस का एकत्र समन्वय द्रष्टव्य है।

अनुप्रास, श्लेष, वक्रोक्ति तथा सम अलंकारों का प्रयोग किया गया है।

तुलनात्मक :— अनगने ओटपाय रावरे गने न जाँहि,
वे ऊ आहि तमकि करैया अभिमान की।
तुम जोई सोई कहौ वे ऊ जोई सोई सुनैं,
तुम जीभ पातरे वे पातरी हैं कान की॥
कैसें केसौराय काहि बरजौं मनाऊं काहि,
आपने समाँ धौं कौन सुनत सयान की।
कैऊ बड़वानल की ह्वै है सोईं अहै बीच,
तुम वासुदेव वे हैं बेटी वृषभानु की॥ —केशव

थोरैं हूँ गुन रीझते बिसारई वहि बानि।
तुम हूँ कान्ह मनौं भए आजु काल्हि के दानि॥४४॥

शब्दार्थ :— बानि = आदत।

प्रसंग-भावार्थ :—भक्त का कथन भगवान् से है। पहिले तुम जो किसी व्यक्ति के तनिक से भी गुणों पर रीझ जाया करते थे अब अपनी उस आदत को भूल गए। ऐसा ज्ञात होता है मानों हे कृष्ण ! तुम भी आज कल के दानी बन कर रह गए हो।

विशेष :—पहले तो आजकल का दानी कुछ देता ही नहीं; फिर यदि देता भी है तो बड़ी टालमटोल के पश्चात्।

अलंकार :—उत्प्रेक्षा।

जौ न जुगति पिय मिलन की, धूरि मुकति मुँहि दीन।
जौ लहियै सँग सजन, तौ धरक नरक महिं कौन॥४५॥

शब्दार्थ :—जुगति = युक्ति, धूरि = धूलि, धरक = घर।

प्रसंग-भावार्थ :—कोई सगुणोपासक निर्गुणी से कहता है कि यदि मुक्ति के द्वारा प्रियतम (ब्रह्म या भगवान्) से भेंट होने का उपाय नहीं मिलता तो उस पर धूल मारो। यदि अपना प्रिय अपने साथ हो तो नरक में भी अपना घर बनाया जा सकता है।

अलंकार :—व्यतिरेक ।

कहा भयौ, जो बीछुरे, मो मनु तोमन-साथ ।
उड़ी जाहु कित हौं तऊ, गुड़ी गुड़ायक हाथ ॥४६॥

शब्दार्थ :—बीछुरे=विछुड़ गए, गुड़ी=पतंग, गुड़ायक=पतंग उड़ाने वाला ।

प्रसंग-भावार्थ :—किसी भक्त का भगवान के प्रति कथन है कि यदि हम तुम बिछुड़ गये हैं तो इससे क्या । मेरा और तुम्हारा मन तो एक दूसरे के संग है । पतंग आकाश में कितनी ऊंची उड़जाए परन्तु उसकी डोर तो धरती पर खड़े हुए उड़ाने वाले के हाथों में ही रहती है ।

विशेष:—आत्मा और ब्रह्म दोनों ही शुद्ध चैतन्य हैं, माया से विभेद भासित होता है । इसी विभेद की निस्सारता ज्ञात होने पर द्वैत में अद्वैत आ जाता है ।

अलंकार :—दृष्टान्त ।

अजौं तर्‌यौना ही रह्यौ, स्रुति सेवत इक-रंग ।
नाकु बासि बेसारि लह्यौं बसि मुकतनु कैं संग ॥४७॥

शब्दार्थ :—तर्‌यौना=कर्णाभूषण-अमोक्षप्राप्त, स्रुति=कान-वेद, नाकु=नासिका-स्वर्ग, मुकतनु=मोती-मुक्तपुरुष ।

प्रसंग-भावार्थ :—कोई सगुणोपासक किसी वैदिक भक्त का उपहास करते हुए कहता है कि तुमने अब तक श्रुति रूपी श्रुति (कान रूपी वेद) का ही अध्ययन किया है अतः तरयौना (एक कर्णाभरण रूपी संसारी) बने हुए हो । क्या लाभ हुआ उनके एकान्त अध्ययन से ? अरे मुक्ताओं (मोती रूपी मुक्त पुरुषों) का साथ करने पर बेसर जैसे तुच्छों को भी नाकवास (नासिका रूपी स्वर्गधाम) मिल गया है।

विशेष—नाक की अपेक्षा कान का ऊंचा स्थान होता है किन्तु कान का आभूषण साधारण सा तरयौना ही होता है जबकि नाक का बेसर अधिक मूल्य का होता है ।

अलंकार :—श्लेष-रूपक तथा व्यतिरेक ।

षट्ऋतु-वर्णन

(ग्रीष्म)

कहलाने एकत बसत अहि मयूर मृग बाघ।
जगत तपोवन सो कियो दीरघ दाघ निदाघ ॥४८॥

शब्दार्थ :—कहलाने=ग्रीष्माकुल, अहि=सर्प, मयूर=मोर, दाघ=दाह, निदाघ=ग्रीष्म।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि ग्रीष्म ऋतु का वर्णन करते हुए कहता है :—

ग्रीष्म ऋतु की प्रचण्ड उष्णता के कारण सम्पूर्ण वनस्थली तपोभूमि के समान दिखाई पड़ रही है क्योंकि सर्प और मोर तथा छोटे छोटे वन्यपशु (मृग आदि) तथा बाघ जैसे हिंस्र पशु एकत्र बैठे हुए गर्मी से व्याकुल हो रहे हैं।

विशेष :—लाला भगवानदीन ने 'कहलाने' का अर्थ किसलिए भी किया है। इस प्रकार प्रथम पंक्ति में राजा जयशाह द्वारा किया प्रश्न है और द्वितीय पंक्ति में विहारी द्वारा उसका उत्तर है। हमारे विचार से तो यह संगत नहीं प्रतीत होता। विहारी जैसे सहज-सरल कवि इस प्रकार का चमत्कार (प्रयास-पूर्ण) अपनी कविता में नहीं करते होंगे। जब समान्य अर्थ में बाधा पड़ती है तभी ऐसे दूरारूढ़ अर्थ अधिक अच्छे लगते हैं अथवा उन्हें प्रकृत अर्थ से उत्तम होना चाहिए। अस्तु।

अलंकार :—उपमा, यमक, अनुप्रास तथा काव्यलिङ्ग।

बैठि रही अति सघनबन, पैठि सदन तन माँह।
निरखि दुपहरी जेठ की, छाँहौं चाहति छाँह ॥४९॥

शब्दार्थ :—पैठि=प्रविष्ट होकर, छांहीं=छाया भी, तन=शरीर, वृक्ष का तना।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि ज्येष्ठ मास की तीव्र धूप को देख कर कहता है कि दोपहर की प्रचण्ड उष्णता को देखकर छाया भी छाँह माँगने लगी है। यही कारण है कि वृक्षों की छाया उनके तनों रूपी भवनों में आकर सीमित होगई है। इसी प्रकार घने काननों की छाँह में छायार्थिनी होकर वृक्षों की छाया दोपहर

की घड़ियाँ बिता देती है।

विशेष :—तीव्र गर्मियों में वृक्षों की छाया संकुचित हो जाया करती है, वह अपना विस्तार छोड़कर केवल एक दिशा में ही आयामित होजाती है।

अलंकार :—समासोक्ति, रूपक, अत्युक्ति, अनुप्रास तथा ग्रीष्म की तप्तता में स्वभावोक्ति। कवि ने प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण करके यह आलम्बन पूर्ण चित्र अंकित किया है।

नाहिन ये पावक प्रबल, लुवैं चलत चहुँ पास।
मानहुँ विरह वसन्त के ग्रीषम लेत उसाँस ॥५०॥

शब्दार्थ :—नहिन=नहीं हैं। पावक=ज्वाला। उसास=उच्छ्वास।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि ने दोपहर की तीव्र लुओं के चलने का वर्णन करते हुए लिखा है कि न तो यह प्रचण्ड ज्वाला है और न ही चारों ओर लू चल रही है। लगता है मानो प्रियतम वसन्त के विरह में ग्रीष्म रूपी प्रेयसी उच्छ्वसित हो रही है।

विशेष :—प्रकृति का आलम्बन पूर्ण चित्र है।

अलंकार :—अनुप्रास, अपह्नुति तथा उत्प्रेक्षा।

(वर्षा)

पावस-घन-अंधियार में रह्यौ भेद नहिं आन।
राति द्यौस जान्यों परत लखि चकवी चकवान ॥५१॥

शब्दार्थ :—पावस=प्रावृट्, वर्षा। आन=अन्य। द्यौस=दिवस।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि निरन्तर होने वाली घनघोर वर्षा का वर्णन करते हुए कहता है कि वर्षा काल के मेघों और अंधकार में अब कोई अन्य भेद नहीं रहा है। रात और दिवस दोनों मिलकर एक से हो गए हैं। केवल चकवा और चकवियों को देखने पर ही उनका अनुमान किया जा सकता है।

विशेष :—चकवा और चकवी के लिए यह कहा जाता है कि ये दिन में पास-पास तथा रात में असंयुक्त होकर रहते हैं अतः इनकी दूरी और समीपता से ही रात्रि और दिन का अन्तर अनुमेय है।

अलकार :—उन्मीलित ।

धुरवा होंहि न अलि इहैं, धुंआ धरनि चहुँ कोद ।
जारत आवत जगत कों, पावस प्रथम पयोद ।।५२।।

शब्दार्थ :—धुरवा = मेघ, कोद = दिशाएं, पयोद = बादल ।

प्रसग-भावार्थ :—कोई वियोगिनि अपनी सखी से कहती है कि हे सखि ! यह पावस का बादल नहीं है अपितु चारों दिशाओं में धरती के ऊपर अन्धकार फैल गया है । वर्षा काल का यह पहला मेघ सारे संसार को जलाता हुआ चला आ रहा है ।

विशष :—वर्षा के मेघों को देखकर वियोगी के मन में प्रिय का स्मरण हो आना, तत्पश्चात् विरह की ज्वाला से संतप्त होना सर्वथा स्वाभाविक ही है । कालिदास के यक्ष ने भी 'आषाढ़स्य प्रथम दिवसे' अपनी प्रिया का स्मरण किया था । दण्डी के एक श्लोक की प्रथम पंक्ति इस दोहे की पहली पंक्ति से कितनी मिलती जुलती है—"लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः" ।

अलंकार :—अनुप्रास, अपह्नुति तथा विरोधाभास ।

तिय तरसौंहैं मन किये, करि सरसौंहैं नेह ।
धर परसौंहैं ह्वै रहे, झर बरसौंहैं मेह ।।५३।।

शब्दार्थ :—तिय = स्त्री, तरसौंहै = तरसने वाले, करि सरसौंहैं नेह = प्रेम को सरस करते हुए, धर = धरा, परसौंहैं = स्पर्श करने वाले, झर बरसौंहै = झड़ी लगाकर बरसने वाले ।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि ने यहाँ पर बादलों के बरसने का उद्दीपक चित्र प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि इन मेघों ने प्रेम की भावना को और अधिक सरस कर दिया है तथा प्रेमी के हृदय में प्रेमिका की स्मृति जगाकर ये बरसा रहे हैं। ये झड़ी लगाकर बरसने वाले मेघ धरती का स्पर्श किए ले रहे हैं ।

विशेष :—कवि ने वर्षा काल का विराट् चित्र अंकित करते हुए उसकी मानव भावनाओं से सापेक्षता स्थापित की है । अधिक मेघ बरसने के कारण कभी कभी ऐसा लगता है जैसे मेघ धरती को चूम रहे हों । मेघ (प्रिय) धरती (प्रेमिका) का स्पर्श करने से मानव भावनाओं को उद्दीप्त करने वाले हैं ।

अलंकार :—समासोक्ति, अनुप्रास ।

उठि ठक ठक एतो कहा पावस के अभिसार ।
जानि परैगी देखियौ, दामिनि घन अँधियार ।।५४।।

शब्दार्थ :—ठक ठक = वादविवाद, देखियौ = देखने पर भी ।

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी वर्षा काल में अभिसार करने के लिए नायिका से कहती है कि तू उठ, यह समय व्यर्थ वादविवाद करने का नहीं है । इस वर्षा के सघन अन्धकार में अभिसार के लिए जाती हुई तू देख लेने पर भी नहीं दिखाई देगी । नीले मेघों में चंचल दामिनी के समान ही तेरी देह (लोगों को) दिखाई पड़ेगी ।

विशेष :—सुनील मेघमालाओं के बीच चपल विद्युत से कवि ने जो नायिका की उपमा दी है उससे नायिका के शरीर की गौरता, सुकुमारता तथा गतिशीलता का सुन्दर परिचय मिलता है । 'ठक्' और 'ठञ्' संस्कृत के दो अनतिभेदी प्रत्यय हैं, प्राय: वैयाकरण इनके निश्चय पर बहस करते थे, तभी से 'ठक ठक' का अर्थ वादविवाद हो गया ।

अलङ्कार :—लाला भगवानदीन ने इसका अर्थ 'गम्योत्प्रेक्षालंकार' के अनुसार किया है । ऊपरी व्याख्या के आधार पर यहाँ उपमा तथा तदगुण अलंकार होते हैं ।

प्रलय करन बरषन लगे जुरि जलधर इक साथ ।
सुरपति गरबु हर्‌यौ हरषि गिरिधर गिरि धरि हाथ ।।५५।।

शब्दार्थ :—करन = करने वाले, जलधर = मेघ, सुरपति = इन्द्र ।

प्रसंग-भावार्थ :—जब इन्द्र ने देखा कि ब्रजवासी उसकी उपासना नहीं करते तो उसने अत्यन्त क्रुद्ध होकर अभिमान पूर्वक प्रलयंकारी मेघों की वर्षा की । एक बादल दूसरे से टकरा कर गरजने-बरसने लगा । उसी समय भगवान कृष्ण ने गोवर्द्धन पर्वत को अपने हाथ पर धारण करके, प्रसन्न मन से (कौतूहल में ही) देवेन्द्र इन्द्र का गर्व हरण कर लिया ।

विशेष:—कृष्ण की अलौकिक शक्ति का परिचय इस दोहे से मिलता है, साथ ही यह भी निश्चित होता है कि वे केवल लोकरंजक ही नहीं अपितु लोक-

रक्षक भी थे।

अलंकार :—यमक, परिकर और अनुप्रास।

बामा भामा कामिनी, कहि बोलौ प्रानेस।
प्यारी कहत लजात नहि, पावस चलत विदेस ॥५६॥

शब्दार्थ :—वामा = विपरीता, भामा = मान के समय रोष करने वाली, कामिनी = काममयी।

प्रसग-भावार्थ :—कोई नायिका वर्षा ऋतु में परदेश जाते हुए प्रियतम नायक को उलाहना देती है कि तुम मुझे प्रिया कहने में लज्जित क्यों नहीं होते जब कि इस ऋतु में विदेश जा रहे हो। तुम तो मुझे वामा, भामा और कामिनी कह कर ही पुकारो।

विशेष :—यहाँ एक बात विशेष रूप से द्रष्टव्य है कि नायिका, नायक से उलाहना तो अवश्य दे रही है किन्तु अपनी मर्यादाएं नहीं तोड़ती। वह उसे फिर भी प्राणेश कहकर ही सम्बोधित करती है। साथ ही यह भी संकेत कवि करता है कि नायक ही उसके प्राणों का स्वामी है और यदि वह भी इस ऋतु में चला गया तो उसके जीवन और प्राणों की क्या स्थिति होगी।

अलंकार :—परिकरांकुर।

हठ न हठीली करि सकै यह पावस ऋतु पाइ।
आन गाँठि घुटि जाति ज्यों, मान गाँठि छुटि जाइ ॥५७॥

शब्दार्थ :—हठ = मान, हठीली = मानवती नायिका, आन = अन्य, गाँठि = ग्रन्थि, घुटिजात = कड़ा होना।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—कोई दूती मानिनी नायिका से कहती है कि तू इस वर्षा ऋतु में व्यर्थ की हठ मत कर। इस ऋतु में और गाँठें तो कड़ी हो जाती हैं (गन्ना और सन की गाँठें) परन्तु मान करने की ग्रन्थि खुल जाया करती है, अतः तू अपना मान त्याग कर (नायक के साथ) अभिसार करने के लिए प्रस्तुत हो।

विशेष :– वर्षा का उद्दीपन रूप में कवि ने चित्रण किया है।

अलङ्कार :—काव्यलिङ्ग और अनुप्रास।

छिनकु चलत ठठकति छिनकु भुज प्रीतम गर डारि।
चढ़ी अटा देखति घटा, बिज्जु-छटा-सी नारि ॥५८॥

शब्दार्थ :—छिनकु = एक क्षण, ठठकति = ठिठकना, गर = गला, बिज्जुछटा = विद्युच्छवि।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—कवि किसी नायिका का वर्णन करते हुए कहता है कि कभी वह क्षण भर को चलने लगती है (अभिसार के लिए) तो कभी क्षण भर के लिए ठिठक जाती है कि कहीं उसे कोई देख न ले। वह अपने प्रियतम के कंठ में भुजाएं डालकर अट्टालिका पर चढ़ी हुई, मेघों को, विद्युत की भाँति देख रही है।

विशेष:—जिस प्रकार विद्युत क्षण भर को रुक कर प्रकाश करती है और दूसरे ही क्षण छिप जाती है उसी भाँति नायिका भी एक ओर प्रिय प्रेम के कारण आतुर हुई उसके साथ साथ चलती है तो दूसरी ओर उसे अपने दिखाई पड़ जाने की भी शंका है। कवि ने रति तथा शंका दोनों ही भावों का सुन्दर प्रयोग किया है। अनुभाव-व्यंजना में बिहारी सिद्धहस्त हैं।

अलंकार :—उपमा, अनुप्रास।

कुढंग कोपु तजि रंगरलि, करति जुवति जग, जोइ।
पावस बात न गूढ़ यहि, बूढ़न हूँ रँगु होइ ॥५९॥

शब्दार्थ :—कुढंग = बुरे ढंग, रंगरलि = क्रीड़ा विलास, बूढ़न = वीर-बधूटी-वृद्धों को, रंगु = लाली-प्रेम।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—कोई सखी अपनी कोपवती नायिका से कहती है, देख, सभी सखियाँ-नायिकाएं अपनी-अपनी बुरी प्रवृतियों (मान आदि) तथा क्रोध को त्याग कर रतिक्रीड़ा का आनन्द ले रही हैं। वर्षा-ऋतु का यह प्रभाव किसी से छिपा नहीं है क्योंकि इन दिनों तो बूढ़ों (वृद्धों तथा वीर बधूटियों) को भी रङ्ग (प्रेम, लाली) आ जाता है।

विशेष :—कवि ने वर्षा के प्रभाव की व्यापकता की ओर संकेत किया है। न केवल मानव अपितु सभी कृमिकीट, पशु-पक्षियों में भी इस बेला में रति सुख पाने की लालसा तीव्र हो उठती है।

अलंकार :—श्लेष, काव्यलिङ्ग और अनुप्रास।

अब तजि, नाउँ उपाउ को, आयो सावनु पास।
खेलन, रहिबो खेम सों, कैम कुसुम की बास ॥६०॥

शब्दार्थ--उपाउ = उपाय, सावनु = श्रावण, खेम = क्षेम, कैम = कदम्ब।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—कोई सखी अपनी मानिनी सखी को समझाती है कि तू अब इस मान को छोड़ दे, अब सावन (वर्षा) के दिन आ गए हैं और दूसरा कोई उपाय भी नहीं है। कदम्ब पुष्पों की कामोद्दीपक गन्ध के कारण अकेली और कुशल रहना कोई खेल नहीं है।

विशेष :— लाला भगवानदीन ने इसका अर्थ यह किया है कि कोई दूती नायक से कहती है कि अब तुम अपनी नायिका को बुलाने के उपायों को छोड़ दो। वह स्वयं ही कदम्बकुसुमों की कामोद्दीपक गन्ध को सहन न करने से तुम्हारे पास समागम के लिए चली आएगी, किन्तु इस अर्थ में अश्लीलता अधिक आ जाती है इसलिए प्रसङ्गान्तर से ऊपर अर्थ परिवर्त्तन किया गया है।

अलंकार :—लोकोक्ति, अनुप्रास।

टिप्पणी—कहीं-कहीं 'सावनु' के स्थान पर 'पावस' का भी मूलपाठ में प्रयोग किया गया है।

वे ई चिरजीवी अमर, निधरक फिरौ कहाय।
छिन बिछुरे जिनको न यह, पावस आयु सिराय ॥६१॥

शब्दार्थ :—निधरक = निःसंकोच, न = वियोग, सिराय = व्यतीत होना।

प्रसंग-भावार्थ :—कोई प्रियावियुक्त नायक कहता है कि वे ही व्यक्ति चिरंजीवी हैं (निःसंकोच रूप से) जिनकी आयु इस वर्षा ऋतु में बिना एक क्षण के प्रियवियोग में, व्यतीत होती है। वे ही व्यक्ति अमर कहलाने के अधिकारी हैं।

विशेष:—कालिदास के 'मेघदूत' के यक्ष वचन से मिलता जुलता कथन है।

अलंकार :--अत्युक्ति।

पावक झर तें मेह झर, दाहक दुसह विसेष।
दहै देह वाके परस, याहि दृगन ही देख ॥६२॥

शब्दार्थ :—पावक = ज्वाला, झर = लपट, झर = निर्झरण।

प्रसंग-भावार्थ :—कोई विरहिणी नायिका बादलों को देखकर कहती है कि इन मेघों की झड़ी आग की लपटों से भी अधिक जलाने वाली और विशेष पीड़ा पहुँचाने वाली और अधिक असह्य है। आग की लपटों से तो तभी जलन लगती है जब कि शरीर उससे स्पर्शित हो जाए परन्तु यह बादल का झर (झड़ी) तो आँखों से देख लिए जाने पर ही जला देता है।

विशेष :—वैधर्म्यमूलक उद्दीपन प्रकृति का चित्र।

अलंकार :—यमक, अनुप्रास, व्यतिरेक, विरोधाभास और अतिशयोक्ति।

(शरद्-वर्णन)

घन घेरौ छुटिगो हरषि, छली चहुँ दिसि राह।
कियौ सुचैनो आय जग, सरद सूर नरनाह ॥६३॥

शब्दार्थ :—घेरो = मण्डल, छुटिगो = छूट गया, सुचैनो = सुन्दर चैन, सूर = वीर-सूर्य, नरनाह = राजा।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि शरत्काल की प्रशंसा में कहता है कि आकाश से धीरे-धीरे मेघों का मण्डल टूट गया है, सभी राहों पर अब यात्री प्रत्येक दिशा की ओर चलने लगे हैं। शरद् ऋतु के सूर्य रूपी शूरवीर राजा ने आकर समस्त संसार में सुखद व्यवस्था कर दी है।

विशेष:—जिस प्रकार अत्याचारों से पीड़ित जनता को योग्य शासक मिलने पर सुख और हर्ष होता है उसी प्रकार मेघमंडल के हट जाने पर प्रकृति में शरद् काल स्वर्णिम किरणमयी धूप के बिखरने से सभी प्रसन्न हो जाते हैं।

अलंकार :—अनुप्रास, श्लेष, रूपक।

अरुन सरोरुह कर चरन, दृग-खंजन, मुख-चंद।
समै आइ सुंदरि सरद, काहि न करत अनंद ॥६४॥

शब्दार्थ :—अरुन = लाल, सरोरुह = कमल, आनन्द = आनन्दित।

प्रसंग-भावार्थ :—यहाँ कवि ने शरद् ऋतु का वर्णन एक नायिका के रूप में किया है। यह शरद् ऋतु रूपी सुन्दरी समय पर आकर अपने लाल-लाल

कमल पुष्प रूपी हाथों और चरणों, खंजन पक्षी रूपी चंचल नेत्रों तथा चन्द्रमा रूपी मुख के द्वारा किस व्यक्ति को आनंदित नहीं करती (अर्थात् अवश्य करती है) ?

विशष:—दृग खंजन तथा मुखचंद्र में रूपक का प्रयोग-क्रम दूषित हो गया है।

अलंकार :—साङ्गरूपक।

आड़े दै आले बसन, जाड़े हूँ की राति।
साहसु ककै सनेह बस, सखी सबै ढिंग जाति ॥६५॥

शब्दार्थ :—आड़े दै = बीच में रखकर, आले = गीले, बसन = वस्त्र, ककै = कर कर के, ढिंग = समीप।

प्रसंग-भावार्थ :—प्रोषितपतिका नायिका की सखी नायक से कहती है कि शरद् काल की शीत रात्रि में भी गीले वस्त्रों को शरीर के बीच में रखकर (ओढ़कर) तथा साहस कर कर के स्नेह के वशीभूत सभी सखियाँ उसके (नायिका के) पास जाती हैं।

विशेष :—कवि ने यहाँ वियोगिनि नायिका के विरहजनित ताप की अतिशयता की ओर संकेत किया है। यह दोहा भी कवि की ऊहोक्तियों के संदर्भ में उल्लेख्य है।

अलंकार :—अतिशयोक्ति, अनुप्रास।

(हेमन्त-वर्णन)

मिलि बिहरत बिछुरत मरत, दम्पति अति रसलीन।
नूतन बिधि हेमन्त ऋतु, जगत जुराफा कीन ॥६६॥

शब्दार्थ :—मिलि = मिलने पर, रसलीन = रसमग्न, जुराफ = जिराफ नामक पशु— यह अफ्रीका में प्राय: मिलता है।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि हेमन्त ऋतु का वर्णन करते हुए कहता है कि इसने सारे संसार के नायक नायिकाओं को जिराफ़ बना डाला है। वे लोग मिलने पर तो विहार करते हैं परन्तु बिछुड़ने पर प्राण त्याग देते हैं। इन रसमग्न

दम्पतियों को इस हेमन्त ने एक नवीन ही स्थिति में कर दिया है।

विशेष—जिराफ़ नामक पशु प्रायः जोड़ा बनाकर वन-विहार करते हैं। अकेला होते ही यह अपने प्राण त्याग कर देता है।

अलंकार :—रूपक तथा अतिशयोक्ति।

कियौ सबै जग काम बस, जीते जिते अजेय।
कुसुमसरहिं सर धनुष कर, अगहन गहन न देय ॥६७॥

शब्दार्थ :—जिते = जितने, अजेय = अपराजेय, कुसुमसरहिं = कामदेव को, सर = बाण।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि अगहन के महीने का वर्णन करते हुए कह रहा है कि जितने भी अपराजित व्यक्ति थे उन्हें तथा सम्पूर्ण संसार को इस अगहन ने काम से पराजित कर डाला है। बेचारे कामदेव को तो अपना बाण भी यह नहीं चलाने देता है अर्थात् बिना काम के प्रयास के ही सभी व्यक्ति कामपीड़ित होने लगते हैं।

अलंकार :—काव्यलिङ्ग, अनुप्रास, विभावना आदि।

ज्यों ज्यों बढ़ति बिभावरी, त्यों त्यों बढ़त अनंत।
ओक ओक सब लोक सुख, कोक सोक हेमंत ॥६८॥

शब्दार्थ :— विभावरी = निशा, ओक = गृह, कोक = चक्रवाक पक्षी।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—कवि हेमन्तकालीन रात्रि का वर्णन करते हुए कह रहा है कि, जैसे जैसे यह रात बढ़ती जाती है वैसे ही वैसे प्रति गृह के नायक-नायिकाओं के सुख (रतिभोग के कारण) और चक्रवाक पक्षी के दुःख (चक्रवाकी से विछुड़ने पर) को यह हेमन्त ऋतु अनन्त बनाती जाती है।

विशेष :—चकवा-चकवी का रात में एक दूसरे से विछुड़ जाना लोक-प्रसिद्ध है।

अलकार :—पुनरुक्ति और दीपक।

टिप्पणी :—यहाँ रात का बढ़ता जाना एक ही समय में दो प्रकार के (सुख- दुख) भावों को उद्दीपन होकर बढ़ाता जा रहा है।

आवत जाह न जानिए, तेजहिं तजि सियरान ।
घरहिं जँवाई लौं घट्यौ, खरो पूस दिन मान ॥६९॥

शब्दार्थ : –आवत जात = आते जाते, तेजहिं = प्रकाश को, सियरानि = शीतल हो गया, घरहि जंवाई लौं = घर रहने वाले दामाद के समान, दिनमान = सूर्य ।

प्रसङ्ग-भावार्थ :--कवि ने पौष मास के छोटे होते हुए ठंडे-ठंडे दिवस का वर्णन करते हुए कहा है कि पौष मास के दिवस का मान (सम्मान तथा आराम) इतना छोटा हो गया है कि उसके आने जाने का कुछ भी पता नहीं चल पाता जैसे कि ससुराल में रहने वाले दामाद का तेज और सम्मान घट जाता है ।

विशेष :—कतिपय आलोचकों का मत है कि कविवर बिहारी भी पर्याप्त समय तक सुसराल में रहे फलत: उनके सम्मान में लघुता आने लगी । इसी भावना से प्रेरित होकर उन्होंने इस दोहे की रचना की थी ।

अलंकार :—अनुप्रास, श्लेष और उपमा ।

(शिशिर)

रहि न सकी सब जगत में, सिसिर सीत के त्रास ।
गरमी भजि गढ़वै भई, तिय कुच अचल मवास ॥७०॥

शब्दार्थ—त्रास = भय, गढवैभई = गढ़वासिनी हो गई, तिय = स्त्री, मवास = कोट-किला-दुर्गमस्थल ।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि यहाँ पर शिशिर ऋतु के शीत का वर्णन करते हुए कहता है कि जब यह ऋतु आई तो बेचारी उष्णता (गर्मी) जगत् भर को छोड़कर स्त्रियों के कुचों को रक्षापूर्ण महल और दुर्गम स्थान समझ कर वहीं जा बसी ।

अलङ्कार :—अतिशयोक्ति, मानवीकरण, रूपक, परिसंख्या और अनुप्रास ।

तपन-तेज तापन-तपन, तूल तुलाई माँह ।
सिसिर सीत क्यों हु न मिटै, बिनु लपटे तिय, नाह ॥७१॥

शब्दार्थ :—तपन = सूर्य, तापन-तपन = आग की गर्मी, तूल तुलाई =

रुई की लिहाफ, माँह = में, नाह = नाथ ।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि शिशिर के शीत की तीव्रता के लिए कहता है कि सूर्य के आतप, आग की गर्मी, और रुई के लिहाफों में भी यह शीत कम्प किसी प्रकार नहीं मिटता । बिना नायिका से आलिङ्गन किए नायक की शीतलता दूर नहीं होती ।

अलङ्कार :—अनुप्रास—अतिशयोक्ति, विनोक्ति और परिसंख्या ।

लगति सुभग सीतल किरन, निसि सुख दिन अवगाहि ।
माह ससी भ्रम सूर तन, रही चकोरी चाहि ।।७२।।

शब्दार्थ :—निसि सुख = रात का सुख, दिन अवगाहि = दिवस में पाकर, सूरतन = सूर्य की ओर ।

प्रसंग-भावार्थ:–कवि यहाँ पर सूर्य की किरणों की तुलना चन्द्रमा की शीतल रश्मियों से करते हुए कहता है कि जिस प्रकार चकोरी को रात्रि में चन्द्रमा की शीतल रश्मियाँ सुख देती हैं वैसे ही दिन में सूर्य भी शीत की प्रचण्डता के कारण शीतल किरणों वाला हो गया है । चकोरी दिन में ही चन्द्रमा के भ्रम से माघ मास के सूर्य की ओर टकटकी लगाकर प्रेम से देखती रहती है ।

अलङ्कार :—अनुप्रास और भ्रान्तिमान ।

सुनत पथिक मुँह माह निसि, चलति लुवैं उहि गाम ।
बिनु बूझैं, बिनु ही कहैं, जियत बिचारी बाम ।।७३।।

प्रसंग-भावार्थ :—यहाँ प्रवासी नायक अपनी पत्नी की विरह दशा का वर्णन कर रहा है । उस गाँव से जहाँ कि प्रवासी की पत्नी रहती है कोई यात्री आया है जो कह रहा है कि वहाँ पर माघ की रात में भी लूएं चलती रहती है । नायक ने यह सुनकर विना पूछे, विना कहे यह अनुमान कर लिया कि उसकी प्रिया अभी तक जीवित है (क्योंकि सजीव व्यक्ति ही तप्तनि:श्वास छोड़ सकता है ।)

विशेष :—यह बिहारी की दूरारूढ़-कल्पना-व्यापार एवं ऊहोक्ति का उदाहरण है ।

अलङ्कार :—अतिशयोक्ति, विभावना तथा अनुमान ।

तुलनात्मक :— बरखत मेह अछेह अति, अवनि रही जल पूरि।
पथिक तऊ तुव गेह तें, उठत भभूरन धूरि ॥—अज्ञात

(वसन्त-वर्णन)

इहि बसंत न खरी अरी, गरम न सीतल बात।
कहि क्यों झलके देखियत, पुलक पसीजे गात ॥७४॥

शब्दार्थ :—बात = पवन ।

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी नायिका से, जब कि नायक अकस्मात् ही आजाता है, कहती है—कि हे सखी ! ये तो वसन्त के दिन हैं। इस ऋतु में पवन न तो प्रखर, न तप्त और न शीतल ही होता है फिर क्यों तेरे शरीर पर रोमाञ्च और स्वेदकण झलकते हुए दिखाई पड़ रहे हैं ?

विशेष :—वस्तुत: नायक को देखकर नायिका के मन में अनुराग का भाव जागृत हो जाता है फलत: स्वेद, रोमाञ्च आदि सात्त्विक भावों का होना यहाँ दिखाया गया है।

अलंकार :—विभावना ।

अनत मरैंगे चलि जरैं, चढ़ि पलास की डार।
फिरि न मरैं मिलिहैं अली, ये निरधूम अँगार ॥७५॥

शब्दार्थ :—अनत = अन्त में, चलि जरैं = चलकर जल जाएँ, पलास = किंशुक, निरधूम = धूमहीन ।

प्रसंग-भावार्थ :—वसन्त ऋतु में पलाश के लाल लाल फूलों को देखकर विरहिणी नायिका अपनी सखी से कहती है कि अन्त में तो सभी को मरना है। हे सखी ! चल किसी पलाश की डाली पर चढ़कर जल जाएँ। अरी आली, फिर कभी मरने पर ऐसे निर्धूम अंगार नहीं मिलेंगे।

विशेष :—पलाश का पत्ता आग की लपटों की भाँति लाल होता है। सामान्य अंगारों से जलने पर धुआँ उठता है तथा उससे कष्ट भी होता है परन्तु पलाश के पत्ते ऐसे अंगार हैं जिनसे जलने में विलम्ब नहीं होगा और न कष्ट ही सहना पड़ेगा ।

अलंकार :—भ्रान्तिमान ।

फिर घर कों नूतन पथिक, चले चकित चित भागि ।
फूल्यौ देखि पलास बन, समुहैं समुझि दवागि ।।७६।।

शब्दार्थ :—समुहैं = सम्मुख ही ।

प्रसंग-भावार्थ :—वसन्त ऋतु में यात्रा के लिए जाते हुए किसी पथिक को देखकर कवि कहता है कि यात्रा के मार्ग में पलाश वन को पुष्पित हुआ देखकर पथिक यह समझते हैं कि उनके सम्मुख दावाग्नि प्रज्वलित हो रही है। वे लोग चकित-हृदय होकर अपने घरों की ओर लौट रहे हैं।

विशेष :—यात्रा-पथ में जलती हुई आग का देखना अपशकुन माना जाता है। पलाश के पत्ते लाल रंग के होने से अंगारों का भ्रम उत्पन्न कर देते हैं। नया-नया यात्री पलाश में स्वभावत: दावानल का भ्रम कर बैठता है अत: आश्चर्य और भ्रम के कारण उसकी भावना भी स्वाभाविक है।

अलंकार :—अनुप्रास, भ्रान्तिमान ।

छकि रसाल सौरभ सने, मधुर माधवी गन्ध ।
ठौर ठौर झूमत झँपत, भौंर झौंर मधु-अन्ध ।।७७।।

शब्दार्थ :—छकि = तृप्त होकर, रसाल = आम, माधवी = वासन्ती, झँपत = उन्निद्र, झौंर = समूह ।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि वासन्ती-सौरभ से तृप्त भ्रमरों को देखकर कहता है कि आम्रमंजरी के मधुमय पराग से पूर्णत: तृप्त होकर तथा वसन्त-वेला की सुमधुर गंध से सिक्त होकर उन्मदिर अंध मधुकरों के समूह स्थान-स्थान पर निंदियाते हुए झूम रहे हैं।

विशेष :—यहाँ पर कवि ने उन्मत्त भ्रमरमण्डली का अत्यन्त स्वाभाविक चित्र अंकित किया है। जिस प्रकार एक मदोन्मत्त व्यक्ति अधखुली-अधमुंदी आँखों से स्थान-स्थान पर झूमता हुआ चलता है वैसे ही भ्रमरावली यत्र तत्र उड़ रही है।

अलंकार :—स्वभावोक्ति, अनुप्रास, पुनरुक्ति ।

दिसि दिसि कुसमित देखियत, उपवन-विपिन-समाज ।
मनहुँ वियोगिनि कौं कियौ, सर-पंजर रितुराज ।।७८।।

शब्दार्थ :—सर-पंजर = बाणों का पिंजरा, रितुराज = वसन्त।

प्रसंग-भावार्थ :—कोई विरहिणी दिशा-दिशा में विकसित पुष्पों को देखकर कह रही है कि आज वन-उपवन की प्रत्येक दिशा फूलों से भरी हुई दिखाई पड़ रही है। इन्हें देखकर ऐसा लगता है मानों ऋतु-सम्राट् वसन्त ने किसी वियोगिनी को दण्ड देने के हेतु यह शरपिंजर बनवाया हो।

विशेष :—प्राचीनकाल में राजा अपराधियों को दण्ड देने के लिए इस प्रकार के कटघरे बनवाते थे जिनमें भीतर चारों ओर लोहे की कीलें बनी हुई होती थी। अपराधी उस पिंजर में बन्द कर दिया जाता था। वह जब भी जिस ओर उसमें झुकता था तब उसे उन कीलों की चुभन होती थी वही शरपिंजर का रूपक कवि ने यहाँ वसन्त-वर्णन के साथ बाँधा है।

अलंकार :—पुनरुक्ति, रूपक तथा उत्प्रेक्षा।

नहिं पावस, रितुराज यह, तजि तरवर, चितभूल।
अपतु भएँ बिनु पाइहैं, क्यों नव दल फल फूल ॥७९॥

शब्दार्थ :—अपतु = अपत्र, अमर्याद।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि वर्षा एवं वसन्त की अन्योक्ति द्वारा सामन्य तथा विशिष्ट व्यक्तियों के द्वारा प्राप्त किए जाने वाले दान का वर्णन कर रहा है; हे तरुवर ! यह वर्षा ऋतु नहीं है, तू उसे मन से भूलजा। यह तो ऋतुओं का राजा वसन्त है। तुझे बिना अपत्र (अमर्यादित होते हुए) हुए अर्थात् पुराने पीले पत्तों के गिराए बिना कैसे नवीन पल्लव, पुष्प और फल मिल सकते हैं ?

विशेष :—अन्योक्ति द्वारा कवि की यह उक्ति है कि सामान्य व्यक्ति से किसी वस्तु की प्राप्ति सहज संभाव्य होती है परन्तु असाधारण व्यक्ति से कुछ पाने के लिए अवश्य ही मर्यादाओं का त्याग करना पड़ता है।

अलङ्कार :—श्लेष, अन्योक्ति, विनोक्ति और अनुप्रास।

टिप्पणी--फल-फूल में दुष्क्रमत्व दोष है।

बन बाटनु पिक बटपरा, लखि बिरहिनु मत मैंन।
कुहौ कुहौ कहि कहि उठैं, करि करि राते नैन ॥८०॥

शब्दार्थ :—बाटनु = मार्गों में, बटपरा = बटमार, मत = बोध, मत मैंन=

कामदेव से बोधित होने पर, कुहौ कुहौ = कुहूकुहू, मारो मारो, राते = रक्तिम।

प्रसंग-भावार्थ :—कोई नायिका अपने नायक को वसन्त ऋतु में यात्रा करने से वर्जित कर रही है। हे प्रियतम ! कोयल रूपी बटमार कामदेव से सम्मति पाकर पत्नीविरहित यात्रियों को वन्य मार्ग में देखकर, क्रोध से लाल-लाल आँखें करते हुए कुहू-कुहू रूपी कुहौ-कुहौ (मारो-मारो) का शब्द कर उठते हैं, अतः तुम अभी यात्रा पर मत जाओ।

विशेष :—मार्ग में यात्रियों को लूटने के लिए बहुधा बटमार छिपे रहते हैं जो कि उन्हें अकेला देखकर मार देते हैं।

अलंकार :—रूपक, श्लेष, पुनरुक्ति तथा अनुप्रास।

कुंज-भवनु तजि भवन कौं, चलियै नन्दकिसोर।
फूलति कली गुलाब की, चटकाहट चहुँ ओर ॥८१॥

शब्दार्थ :—भवन = गृह, चटकाहट = कली के कुसुमित होने का स्वर।

प्रसंग-भावार्थ :—कोई परकीया नायिका अपने उपपति के साथ केलिक्रीड़ा में सारी रात व्यतीत कर देती है। प्रभात होने पर भी नायक उसे छोड़ना नहीं चाहता। नायिका अपने पति तथा लोकलाज के भय से उससे कहती है, हे नन्दकिशोर ! अब इन कुंज भवनों को छोड़कर गृह की ओर चलिए। सबेरा हो गया है। गुलाब की कलियाँ धीरे-धीरे पुष्पित हो रही हैं और चारों ओर उनके प्रस्फुटित होने की ध्वनि भी सुनाई पड़ने लगी है।

विशेष :—प्रभात काल में ही प्रायः पाटल की कली प्रस्फुटित होती है। संस्कृत के कवियों ने इस संदर्भ में बहुत कुछ लिख डाला है।

अलंकार :—स्वभावोक्ति, अनुप्रास।

(चाँदनी रात का वर्णन)

द्वैज-सुधा दीधिति-कला, वह लखि दीठि लगाइ।
मनौं अकास अगस्तिया, एकै कली लखाइ ॥८२॥

शब्दार्थ :—द्वैज = द्वितीया, दीधिति = किरण, कला = ज्योति, दीठि = दृष्टि, अगस्तिया = वृक्षविशेष।

प्रसंग-भावार्थ—कोई दूती चन्द्रोदय के समय नायक के निकट जाकर

नायिका के रूप की प्रशंसा में कहती है कि तुम इस चन्द्रमा की ओर क्यों देख रहे हो ? यह चन्द्रमा तो मानों आकाश रूपी अगस्त्य वृक्ष की एक कली ही है। तुम नायिका के उस मुख की ओर दृष्टि गढ़ाकर देखो जो कि द्वितीया के चन्द्रमा की अमृतमयी किरणों से शोभित हो रहा है।

विशेष :—अगस्त्य नामक वृक्ष पर शरत्काल में ही प्रायः कलियों का विकास होता है। शरद् ऋतु की द्वितीया का चन्द्रमा विशेषतः सुन्दर तथा सुशीतल माना गया है तथा कवि ने उसे भी नायिका के मुखचन्द्र की प्रतियोगिता में हीन कर दिया है।

अलंकार :—पर्यायोक्ति, उत्प्रेक्षा, रूपक तथा व्यतिरेक।

जौन्ह नहीं यह, तमु वहै, किए जु जगत निकेतु।
होत उदै ससि के भयौ, मानहु ससहरि सेतु ॥८३॥

शब्दार्थ :—जौन्ह = ज्योत्स्ना, ससहरि = सिहरते हुए, सेत = श्वेत।

प्रसग-भावार्थ :—कोई प्रोषितपतिका नायिका ज्योत्स्ना को देखकर अपनी सखी से कहती है, हे सखि ! यह ज्योत्स्ना (चाँदनी) नहीं है अपितु यह वही अन्धकार है जिसने संसार भर को अपना घर बना लिया है। यह नीला तिमिर मानों चंद्रमा के उदय होने के भय से ही श्वेत रंग का हो गया है।

विशेष :– विरह में प्रकाश भी अंधेरे के सदृश दिखाई पड़ता है। डर के कारण सफेद चेहरा हो जाना प्रसिद्ध लोकोक्ति है।

अलंकार : – अपह्नुति, उत्प्रेक्षा तथा लोकोक्ति।

हौं हीं बौरी बिरह बस, कै बौरौ सबु गाँउ।
कहा जानि ए कहत हैं, ससिहि सीतकर नाँउ ॥८४॥

शब्दार्थ :––बौरी = बावली, ससिहि = चंद्रमा को, सीतकर = सीतल किरणों वाला।

प्रसंग-भावार्थ :—कोई विरहिणी नायिका चंद्रमा को देखकर स्वगत कथन कर रही है कि इसे क्या समझ कर लोग शीतल किरणों वाला कहते हैं ? क्या इस गाँव के सभी व्यक्ति पागल हो गए हैं अथवा मैं ही बावली हुई जा रही हूँ।

विशेष :—देखिये :—"कातिक सरदचंद उजियारी।
जगु सीतलु हों बिरहै जारी ॥"—जायसी

अलङ्कार :--अनुप्रास और संदेह ।

तुलनात्मक :—

सग्रामाङ्गणसम्मुखाहतकियद्विश्वम्भराधीश्वर-
व्यादीर्णीकृतमध्यभागविवरोन्मीलन्नभोनीलिमा
अङ्गारप्रखरैः करैः कवलयन्नेतन्महीमण्डलं
मार्तण्डोयमुदेति केन पशुना लोके शशाङ्कीकृतः

—भामिनीविलास (पंडितराज जगन्नाथ कृत)

धनि यह द्वैज जहाँ लख्यौ, तज्यौ दृगनु दुख दंदु ।
तो भागनि पूरब उग्यौ, अहो ! अपूरबु चंदु ॥८५॥

शब्दार्थ :—धनि = धन्य, दंदु = द्वन्द्व, भागनि = भाग से, अपूरब = पश्चिम, अपूर्व ।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका की सखी नायक से जाकर नायिका के मुखचंद्र की प्रशंसा कर रही है—आज की द्वितीया धन्य है जिसमें तुमने भाग्यवश उस अपूर्व तथा पूर्ण चंद्रमा को देखा है ।

विशेष :— द्वितीया का चन्द्रमा अपूर्ण होता है तथा पूर्व की ओर से उदित होता है । नायिका का मुख रूपी चन्द्रमा पश्चिम (अपूर्व) दिशा की ओर से निकल रहा है और जोकि पूर्ण है ।

अलंकार :—व्याजस्तुति, श्लेष, विरोधाभास ।

टिप्पणी—इसी भाव को पंत की 'ग्रन्थि' में देखिये -

"इन्दु पर, उस इन्द्रमुख पर साथ ही
थे पड़े मेरे नयन, कर साथ ही
पूर्ण था वह, पर द्वितीय अपूर्व था ।"

(पवन-वर्णन)

रनित-भृंग-घंटावली, झरत दान मधुनीर ।
मंद-मंद आवत चल्यौ, कुंजर-कुंज-समीर ॥८३॥

शब्दार्थ—रनित = शब्दायमान, भृङ्ग = भौंरे, दान = हाथी का मद, कुंजर = हाथी ।

प्रसङ्गभावार्थ :—कवि कुंजों की ओर से आते हुए समीर को देखकर

कह रहा है कि, भ्रमर-पंक्तियों का गुञ्जन ही जिसके कण्ठ की घण्टिकाओं की की ध्वनि है, स्रवित होता हुआ पुष्पों का पराग ही जिसकी दानराजि है ऐसा कुंजसमीर रूपी कुञ्जर मन्द मन्द गति से चला आ रहा है।

विशेष :—पवन के चलने का कवि ने गत्यात्मक चित्र उपस्थित किया है। भाषा चित्रोपम है। शब्दावली में ध्वन्यात्मकता है।

अलंकार :—सांगरूपक तथा पुनरुक्ति। कुंजर कुंजसमीर में उपमेय तथा उपमान का स्थान-विपर्यय सदोष है।

तुलनात्मक :—

तोय झरणि छंटि ऊधसत मलय तरि अति पराग रज धूसर अंग।
मधुमद स्रवति मंद गति मल्हपति मदोनमत्त मारुत मतंग॥

—प्रिथीराज राठौड़

रही रुकी क्यों हूँ सु चलि, आधिक राति पधारि।
हरति तापु सब द्यौस कौ, उर लगि यारि बयारि॥८७॥

शब्दार्थ :—ताप = तपन, पीड़ा, द्यौस = दिन, यारि = प्रियतमा।

प्रसंगभावार्थ—कवि का पवन के विषय में कथन है कि जो दिन में किन्हीं कारणों से रुकी रही वही पवन रूपी प्रेयसी आधी रात के समय आकर हृदय से लगाकर (आलिङ्गन में बाँधकर) दिन भर की तपन रूपी पीड़ा को दूर कर रही है।

विशेष—यारि बयारि में दुष्क्रमत्व दोष है।

अलंकार—साङ्गरूपक, स्वभावोक्ति और यमक।

रुक्यौ साँकरें कुंज-मग, करत झाँझ झुकरात।
मंद मंद मारुत तुरँग, खूंदति आवत जात॥८८॥

शब्दार्थ :—साँकरें = संकीर्ण, मग = मार्ग, झाँझ = झंझा स्वर करना, झुकरात = झुकना।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि पवन का वर्णन करते हुए कहता है कि कुञ्ज रूपी संकीर्ण सघन मार्ग में रुकता हुआ—झंझा स्वर करता हुआ, झुकता-झूमता हुआ मन्द-मन्द पवन रूपी अश्व अपने पैरों से धरती को खोदता-धूल उड़ाता हुआ चला आ रहा है।

अलङ्कार :—रूपक, अनुप्रास और स्वभावोक्ति ।

चुवत स्वेद मकरन्द कन तरु तरु तर बिरमाइ ।
आवत दक्खिन देस तैं थक्यौ बटोही बाइ ॥८६॥

शब्दार्थ :—चुवत = झरता हुआ, स्वेद = पसीना, मकरन्द = पराग, तर = नीचे, बिरमाइ = विश्राम लेकर, बटोही = मार्गिक, बाइ = वायु ।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि वायु का वर्णन करता है कि दक्षिण दिशा की ओर के किसी देश से थका हुआ वायु रूपी बटोही एक-एक वृक्ष के नीचे विराम लेता हुआ (विलम्बित होता हुआ) चला आ रहा है जिसके माथे पर से मकरन्द रूपी पसीने की बूंदें (लम्बी यात्रा के कारण) झर रही हैं ।

विशेष :—वायु चलने पर ही पुष्पों का पराग विकीर्ण होता है तथा प्रत्येक वृक्ष में कम्पन होता है । 'बटोही बाइ' में पुनः दुष्क्रमत्व दोष है ।

अलंकार :—स्वभावोक्ति, साङ्गरूपक, पुनरुक्ति तथा अनुप्रास ।

तुलनात्मक—"तरतौ नदि नदि ऊतरतौ तरि तरि पेलि वेलि गलि गलै विलग्ग ।
दखिण हूंत आवतौ उतर दिसि पवन तणा वहै न पग्ग ॥
लीयै तसु अंग वासु रस लोभी रेवा जलि कृत सौच रति ।
दखिणानिल आवतौ उतर दिसि सापराध पति जिमि सरति ॥"
—प्रिथीराज राठौड़

लपटीं पुहुप पराग पट, सनी स्वेद मकरंद ।
आवति नारि नवोढ़ लौं, सुखद वाय गति मंद ॥९०॥

शब्दार्थ :—लपटीं = पहने हुए, पुहुप-पराग-पट = पुष्पों का पराग रूपी वस्त्र, नवोढ़ = नव विवाहिता ।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि का स्वगत कथन है कि पुष्पों के पराग रूपी परिधान को धारण किए हुए, सुकुमारता के कारण थक जाने से, जो कि मकरन्द रूपी श्रमजल से अभिषिक्त हो रही है, ऐसी मन को सुख देने वाली पवन नवविवाहिता वधू के समान मन्द मन्द गति से चली आ रही है ।

विशेष :—नारी-सौन्दर्य के लिए गति का मन्थर होना अपेक्षित माना गया है । देखिये कालिदास :—'श्रोणीभारादलसगमना' मेघदूतम् ।

अलंकार :—रूपक-अनुप्रास और उपमा ।

स्फुट दोहे

[नीति-अन्योक्ति तथा व्यवहार ज्ञानपरक]

तंत्री नाद कवित्त रस, सरस राग रति रंग।
अनबूड़े, बूड़े, तिरे, जे बूड़े सब अंग ॥६१॥

शब्दार्थ :—तंत्रीनाद = वीणा के स्वर, कवित्तरस = कविता (साहित्य) का रस, सरस = मधुर।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि यहाँ पर कलाओं के प्रति अपनी निष्ठा प्रकट करते हुए लिखता है कि वीणा आदि वाद्यों के स्वर, काव्य आदि ललित कलाओं की रसानुभूति तथा प्रेम के रस में जो व्यक्ति सर्वाङ्ग डूब गए हैं वे ही इस संसार-सागर का संतरण कर सकते हैं। जो इनमें डूब नहीं सके, वे इसमें (भव सिन्धु) ही फंसकर डूब गए।

विशेष:– संगीत, कविता आदि ६ ललित कलाएं हैं। कलाओं का लक्ष्य साम्प्रतिक दुःख की निवृत्ति और भावी सुख की ओर प्रवृत्ति कराने का है। उस लक्ष्य को पाने के हेतु भावक स्वयं जब तक कला विशेष में तदात्म नहीं होता तब तक वह उनके ब्रह्मानन्द सहोदर 'रस' का भावन नहीं कर पाता। कलाओं के आनन्द का उपभोग करने वाला लौकिक अनुभवों के स्तर से ऊंचा उठ जाता है। कहा भी है—

"साहित्य-संगीत-कला-विहीन: साक्षात्पशु: पुच्छविषाण-हीन: ।"

अथवा :—"काव्य-शास्त्र-विनोदेन कालो गच्छति धीमताम् ।"

अलंकार :—पुनरुक्ति, विरोधाभास, 'रंग' में श्लेष।

चटक न छाँड़तु घटत हूँ, सज्जन नेहु गँभीरु।
फीकौ परै न बरु घटै, रंग्यौ चोल रँगु चीरु ॥६२॥

शब्दार्थ :—चटक = चमक, फीकौ = निष्प्रभ, वरु = भले ही, चोल = मंजिष्ठ रंग।

प्रसंग-भावार्थ :—यहाँ कवि वास्तविक प्रेम का वर्णन करते हुए कहता है कि सत्पुरुषों के स्नेह की गम्भीरता घटने पर भी अपनी चटक (सहानुभूति) को नहीं छोड़ती है, जिस प्रकार मंजीठ के रंग में रँगा हुआ वस्त्र फट जाने पर भी अपनी आब नहीं छोड़ता।

अलंकार :—प्रतिवस्तूपमा तथा अनुप्रास।

सम्पति केस सुदेस नर, नमत दुहुन इक बानि।
विभव सतर कुच नीच नर, नरम विभव की हानि ॥९३॥

शब्दार्थ :—सुदेश = भला, नमत = नीचे गिरना, विनम्र होना, दुहुन = दोनों की, इक = एक सी, बानि = मर्यादा, सतर = कठोर।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि यहाँ पर मानव-मनोविज्ञान के आधार पर यह कहना चाहता है कि केश और सज्जन दोनों ही स्वभाव से एक सी मर्यादाओं वाले अर्थात् विनम्र होते हैं। किन्तु कुच तथा नीच पुरुषों का स्वभाव अवसरानुकूल परिवर्त्तित होता रहता है। वैभव पाने पर (यौवन आने पर) कठोर अथवा उच्च तथा उसके चले जाने पर नमित (झुकना) होना इनकी प्रवृत्ति है।

अलंकार :—आवृत्ति तथा दीपक।

कबौं न ओछे नरन सों, सरत बड़न के काम।
मढ़ौ दमामा जात क्यों, कहि चूहे के चाम ॥९४॥

शब्दार्थ :—कबौं = कभी, सरत = सिद्ध होना, मढ़ौ = मढ़ना, दमामा = नगाड़ा, चाम = चर्म।

प्रसंग-भावार्थ :— कवि के कहने का यह आशय है कि प्रत्येक वस्तु का अपने-अपने स्थान पर ही महत्व होता है। छोटे व्यक्तियों के द्वारा बड़ों के काम सिद्ध नहीं हो पाते। तुम्हीं कहो, कहीं चूहे की चमड़ी से नगाड़े को मढ़ा जा जा सकता है ? अर्थात् नहीं।

अलंकार :—वक्रोक्ति तथा अर्थान्तरन्यास।

कोटि जतन कोऊ करौ, परै न प्रकृतिहिं बीच।
नल बल जल ऊँचैं चढैं, तऊ नीच कौ नीच ॥९५॥

शब्दार्थ :—कोटि = करोड़, प्रकृति = स्वभाव, बीच = अन्तर।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि कहता है कि पुरुष के स्वभाव में कभी परिवर्तन नहीं हो सकता। करोड़ों यत्न करने पर भी उसी प्रकार व्यक्ति की प्रकृति नहीं बदल पाती जिस प्रकार बलपूर्वक नल में चढ़ाया हुआ जल अन्त में नीचे की ओर ही गिरता है।

विशेष :—"स्वभावो दुरतिक्रम:"

अलंकार :— अर्थान्तिरन्यास।

जेती संपति कृपन कौं, तेती सूमति जोर।
बढ़त जात ज्यों ज्यों उरज, त्यौं त्यौं होत कठोर ॥९६॥

शब्दार्थ :—जेती = जितनी, कृपन = कृपण, लोभी, तेती = उतनी ही, सूमत = सूमता।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि किसी सूम के स्वभाव का वर्णन करते हुए लिखता है कि किसी कृपण के पास जैसे-जैसे सम्पत्ति आती जाती है उसकी सूमता वैसे ही वैसे बढ़ती जाती है जैसे उरोज ज्यों-ज्यों बढ़ते जाते हैं त्यों-त्यों उनमें कठोरता आती जाती है।

अलंकार :—दृष्टान्त तथा पुनरुक्ति।

नीच हियें हुलसौ रहै, गहै गेंद कौ पोतु।
ज्यों ज्यों माथें मारिये, त्यौं त्यौं ऊँचौ होतु ॥९७॥

शब्दार्थ :—हियें = हृदय में, हुलसौ रहै = उल्लसित होता रहता है, गेंद कौ पोतु = गेंद की वृत्ति।

प्रसंग-भावार्थ —कवि नीच व्यक्ति के स्वभाव के विषय में कहता है कि नीच पुरुष बारबार अपमान पाने पर भी मन में उसी प्रकार उल्लसित होता रहता है जिस प्रकार गेंद पुन: पुन: मस्तक पर ठुकराई जाने से और-और ऊपर उछलती है।

अलंकार :—दृष्टान्त अथवा उपमा।

नए बिससिये लखि नये, दुर्जन दुसह सुभाय।
आँटे परि प्रानन हटैं, काँटे लौं लगि पाँय ॥९८॥

शब्दार्थ :—नए बिससिये = इनका विश्वास नहीं करना चाहिए, आँटे = अएटे में पड़ने पर-अवसर मिलने पर, लौं = समान।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि दुर्जनों के स्वभाव के लिए कहता है कि कभी इनके दुस्सह स्वभाव पर विश्वास नहीं करना चाहिए। ये लोग अवसर मिलते ही उसी प्रकार प्राणों का हरण कर लेते हैं जिस प्रकार काँटा पैर में चुभकर कष्ट देता है।

अलङ्कार :—पूर्णोपमा।

दुसह दुराज प्रजानि कौं, क्यों न बढ़ैं अति दंद।
अधिक अँधेरौ जग करैं, मिलि मावस रवि चंद ॥९९॥

शब्दार्थ :—दु:सह = असह्य, दुराज = द्वैत शासनप्रणाली (Diarchy), दंद = द्वन्द्व।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि यहाँ द्वैत शासनप्रणाली की बुराइयों की ओर संकेत करता है कि जिस प्रदेश के दो शासक होते हैं वहां की प्रजा उनके दुस्सह अत्याचारों को किस भाँति सहन कर सकती है, वहाँ द्वन्द्व क्यों नहीं बढ़ेगा (अर्थात् वहाँ अवश्य क्रान्ति होगी) जैसे कि अमावस की रात में सूर्य और चन्द्रमा एक राशि में होने पर सम्पूर्ण संसार को अन्धकार से पूर्ण कर देते हैं।

विशेष :—उदाहरण के लिए भारत में स्थापित सन् १९३५ की द्वैत शासनप्रणाली सफल नहीं हो सकी। प्रान्तीय मंत्रिमण्डलों में कांग्रेस के प्रतिनिधि थे और केन्द्र में अंग्रेज। गवर्नरों तथा गवर्नर जनरल का प्रभाव ही सर्वोपरि था।

अलंकार :—पूर्णोपमा।

तुलनात्मक :—

"एक रजाई समै प्रभु द्वै सु तमोगुन को बहुभाँति बढ़ावत।
होत महा दुखदन्द प्रजान कौं और सबै सुभ काज थकावत॥

'कृष्ण' कहे दिननाथ निसाकर एक ही मण्डल में जव ग्रावत ।
देखौ प्रतच्छ ग्रमावस को ग्रँधियारो कितौं जग में सरसावत ।।"

—कृष्ण कवि

कहै इहैं सब स्रु ति सुमृति, इहै सयाने लोग ।
तीन दबावत निसक ही, राजा, पातक, रोग ।।१००।।

शब्दार्थ :— स्रु ति = वेद, सुमृति = स्मृतियाँ, सयाने = सज्ञान, निसक = नि:संकोच, पातक = पाप ।

प्रसंग-भावार्थ:— कवि यहाँ राजा, पाप तथा रोग की शक्ति के विषय में कहता है कि ये तीनों सभी को नि:संकोच दवा लेते हैं। सभी श्रुतियाँ, स्मृतियाँ तथा ज्ञानी पुरुषों का ग्रभिमत इस विषय में एक ही है ।

ग्रलंकार— प्रमाण (शब्द प्रमाण न्यायाभिमत) ।

तुलनात्मक :— "सर्वो वलवतां धर्मः सर्वं वलवतां स्वकम्,
सर्वं वलवतां पथ्यं सर्वं वलवतां शुचि ।"

——महाभारत

संगति सुमति न पावहीं, परे कुमति के धंध ।
राखौ मेलि कपूर में, हींग न होत सुगंध ।।१०१।।

शब्दार्थ :—संगति = सत्संग, सुमति = सद्बुद्धि ।

प्रसंगभावार्थ :—कवि कहता है कि जो व्यक्ति वुरे होते हैं वे सज्जनों के समीप रहकर सद्बुद्धि को प्राप्त नहीं होते; जैसे हींग को यदि कपूर के साथ मिलाकर रख दिया जाए तो भी वह ग्रपनी गंध की तीव्रता को नहीं छोड़ती ।

ग्रलंकार :——दृष्टान्त, ग्रनुप्रास ग्रौर ग्रतद्गुण ।

नहिं परागु नहिं मधुर मधु, नहिं विकासु इहिं काल ।
ग्रली, कली ही सौं बँध्यौ, ग्रागैं कौन हवाल ।।१०२।।

शब्दार्थ :—पराग = सौरभ, विकास = प्रस्फुटन, ग्रली = मित्र, भ्रमर, हवाल = दशा ।

प्रसंग-भावार्थ :——कवि किसी मुग्धा नायिका में ग्रासक्त नायक से कहता है

कि न तो अभी इसमें पराग आया है और न मधुरता, न अभी इसके प्रस्फुटित होने का ही क्षण आया है। अरे भ्रमर ! (मित्र) अभी तो यह एक कलिका है। जब आगे यह एक फूल के रूप में खिलेगी तब तुम्हारी कैसी दशा होगी ?

विशेष :—कली मुग्धा नायिका और अली नायक के लिए प्रयुक्त हुआ है।

अलंकार :—अन्योक्ति।

तुलनात्मक :—यावन्न कोषविकासं प्राप्नोतीषन्मालतीकलिका।
मकरन्दपानलोभयुक्त भ्रमर तावदेव मर्दयसि ॥
—गाथा सप्तशती

तथा पिब मधुप बकुलकलिकां दूरे रसनाग्रमात्रमाधाय।
अधरविलेपसमाप्ये मधुनि मुधा वदनमर्पयसि ॥
—आर्यासप्तशती

और भी अन्यासु तावदुपमर्दसहासु भृङ्ग
लोलं विनोदय मन: सुमनोलतासु।
मुग्धामजातुरजसं कलिकामकाले
व्यर्थं कदर्यसि किं नवमल्लिकाया: ॥
—विकटनितम्बा

सीतलतारु सुबास कौ घटै, न महिमा मूरु।
पीनस वारे ज्यौं तज्यौ, सोरा जानि कपूरु ॥१०३॥

शब्दार्थ:—सुवास = सुगन्ध, उच्चस्थिति; मूरु = मूल, पीनस = एक रोग का नाम।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि कपूर के माध्यम से उच्च व्यक्ति के गुणों की महत्ता प्रकट करते हुए कहता है कि यदि कपूर को पीनस का रोगी गंध का ज्ञान न हो सकने से, शोरा समझकर त्याग दे तो क्या ! उसकी शीतलता और सुगन्ध (उत्कृष्टता) की महत्ता रूपी मूल में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

विशेष :—शीतलता और सुगन्ध कपूर की स्वाभाविक विशेषताएं हैं जो दूर नहीं होतीं क्योंकि "स्वभावो दुरतिक्रम: ।"

अलंकार :—अन्योक्ति।

घर घर डोलतु दीन ह्वै, जन जन जाँचतु जाइ।
दियैं लोभ चसमा चखनु, लघु पुनि बड़ौ लखाइ ॥१०४॥

शब्दार्थ—दीन = भिखारी, जाँचतु = याचना करते हुए, चखनु = चक्षुओं पर।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि यहाँ भीख माँगने की निन्दा करते हुए कहता है कि कोई व्यक्ति दीन-हीन होकर घर-घर डोलता हुआ लोगों में भीख माँगता जा रहा है। उसके नेत्रों के ऊपर स्वार्थरूपी चश्मा लगा हुआ है अतः उसे प्रत्येक व्यक्ति अपने से उच्च दिखाई पड़ता है।

विशेष :—चश्मे के प्रयोग से छोटी वस्तु भी बड़े आकार की दीख पड़ती है। साथ ही याचना अथवा स्वार्थसिद्धि के समय पर भी साधारण से व्यक्ति को भी बड़ा ही मानना पड़ता है।

अलंकार :—पुनरुक्ति, अनुप्रास, रूपक तथा काव्यलिङ्ग।

बड़ें न हजै गुननु बिनु, बिरुद बड़ाई पाइ।
कहत धतूरे सौं कनकु, गहनौं गढ्यौ न जाइ ॥१०५॥

शब्दार्थ :—हूजै = हो सकना, बिरुद = यश, कनकु = धतूरा-सोना।

प्रसंग भावार्थ :—कवि यहाँ पर यह कहना चाहता है कि कोई भी व्यक्ति किसी नाम से नहीं, गुण और कार्यों से ही पहचाना जाता है। यदि किसी भी वस्तु की असीम प्रशंसा और यशगान किए जा रहे हों और उसमें उन गुणों का अभाव है तो वह बड़ी नहीं हो सकती क्योंकि 'कनक' तो धतूरे को भी कहते हैं जिससे (कनक-सोना) किसी का आभूषण भी नहीं बन सका।

अलंकार :—विनोक्ति और अर्थान्तरन्यास।

कनक कनक तैं सौगुनी मादकता अधिकाइ।
उहिं खाए बौराइ जगु, इहिं पाएँ बौराइ ॥१०६॥

शब्दार्थ :— कनक = सोना-धतूरा, उहिं = धतूरा, ईहिं = सोना।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि ने यमक के माध्यम से धनसम्पत्ति वाले व्यक्ति की मनोदशा का वर्णन किया है। कनक (सोना-सम्पत्ति) में कनक (धतूरे) से सौगुनी अधिक मादकता होती है। उस कनक को तो खाने पर ही दुनियाँ

बावली होती है किन्तु इस कनक को पाने पर ही बावलापन (उन्मत्तता) आ जाता है।

विशेष :—यहाँ सोना और धतूरा शब्दों का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया गया है।

अलंकार :—यमक, 'पुनरुक्ति,' अनुप्रास और व्यतिरेक।

तुलनात्मक—सुवर्णं बहु यस्यास्ति तस्य न स्यात्कथं मदः।
नामसाम्यादहो यस्य धुस्तूरोऽपि मदप्रदः॥

जात जात बितु होत है, ज्यौं जिय में संतोषु।
होत होत जौ होइ तौ होइ घरी में मोषु॥१०७॥

शब्दार्थ :—संतोषु = सन्तोष, मोषु = मोक्ष।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि की किसी लोभी के लिए उक्ति है कि जिस प्रकार का सन्तोष, धन के व्यय हो जाने पर करना पड़ता है (धन चला गया, यह तो भाग्य की माया थी) वैसे ही यदि उसके उपार्जन के समय यह संतोष कर लिया होता कि जितना प्राप्त होगा वह भी भाग्य के अनुसार ही होगा, अर्थात् धन को पाने के लिए बुरे कार्य न करता तो पल भर में ही मोक्ष हो जाता।

अलंकार :—संभावना।

जिन दिन देखे वे कुसुम, गई सु बीति बहार।
अब अलि रही गुलाब में, अपत कँटीली डार॥१०८॥

शब्दार्थ :—अपत = अपत्र।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—कवि ने किसी विगलितयौवना नायिका को देखने वाले नायक के मन की बात को यहाँ संकेतित किया है। जब इस उपवन में वे खिले हुए फूल देखे थे तब बहार थी। अरे अलि ! आज तो केवल पत्रहीन कंटक-पूर्ण लताएं ही शेष रह गई हैं।

विशेष :—कुसुम=अंगों का उभार, बहार=यौवन तथा अपत कंटीलीदार =वृद्ध शरीर के लिए कवि ने प्रयुक्त किए हैं।

अलंकार :—अन्योक्ति।

सबै सुहाए ई लगैं, बसैं सुहाएँ ठाम।
गोरे मुख बेंदी लसै, अरुन, पीत, सित, स्याम ॥१०९॥

शब्दार्थ :—सबै = सभी, सुहाएँ = सुन्दर, ठाम = स्थान, अरुन = लाल।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—कवि की सौन्दर्य के विषय में उक्ति है, सभी वस्तुएँ सुन्दर स्थानों पर होने से सुन्दर ही दिखाई पड़ने लगती हैं जिस प्रकार कि गोरे मुख वाली नायिका के माथे पर लाल-पीली-श्वेत अथवा श्यामल किसी भी रंग की बिन्दी सुशोभित होती है।

अलंकार :—अर्थान्तरन्यास।

सबै हँसत कर तारि दै, नागरता के नाँव।
गयौ गरबु गुन कौं सबु, गएँ गँवारें गाँव ॥११०॥

शब्दार्थ :—करतारि दै = ताली बजा बजाकर, नागरता = चतुरता-नागरिकता, गरबु = गर्व।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—कवि किसी ऐसे व्यक्ति का वर्णन करता है जो विद्वान् है और व्यक्तियों के निकट जाने पर जिसका उचित मूल्याङ्कन नहीं हो पा रहा हो। यहाँ तो नागरता (चातुर्य-नागरिकता) के नाम का सभी उपहास करते हैं और उस पर तालियाँ बजाते हैं। ऐसे गँवई गाँव में आने पर तो सारा ही गर्व और गुण दूर हो जाता है।

विशेष :—संभवत: बिहारी जैसे प्रतिभाशाली कवि को राजा जयसिंह जैसे पारखी व्यक्ति के मिलने से पूर्व अनेक अनपेक्षित व्यक्तियों को अपनी कविता सुनानी पड़ी होगी जिससे उनको कष्ट पहुँचा होगा। कवि की ऐसी दुरवस्था का संकेत "अरसिकेषु कवित्व निवेदनं शिरसि मा लिख मा लिख मा लिख" से भी मिलता है।

अलंकार :—अनुप्रास और श्लेष से परिपुष्ट अन्योक्ति।

बहकि बड़ाई आपनी, कत राँचत मति भूल।
बिनु मधु मधुकर के हियैं, गड़ैं न गुड़हर फूल ॥१११॥

शब्दार्थ :—बहकि = बहकते हुए, कत = क्यों, राँचत = आनंदित होना, मति भूल = बुद्धि का भ्रम, मधु = मकरंद-गुण।

प्रसंग-भावार्थ :—गुड़हर के फूल पर अन्योक्ति करते हुए कवि कहता है

कि हे गुड़हर के फूल (केवल सम्पत्ति के कारण प्रतिष्ठित व्यक्ति) तू व्यर्थ ही अपनी प्रशंसा से क्यों रंजित (अरुणाभ, प्रसन्न) हो रहा है ? अरे भाई ! बिना मकरंद (गुण) के तू मधुकर (भ्रमर अथवा गुणग्राही) के हृदय में प्रविष्ट नहीं हो सकता ।

अलंकार :--अनुप्रास, श्लेष, यमक तथा अन्योक्ति ।

तुलनात्मक—आभास: परहिंसा वैतंसिकसारमेय ! तव सार: ।
त्वामपसार्य विभाज्य: कुरङ्ग एषोधुनैवान्यै: ॥
—आर्या सतशती

स्वारथु, सुकृतु न, श्रमु बृथा, देखि बिहंग बिचारि ।
बाज, पराएँ पानि परि, तू पंछीनु न मारि ॥११२॥

शब्दार्थ :--स्वारथु = स्वार्थ, सुकृतु = पुण्य, बृथा = व्यर्थ, बिहंग = पक्षी, पराएँ पानि परि = दूसरे के हाथों पड़ जाने पर ।

प्रसंग-भावार्थ :—महाराज जयसिंह की मुगल सम्राट्शाहजहाँ के प्रति स्वामिभक्ति इतिहास की एक सुविदित घटना है। इसके लिए उन्हें स्वयं सम्राट् शिवाजी ने भी एक पत्र लिखा था। कविवर बिहारी भी मिर्जा जयसिंह को, बाज के माध्यम से समझाते हैं :—

अरे विहंगम ! तुम विचार करके देखो (अर्थात् यह केवल भावुकता है) कि इस कार्य के करने से न तो स्वार्थ सिद्ध होता है न कोई पुण्य ही प्राप्त होता है, अपितु इसमें तुम्हारा किया हुआ परिश्रम भी व्यर्थ ही जा रहा है। तुम पराए (अर्थात् जो सजातीय पक्षी नहीं है, शाहजहाँ) व्यक्ति के हाथों में पड़कर इन स्वजातीयों (हिंदू प्रजा) को मत मारो ।

विशेष :—प्रस्तुत दोहे का अर्थ सामान्य रूप से भी लिया जा सकता है। बहुत से व्यक्ति अपने स्वामियों के प्रसादन के लिए अपनों के हर्षोल्लास तक को समर्पित कर बैठते हैं। इस प्रकार के व्यक्तियों को भी कवि ने उपदेश दिया है।

अलंकार :--अनुप्रास, विहंग में परिकरांकुर तथा अन्योक्ति ।

टिप्पणी--विहंगम आकाश में उन्मुक्त विचरण करने से सुदूरद्रष्टा होता है। राजा जयसिंह को भी कवि ने स्वतंत्र तथा दूरदर्शी कहा है, अत: साभिप्राय विशेषण के कारण परिकरांकुर अलंकार हो सकता है।

संगति दोषु लगै सबनु, कहे ति साँचे बैन।
कुटिल-बंक-भ्रुव सँग भए, कुटिल-बंक गति नैन ॥११३॥

शब्दार्थ :—संगति = साथ, कुटिल = टेढ़ा, बंक = वक्र।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि संगति के प्रभाव का वर्णन करता है कि यह बात विद्वानों ने सत्य ही कही है कि सभी को कुसंगति का दोष सहना पड़ता है, जैसे कुटिल और टेढ़ी भ्रूओं के साथ-साथ रहने से नेत्र भी कुटिल और टेढ़ी चाल वाले (बुरे मार्ग पर चलने वाले-कुचाली) हो जाते हैं।

अलंकार :—अर्थान्तरन्यास।

डर न टरै, नींद न परै, हरै न काल-विपाकु।
छिनकु छाकि उछकै न फिरि, खरौ विषमु छवि छाकु ॥११४॥

शब्दार्थ :—न टरै = टलता नहीं, काल विपाकु = समय के बीतने की सीमा, छिनकु = एक क्षण, छाकि = तृप्त होकर, उछकै न फिर = फिर स्वस्थ नहीं होता, छाकु = नशा।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि यहाँ पर किसी ऐसे व्यक्ति का वर्णन करता है जिसे छविदर्शन से उन्मत्तता आ गई है। यह रूपदर्शन रूपी मदिरा का पान भी अत्यन्त विषम तथा प्रखर है। इससे उन्मत्त व्यक्ति का न तो भय ही टलता है, न उसे नींद ही आती है और न समय की सीमाएं (अवधि) ही बीत पाती हैं। वह क्षण भर के लिए तो छविदर्शन से तृप्त हो जाता है परन्तु फिर स्वस्थ नहीं हो पाता।

अलंकार :—व्यतिरेक तथा अनुप्रास।

नर की अरु नल नीर की, गति एकै करि जोइ।
जे तौ नीचौ ह्वै चलै, ते तौ ऊँचौ होइ ॥११५॥

शब्दार्थ :—गति = दशा-चाल, एकैकरि = एक रूप से, जोइ = देखिए।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि सत्पुरुषों के स्वभाव के लिए कहता है कि उनकी दशा नल के जल की सी होती है। नल का पानी जितना नीचे गिरता है उतना ही ऊपर उच्छलित होता है उसी प्रकार जो व्यक्ति जितना विनम्र होकर चलता है वह उतना ही उच्च (श्रेष्ठ) होता है।

विशेष :—यह एक वैज्ञानिक नियम है कि जो वस्तु जितने वेग से नीचे फैंकी जाती है वह उतने ही वेग से ऊपर उठती है।

अलंकार :—उपमा, अनुप्रास, विरोधाभास, (गति में) श्लेष तथा दीपक।

बढ़त बढ़त संपति-सलिलु मन सरोजु बढ़ि जाइ।
घटत घटत सुन पुनि घटै, बरु समूल कुम्हिलाइ ॥११६॥

शब्दार्थ—सलिल = जल, सरोजु = कमल, बरु = भले ही, समूल = मूल सहित।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि यहाँ पर वैभवशील व्यक्ति के स्वभाव का वर्णन करते हुए कहता है कि सम्पत्तिवान् व्यक्ति के सम्पत्ति रूपी जल के बढ़ने पर उसका हृदय रूपी कमल भी ऊपर उठता जाता है। जब इस जल का घटना प्रारम्भ हो जाता है तब वह कमल नीचे नहीं झुकता भले ही मूल सहित मुरझा जाए।

विशेष :—कमल के फूल की यह विशेषता है कि वह सदा पानी की सतह के ऊपर रहता है। पानी सूखने पर स्वयं फूल भी सूख जाता है, वह कभी नीचा नहीं होता।

अलंकार :—पुनरुक्ति तथा साङ्गरूपक।

गुनी गुनी सबके कहैं, निगुनी गुनी न होतु।
सुन्यौं कहूँ तरु अर्क तैं, अर्क समान उदोतु ॥११७॥

शब्दार्थ :—गुनी = गुणवान्, निगुनी = मूर्ख, अर्क = अकौआ का वृक्ष-सूर्य, उदोतु = प्रकाश।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि की प्रास्ताविक उक्ति है कि किसी व्यक्ति को ऊंची संज्ञा अथवा विशेषण देने से उसे ऊंचा नहीं बनाया जा सकता। सभी व्यक्ति यदि किसी गुणहीन को गुणी कहें तो क्या ? यों तो मदार वृक्ष का नाम भी 'अर्क' होता है परन्तु कभी यह भी सुना है कि वह अर्क (सूर्य) के समान प्रकाश करता है।

अलंकार :—पुनरुक्ति तथा यमक।

प्यासे दुपहर जेठ के, फिरे सबै जलु सोधि।
मरुधर पाइ मतीरहीं, मारू कहत पयोधि ॥११८॥

शब्दार्थ :—सोधि = खोजकर, मरुधर = मरुस्थल, मतीरहीं = तरबूजे को। मारू = मारवाड़ का व्यक्ति, पयोधि = सागर।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि ने प्रस्तुत दोहे में यह बताने का प्रयत्न किया है कि कभी-कभी आवश्यकता पड़ने पर छोटी वस्तु भी महत्ता प्राप्त कर लेती है। जेठ मास की तपती दोपहरी में मरुभूमि के निवासी सब ओर जल की खोज करने पर जब कहीं तरबूजा प्राप्त कर लेते हैं तो वे (मारवाड़ी) उसी को समुद्र मान लेते हैं।

विशेष :—रेतीली धरती में प्राय: जल का अभाव होता है और तरबूजा भी रेती में ही अधिकता से पैदा होता है।

अलंकार :—अनुप्रास तथा रूपक।

दृग उरझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गाँठि दुरजन हियैं, दई नई, यह रीति ॥११९॥

शब्दार्थ :— उरझत = उलझते हैं, जुरत = संयुक्त होते हैं, गाँठि = ग्रन्थि, हियैं = मन में, दई = दैव, दी है।

कवि दो प्रेमियों तथा समाज की सम्बन्ध-प्रतिक्रियाओं का वर्णन करता है कि जब दो प्रेमी मिलते हैं तो उनके नेत्र परस्पर उलझ जाते हैं फलत: परिवार से सम्बन्धी टूट जाते हैं और इस प्रकार उनके मन में प्रीति के सूत्र जुड़ने लगते हैं, किन्तु इस जोड़ (संयोग) से दुर्जनों के मन में गाँठ पड़ जाती है। हे दैव ! प्रेम की तुमने यह नई ही रीति दी है।

विशेष :—कवि का प्रेमविषयक सूक्ष्म विवेचन यहाँ दर्शनीय है। व्यष्टिगत प्रेम का समष्टि प्रभाव दिखाना ही यहाँ उसे अभिप्रेत है।

अलंकार :—अनुप्रास, असंगति तथा श्लेष।

तुलनात्मक - उरझत दृग बधि जात मन, कहौ कौन यह रीति।
प्रेम नगर में आइकै, देखी बड़ी अनीति ॥
अद्भुत गति यह प्रेम की, लखो सनेही आय।
जुरै कहूँ टूटै कहूँ कहूँ, गाँठि परि जाय ॥

—रतन हजारा

बिषम वृषादित की तृषा, जिये मतीरनु सोधि ।
अमित, अपार, अगाध-जलु, मारौ मूड़ पयोधि ॥१२०॥

शब्दार्थ :—विषम = प्रचण्ड, वृषादित = वृषराशि का सूर्य, तृषा = प्यास मतीरनु=तरबूजों को, सोधि = खोजकर, अमित = अपरिसीमित, अगाध = गहन, मारो मूड़ = मूड़ मारना-व्यर्थ माथा पीटना, पयोधि = क्षीरसिन्धु ।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि का कथन है कि कभी-कभी बड़ी वस्तुएं निरर्थक, तथा आवश्यकता को उचित अवसर पर पूर्ण करने के कारण छोटी वस्तुएं सार्थक हो जाती हैं, जिस प्रकार मरुभूमि का निवासी वृष राशि पर आए हुए सूर्य की प्रचण्ड उष्णता में तरबूजों को ढूंढ़ कर ही अपनी तृष्णा को शान्त कर लेता है; फिर अपरिसीम, अथाह और व्यापक क्षीरसागर के जल के लिए क्या माथापच्ची करना ।

अलंकार :—अन्योक्ति ।

बसै बुराई जासु तन, ताही कौ सनमानु ।
भलौ भलौ कहि छोड़िए, खोटे ग्रह जपु, दानु ॥१२१॥

शब्दार्थ :—जासु = जिसके, ग्रह = ग्रह-नक्षत्र ।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि का कथन है कि संसार में भलों की अपेक्षा दुर्जनों का ही सम्मान होता है क्योंकि भले आदमी को तो सज्जन कह कर छोड़ दिया जाता है और जो बुरे हैं उनका आदर होता है, जिस प्रकार मंगल नक्षत्र की अपेक्षा शनि आदि के कष्टनिवारण के लिए जप और दानादि किए जाते हैं ।

अलङ्कार :—दृष्टान्त ।

जौ चाहतु चटक न घटै, मैलौ होइ न मित्त ।
रज राजसु न छुवाइयै, नेह चीकनै चित्त ॥१२२॥

शब्दार्थ :—चटक = चमक दमक-स्फूर्त्ति, मित्त = मित्र, रज = धूलि, राजसु = मान, नेह = प्रेम-तेल ।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि का किसी व्यक्ति के प्रति कथन है कि यदि तुम यह चाहते हो कि तुम्हारा मित्र मलीन न हो और उसकी चटक (मित्रता) में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं आये तो तुम उसके स्नेह सुकुमार मन पर अभिमान रूपी धूलि का स्पर्श मत होने दो ।

विशेष :—प्राय: मित्रता के सम्बन्ध अभिमानवश ही टूट जाया करते हैं। दूसरी बात यह कि तेल (स्नेह) से चिकनी वस्तु पर तनिक सी भी धूलि यदि पड़ जाती है तो वह मलीन हो जाती है।

अलंकार :—अनुप्रास तथा रूपक।

क्यौं बसियै क्यों निबहियै, नीति नेह पुर माँहि।
लगालगी लोयन करैं, नाहक मन बँधि जाँहि ॥१२३॥

शब्दार्थ :—निवहियै = निर्वाह किया जाए, नेहपुर = न + इह पुर अथवा नेह रूपी पुर, लोयन = नेत्र।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि की उक्ति है कि इस प्रेम रूपी नगरी में नीति नहीं है। यहाँ कैसे वसा जाए और जीवन-निर्वाह किया जाए। यहाँ पर नेत्र तो परस्पर एक दूसरे से उलझते हैं परन्तु बेचारे मन व्यर्थ ही बाँध दिए जाते हैं।

अलंकार :—श्लेष, रूपक तथा असंगति।

अति अगाध अति औथरौ, नदी कूप सरु बाइ।
सो ताकौ सागरु, जहाँ, जाकी प्यास बुझाइ ॥१२४॥

शब्दार्थ :—अगाध = गहरा, औथरौ = उथला, सरु = ताल, बाइ = वापिका।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि की उपयोगितावादी प्रास्ताविक उक्ति है कि नदी, कुँआ, तालाब तथा वापिका का जल चाहे अत्यन्त गहरा हो अथवा अत्यन्त उथला हो, परन्तु वही स्थान उस व्यक्ति के लिए सागर हो जाता है जहाँ उसकी तृष्णा शान्त होती है।

अलङ्कार :—अनुप्रास तथा अन्योक्ति।

गोधन तू हरष्यौ हियै, घरियक लेहि पुजाइ।
समुझि परैगी सीस पर, परत पसुनु के पाँइ ॥१२५॥

शब्दार्थ :—गोधन = गोवर्द्धन, हरष्यौ = हर्षित होना, घरियक = एक घड़ी।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—कवि यहाँ किसी ऐसे अपात्र व्यक्ति के विषय में अपने विचार प्रकट कर रहा है जो कि समाज में प्रतिष्ठित हो गया है। अरे गोवर्द्धन !

तू घड़ी भर के लिए पूजनीय बनकर भले ही मन में हर्षित होले परन्तु कुछ देर पश्चात् जब पशुओं के पैर तेरे ऊपर पड़ेंगे तब तू अपनी वास्तविकता से परिचित हो जाएगा।

अलंकार :—अनुप्रास, यमक तथा अन्योक्ति।

भावरि-अनभावरि भरे, करौ कोटि बकवादु।
अपनी अपनी भाँति कौ छुटै न सहज सबादु ॥१२६॥

शब्दार्थ :—भावरि = अभीष्ट, अनभावरि = अनभीष्ट, बकवादु = मिथ्याविवाद।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि संसार में जीव और ब्रह्म के विषय में विविध विवाद करने वाले व्यक्तियों से कहता है कि अपने अभीष्ट और अनभीप्सित भावों से भर कर तुम चाहे जितना व्यर्थ का विवाद करलो किन्तु जो अपनी-अपनी स्वाभाविक रुचि होती है उसका सहज स्वाद (प्रवृत्ति) कभी नहीं छूट पाता है।

विशेष :—प्रस्तुत कथन को हम गोपियों द्वारा दिया गया उद्धव के प्रति सगुण का समर्थन तथा निर्गुण का खण्डन विषयक उत्तर भी कह सकते हैं।

अलंकार :—अनुप्रास-पुनरुक्ति।

पिय मनरुचि ह्वै बौ कठिनु, तन रुचि होहु सिंगार।
लाखु करौ, आँखि न बढ़ैं, बढ़ैं बढ़ाएँ बार ॥१२७॥

प्रसङ्ग-भावार्थ :—कवि का कथन किसी ऐसे व्यक्ति के प्रति है जो अपनी शारीरिक सज्जा के द्वारा प्रिय के मन को अपनी ओर आकर्षित करना चाहता है किन्तु ऐसा होना कोटि उपाय करने पर भी सम्भव नहीं है। अपने यत्नों से केशों को भले ही बढ़ालो परन्तु उसकी (प्रिय की) आँखें तुम्हारे लिए नहीं बढ़ सकतीं, अर्थात् उदार नहीं हो सकतीं।

विशेष :- इस दोहे का भक्तिपरक अर्थ भी लगाया जा सकता है। इस विषय के अनुसार कवि किसी जटाएँ बढ़ाने वाले आडम्बरी भक्त से कहता है कि इस प्रकार के प्रयत्नों से ईश्वर कभी प्रिय नहीं बन पाता। उसके नेत्रों में भक्त के प्रति उदारता नहीं आ पाती। ऐसा करने के लिए तो बालों की अपेक्षा

मन को ही विशाल बनाना पड़ेगा। आँखों का न बढ़ना तथा प्रयत्न से केशों का बढ़ जाना तो स्पष्ट ही है।

अलंकार :—स्वभावोक्ति।

पटु पाँखै, भखु काँकरैं, सपर परेई संग।
सुखी परेबा पुहुमि मैं, एकै तुही विहंग ॥१२८॥

शब्दार्थ :—पटु = वस्त्र, भाखु = भक्षण पदार्थ, काँकरै = कंकड़, सपर = पंखों वाली, परेई = विहंगिनि, पुहुमि = पृथिवी।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि पक्षी को सम्बोधित करते हुए संसार के सुख देने वाले तत्त्वों की ओर इङ्गित करता है कि हे पक्षी ! इस धरती पर केवल तुम्हीं एक प्रसन्न हो क्योंकि तुम्हारे पंख ही वस्त्र हैं (जो कि सुलभ हैं) और कंकड़ ही (जो सब स्थानों पर प्राप्य हैं) तुम्हारा भोज्यपदार्थ है तथा पंखों वाली विहंगिनि (पत्नी) सदा तुम्हारे संग आकाश में विहरण करती रहती है।

विशेष :—वस्त्र, आहार तथा शृङ्गार को कवि ने सुखों का मूल माना है।

अलंकार :—रूपक, अतिशयोक्ति।

अरे परेखौ को करै, तुहीं बिलोकि बिचारि।
किहिं नर, किहिं सर राखियैं, खरैं बढ़ैं परिपारि ॥१२९॥

शब्दार्थ :—परेखौ = पछतावा, परिपारि = पारिप्लव अथवा मर्यादा।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि ने संसार के उच्च व्यक्तियों के अमर्यादित कार्यों की ओर संकेत करते हुए कहा है कि अरे मन बड़े व्यक्तियों के इन मर्यादाहीन कार्यों पर कौन पछतावा करे। तू ही विचार कर देख कि किस व्यक्ति अथवा किस सरोवर ने बढ़कर अपनी सीमाएं नहीं तोड़ी हैं।

अलंकार :—काकुवक्रोक्ति।

ओछे बड़े न ह्वै सकैं लगौ, सतर ह्वै गैन।
दीरघ होंहि न नैंक हूँ, फारि निहारैं नैन ॥१३०॥

शब्दार्थ :—ओछे = छोटे, सतर = ऊंचा होना, गैन = गगन, दीरघ = विशाल।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि निकृष्ट व्यक्ति के स्वभाव के लिए कहता है कि

वह दुरतिक्रमणीय होता है। नीच आदमी लाख चेष्टा कर लेने पर यदि आकाश तक ऊँचा उठ जाए तो क्या वह अपनी सहज दुर्वृत्तियों को छोड़ देगा जैसे आँखों को भले ही फाड़ दिया जाए किन्तु वे कभी विशाल नहीं हो पातीं।

विशेष :--"स्वभावो दुरतिक्रमः"।

अलङ्कार :—अर्थान्तरन्यास।

अनियारे, दीरघ दृगनु, किती न तरुनि समान।
वह चितवनि औरै कछू, जिहि बस होत सुजान ॥१३१॥

शब्दार्थ :—अनियारे = नुकीले, किती = कितनी।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि किसी नायिका के नेत्रों का वर्णन करता है कि ऐसी कितनी स्त्रियाँ नहीं हैं जिनके नेत्र नुकीले तथा विशाल नहीं होंगे। यह समता होने पर भी उस नायिका की चितवन तो कुछ और ही होती है जिसे देखकर कोई सुजान (चतुर नायक) वशीभूत हो जाता है।

अलंकार :—अतिशयोक्ति।

तुलनात्मक :—अन्यासामपि भवन्ति मुखै पक्ष्मलधवलानि दीर्घकृष्णानि।
नयनानि सुन्दरीणां तथापि खलु द्रष्टुं न जानन्ति ॥
—गाथा सप्तशती

बुरौ बुराई जौ तजै, तौ चितु खरौ सकातु।
ज्यौं निकलंकु मयंकु लखि, गनैं लोग उतपातु ॥१३२॥

शब्दार्थ :—सकातु = शंका करता है, निकलंकु = निष्कलंक, मयंकु = चद्रमा, गनैं = समझते हैं।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि की उक्ति है कि यदि कोई बुरा व्यक्ति अपनी बुराई छोड़ भी दे तो मन उसके लिए अत्यन्त शंकाएं करने लगता है जैसे कि चन्द्रमा को देखकर लोग किसी न किसी उत्पात की आशंकाएं करने लगते हैं।

विशेष :—यह प्रसिद्ध है कि जब कोई उपद्रव होता है तब चन्द्रमा अपने कलंक को छोड़कर निष्कलंक दिखाई पड़ने लगता है।

अलंकार :—दृष्टान्त।

चितु दै देखि चकोर त्यौं, तीजैं भजै न भूख।
चिनगी चुगै अँगार की, चुगै कि चंद मयूख ॥१३३॥

भावार्थ :—चितु दै देखि = समझ कर देखो, तीजैं = तीसरी वस्तु को, मयूख = किरण।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि किसी श्रेष्ठ व्यक्ति के स्वभाव के लिए कहता है कि चकोर या तो अंगार की चिनगारियाँ खाता है या फिर चन्द्रमा की किरणें। तनिक ध्यानपूर्वक देखो, वह भूखा होने पर भी किसी तीसरी वस्तु का उपभोग नहीं करता है।

विशेष :—यही हंस के मोती चुगने और पपीहे के स्वाँति नक्षत्र के जल के पीने से भी सिद्ध होता है।

अलंकार :—अनुप्रास तथा अन्योक्ति।

मीत न नीत गलीतु ह्वै, जौ धरियै धनु जोरि।
खाएँ खरचैं जौ जुरै, तौ जोरियै करोरि ॥१३४॥

शब्दार्थ :—नीत = नियम, गलीतु = दुर्दशाग्रस्त।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि की उक्ति है कि हे मित्र! यदि दुर्दशाग्रस्त होने पर भी धन का संचय करते रहो तो यह कोई नीति नहीं है। हाँ, यदि खाने तथा उचित आवश्यकताओं पर व्यय करने के बाद भी धन शेष रह जाए तो उसे कोटि-सीमाओं तक जोड़ते रहो।

अलंकार :—अनुप्रास।

इक भींजैं चहलैं परैं, बूड़ैं, बहैं हजार।
किते न औगुन जग करैं, बै-नै चढ़ती बार ॥१३५॥

शब्दार्थ :—चहलैं = कीचड़ में, औगुन = अवगुण, बैं = वय, नै=नदी।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि यौवनावस्था के दुर्गुणों का वर्णन करता है कि एक तो इस यौवन रूपी सरिता में भीगना पड़ता है, फिर कभी-कभी कीचड़ में भी फंस जाना पड़ता हे। इसमें जब बाढ़ आती है तो सहस्रों व्यक्ति डूब जाते हैं और बह जाते हैं। यह न जाने संसार में कितने अवगुण नहीं करती है।

अलंकार :—सांगरूपक।

मूंड़ चढ़ाए ऊ रहै, पर्‌यौ पीठि कच-भारु ।
रहै गरैं परि, राखिबौ, तऊ हियैं पर हारु ॥१३६॥

शब्दार्थ :—मूंड़ चढ़ाए ऊ = सिर चढ़े होने पर भी, कचभारु = केशगुच्छ, रहै गरैं परि = गले पड़ने पर ।

प्रसंग-भावार्थ—कवि का कहने का आशय है कि अपात्र को यदि प्रतिष्ठा दी जाए तो वह सदा पीठ दिखाता है और सुपात्र को अनिच्छया भी समीप रखा जाए तो वह सदा पीठ की ओर (उदासीन) रहते हैं जबकि हार गले में पड़े रहने पर भी श्रेष्ठ पद का अर्थात् हृदय का स्थान ही प्राप्त करता है ।

अलंकार :—अन्योक्ति ।

इहीं आस अटक्यौ रहैं, अलि गुलाब के मूल ।
ह्वै है फेरि बसन्त ऋतु, इन डारनु वे फूल ॥१३७॥

शब्दार्थ :—अटक्यौ रहतु = साथ बना रहता है, अलि = भ्रमर-मित्र ।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि किसी नष्टवैभव गुणी व्यक्ति के मित्र के लिए कहता है कि कभी फिर वसन्त ऋतु आएगी और इन्हीं लताओं पर फिर पुष्पों का विकास होगा ।

विशेष :—यहाँ गुलाब की पैंड़ी और भ्रमर का समवाय सम्बन्ध कवि ने केवल अपनी प्रौढोक्ति के द्वारा सिद्ध किया है, वैसे ऐसा होता नहीं है ।

अलंकार :—अन्योक्ति ।

वे न इहाँ नागर बढ़ी, जिन आदर तो आब ।
फूल्यौ अनफूल्यौ भयौ, गँवई-गाँव गुलाब ॥१३८॥

शब्दार्थ :—नागर = चतुर-नागरिक, आव = प्रतिष्ठा, गंवई = ग्राम्य ।

प्रसंग-भावार्थ—कवि किसी गुणी व्यक्ति से, जो कि विपरीत वातावरण में जा वसा है, कहता है कि अरे गुलाब ! यहाँ पर वे वड़े चतुर नागरिक नहीं रहते जिनके द्वारा तेरी प्रतिष्ठा होती है । इस गँवई गाँव में आकर तेरा पुष्पित होना भी न फूलने के समान हो गया है ।

अलंकार :—अन्योक्ति, अनुप्रास तथा विरोधाभास ।

चल्यौ जाइ ह्याँ को करै, हाथिनु के व्यापार।

नहिं जानतु, इहिं पुर बसैं, धोबो, ओड़, कुम्हार ॥१३९॥

शब्दार्थ :—पुर = नगर, ओड़ = गधों पर सामान ढोने वाले।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि किसी हाथी के व्यापारी के माध्यम से एक ऐसे गुणी को, जो कि अयोग्य व्यक्तियों के बीच आकर अपनी योग्यता दिखा रहा है, उपदेश दे रहा है कि तुम यहाँ से चले जाओ। यहाँ कौन हाथियों का व्यापार करना जानता है ? इस नगर में तो धोबी, ओड़ तथा कुम्हारों का निवास है जिनका काम हाथियों से नहीं, अपितु गधों से पड़ता है।

अलंकार :—अन्योक्ति।

समै समै सुन्दर सबै, रूप कुरूप न कोइ।

मन की रुचि जेती जितै, तित तेती रुचि होइ ॥१४०॥

शब्दार्थ :—समै समै = समय समय पर, जितै = जिधर, तित = उधर।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि की उपयोगितावादी प्रौढ़ोक्ति है कि इस संसार में कोई भी वस्तु अनुपयोगी अथवा बुरी नहीं है। सभी वस्तुएं अवसर आने पर सुन्दर और उपादेय बन जाती हैं। यह तो मन के ऊपर है कि वह जहाँ जिसमें अनुरक्त हो जाए वही रुचिकर हो जाती है।

विशेष :—सुन्दर और असुन्दर के विषय में पूर्व तथा पश्चिम के विद्वानों का एक दीर्घकालिक चिन्तन रहा है जिसे (Aesthetics) कहते हैं। पूर्व के सौन्दर्यवादी सुन्दरता को आत्मगत तथा पाश्चात्य दार्शनिक उसे वस्तुगत स्वीकार करते हैं। वस्तुत: यह दोनों ही अर्ध सत्य हैं। 'सुन्दरता' प्रेक्षक तथा प्रेक्ष्य के मध्य की वस्तु है।

अलंकार :—अनुप्रास तथा सार।

मरतु प्यास पिंजरा पर्‌यौ, सुआ समै के फेर।

आदरु दै दै बोलियतु, बाइसु बलि की बेर ॥१४१॥

शब्दार्थ :—बोलियतु = बुलाया जाता है, बाइसु = कौआ, बलि = श्राद्ध।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि की प्रास्ताविक उक्ति है कि संसार में कोई भी वस्तु अनुपयोगी नहीं है। समय के फेर से तोता तो पिंजरे में पड़ा-पड़ा प्यास से छटपटाकर प्राण-त्याग कर देता है जबकि श्राद्धपक्ष के दिन आने पर कौओं को आदर से बुला बुलाकर ग्रास दिए जाते हैं।

अलंकार :—अन्योक्ति, अनुप्रास।

दिन दसु आदरु पाइकें, करि लै आपु बखानु।
जौ लगि काग सराधपखु, तौ लगि तो सनमानु ॥१४२॥

प्रसंग-भावार्थ :—कवि किसी ऐसे व्यक्ति की ओर संकेत कर रहा है जो अपात्र होने पर भी प्रतिष्ठा प्राप्त कर रहा है। यहाँ कौए को सम्बोधित करते हुए वह कहता है कि थोड़े दिन का आदर पाकर तू चाहे जैसी आत्मश्लाघा करले किन्तु यह तेरा सम्मान तभी तक रहेगा जब तक कि श्राद्धपक्ष नहीं बीतता।

अलङ्कार :—अन्योक्ति।

तौ अनेक औगुन भरहिं, चाहै याहि बलाइ।
जौ पति सम्पति हूँ बिना, जदुपति राखै जाइ ॥१४३॥

शब्दार्थ :—औगुन भरहिं = अवगुणमयी। बलाइ = मेरी बला। पति = लाज।

प्रसङ्ग-भावार्थ :--कवि धन-सम्पति के लिए कहता है कि वह तो केवल अलौकिक मर्यादाओं के निर्वाह के लिए ही होती है। यदि यदुपति श्रीकृष्ण इसके बिना ही भजे जाएँ तो इस अनेक अवगुणमयी को मेरी बला ही चाहेगी, मैं नहीं।

विशेष :—सरस्वती और लक्ष्मी का वैर प्रसिद्ध ही है। प्रायः सभी सरस्वती भक्तों (कवियों-साहित्यिकों) ने लक्ष्मी की बुराई की है।

अलंकार :—यमक - लोकोक्ति

कर लै सूँघि सराहि हूँ, रहे सबै गहि मौनु।
गंधी अंध, गुलाब कौ, गँवई गाहकु कौनु ॥१४४॥

शब्दार्थ : –सराहि हूँ = सराहना करके भी, गंधी = इत्र का व्यापारी।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि किसी गुणी व्यक्ति के लिए जो कि गुणों को परखने वालों के बीच अपमानित हुआ बैठा है, अन्योक्ति द्वारा कहता है कि अं

गंध के व्यापारी ! यहाँ पाटलगंध का पारखी और ग्राहक कौन है ? क्या तुम अंधे हो गए हो जो उन लोगों के निकट चले आए हो जिन्होंने पहले तो तुम्हारे इत्र को हाथ में लिया, फिर सूंघा और तत्पश्चात् सराहना करके खरीदने के समय जो मौन ग्रहण करके बैठ गए हैं।

अलङ्कार :—अन्योक्ति।

करि फुलेल कौ आचमनु, मीठौ कहत सराहि।
रे गन्धी ! मति अन्ध तू, इतर दिखावत काहि ॥१४५॥

शब्दार्थ :—फुलेल = इत्र, आचमनु = पान, काहि = किसको।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि किसी ऐसे व्यक्ति की ओर संकेत कर रहा है जो कि गुणी है किन्तु मूर्खों के निकट जा बैठा है जोकि उसकी योग्यता का सही मूल्याङ्कन नहीं कर पाते। अरे इत्र बेचने वाले गन्धी (सौगन्धिक) ! तुम अपना इत्र उन व्यक्तियों को दिखा रहे हो जो कि पहले तो उसे (सूंघने की अपेक्षा) पी लेते हैं फिर प्रशंसात्मक स्वर से उसकी मिठास का वर्णन करते हैं।

विशेष—इत्र पेय वस्तु नहीं है किन्तु मूर्ख व्यक्ति उसे (सूंघते नहीं हैं) पी लेते हैं।

अलंकार : —अन्योक्ति।

जदपि पुराने, बक तऊ, सरवर निपट कुचाल।
नये भये तु कहा भयौ, ये मनहरन मराल ॥१४६॥

शब्दार्थ :—जदपि = यद्यपि, बक = बगुला, तऊ = तब भी, कुचाल = दुर्नीति, नये = इन पर, मये = दया की, मराल = हंस।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—कोई गुणवान व्यक्ति किसी मूर्ख के शरणदाता को अन्योक्ति द्वारा समझाता है कि हे सरोवर ! तुम्हारी नीति सर्वथा अनुचित है। तुम जो इन पुराने बगुलों को अपने जल में शरण दिए हुए इन पर ममता कर रहे हो तो क्या हुआ ? हम नए हैं तो इससे क्या—हैं तो मन को हरण करने वाले हंस !

अलंकार : —अन्योक्ति।

अरे हंस या नगर में, जैयौ आपु विचारि।
कागनि सौं जिन प्रीति करि, कोकिल दई बिड़ारि ॥१४७॥

शब्दार्थ :—या = इस, कागनि सौं = कौओं से, बिड़ारि = भगाना।

प्रसंग-भावार्थ :—कोई विद्वान् व्यक्ति अगुणग्राही समाज में प्रवेश कर रहा है। कवि उसे देखकर कहता है, अरे हंस इस नगर में प्रवेश करने से पूर्व तनिक सोच समझ अवश्य लेना। यहाँ वे व्यक्ति रहते हैं जिन्होंने कौओं से प्रेम निभाकर कोकिला को बाहर भगा दिया है।

अलंकार :—अन्योक्ति।

को कहि सकै बड़ेनु सों, लखे बड़े हू भूल।
दीनै दई गुलाब की, इनु डारनु ये फूल ॥१४८॥

शब्दार्थ :—लखैं = देखने पर, दई =दैव।

प्रसंगभावार्थ—कवि प्रस्तुत दोहे में कहना चाहता है कि बड़े व्यक्ति द्वारा की गई किसी बड़ी भूल को देखकर भी कोई कुछ नहीं कह सकता जैसे कि दुर्दैव ने गुलाब जैसे सुन्दर पुष्प की इन डालों पर भी काँटे लगा दिए हैं।

अलंकार :— अन्योक्ति।

तुलनात्मक टिप्पणी :—"वृद्धास्तेन विचारणीयचरिता:" (भवभूति—उत्तर रामचरितम्) भी इसी का समर्थन होता है।

सरस कुसुम मँडरात अलि, न झुकि झपटि लपटात।
दरसत अति सुकुमारता, परसत मन न पत्यात ॥१४९॥

शब्दार्थ :—पत्यात = विश्वास करना।

प्रसङ्गभावार्थ :—कवि किसी गुणपारखी के स्वभाव का विवरण देता है कि पारखी उसकी विशेषताओं को चाहता अवश्य है किन्तु उन्हें ग्रहण नहीं करता जैसे कि एक भ्रमर सरस पुष्प के ऊपर ही मंडराता है किन्तु वह उस पर झपट कर झुकता नहीं। फूल की उस दिखाई देने वाली कोमलता के कारण उसे उसका नष्ट करना भी अभीष्ट (विश्वास पूर्ण) नहीं होता।

अलङ्कार : अन्योक्ति।

तुलनात्मक टिप्पणी

"Beauty is to see not to touch
Flower is to smell not to pluck."

ढरे ढार, तेहीं ढरत, दूजैं ढार ढरैं न।
क्यों हूं आनन आन औं, नैना लागत नैन ॥१५०॥

शब्दार्थ :— ढरे = प्रवृत्त हुए, ढार = वृत्ति, आन = अन्य।

प्रसंग-भावार्थ :—कोई भक्त अपनी भक्ति की दृढ़ता के विषय में किसी अन्य सम्प्रदाय के समर्थक से कहता है कि जिस प्रकार नेत्र अपने एक अभीष्ट को देखकर उसी में रूपदर्शन की वृत्ति को संलग्न कर देते हैं तथा द्वितीय व्यक्ति की ओर बिना आकर्षित हुए रहते हैं, वैसे ही भक्त केवल एक ही देवता में विश्वास करता है। उसे अन्य देवताओं के प्रति आसक्ति नहीं होती है।

विशेष :—संभवत: किसी सगुणवादी का निर्गुण ब्रह्म के विषय में निषेधात्मक कथन है।

अलङ्कार :—अनुप्रास तथा अन्योक्ति।

जनमु जलधि, पानिपु विमलु, भौ जग आघु अपारु।
रहै गुनी ह्वै गर पर्‌यौ, भलैं न मुकता-हारु ॥१५१॥

शब्दार्थ :—पानिपु = आभा, आघु = मूल्य, गुनी = डोरी में बंधा।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि किसी ऐसे गुणी व्यक्ति के विषय में अपने विचार प्रकट कर रहा है जो कि अनुपयुक्त व्यक्तियों के साथ रहता है। अरे मोती, तेरा जन्म सागर में हुआ है। आभा भी तेरी स्वच्छ है। संसार में तेरा मूल्य भी अनन्त है, किन्तु तू डोरी में बंध जाने के कारण किसी (अनुपयुक्त व्यक्ति) के गले में जो जा पड़ा है सो तेरी यह स्थिति भली नहीं है।

अलंकार :—अनुप्रास, अन्योक्ति, तथा मुक्ता में श्लेष मानने से बंध जाने पर विरोधाभास भी है।

गहै न नैकौ गुन-गरबु, हँसौ सबै संसारु।
कुच-उचपद-लालच रहै, गरैं परैं हूँ हारु ॥१५२॥

प्रसंग-भावार्थ :—कवि हार के माध्यम से यह बताना चाहता है कि व्यक्ति

ऊंचे पद पर रहने के लिए बुरी से बुरी बातें भी सुन लेता है। अरे हार तुम्हारे ऊपर समस्त संसार हंसता रहता है फिर भी तुझे अपने गुण का तनिक भी गर्व नहीं होता क्योंकि तुझे किसी कामिनी के वक्षस्थल रूपी उच्च स्थान को पाने का लालच जो बना रहता है।

अलंकार :—रूपक, अन्योक्ति तथा काव्यलिङ्ग।

गढ़ रचना, बरुनी, अलक, चितवनि, भौंह, कमान।

आघु बँकाई हीं चढ़ैं, तरनि, तुरंगम, तान ॥१५३॥

प्रसंग-भावार्थ :—कवि का कथन है कि किले की रचना, बरोनियां, केश, दृष्टि, भ्रू, धनुष, तरुणी, अश्व तथा गीत में जब तक बंकिमता नहीं आती तब तक उनका मूल्य नहीं बढ़ता है।

विशेष :—गीत की बंकिमता से स्वरों के आरोहावरोह का तात्पर्य है।

अलंकार :—दीपक।

कैसैं छोटे नरनु तैं, सरत बड़न कैं काम।

मढ़्यौ दमामा जातु क्यौं, कहि चूहे के चाम ॥१५४॥

शब्दार्थ :— दमामा = नगाड़ा।

प्रसंग-भावार्थ :—बड़े व्यक्तियों के कार्य छोटे व्यक्तियों के द्वारा किस प्रकार पूर्ण किए जा सकते हैं ? तनिक बताओ तो सही, क्या कभी चूहे के चमड़े से नगाड़े को मढ़ा जा सकता है, अर्थात् नहीं।

अलंकार :— अर्थान्तरन्यास।

(नायिका का नखशिख-वर्णन)

पगतलों की लाली का वर्णन—

पग पग मग अगमन परत, चरन अरुन दुति-झूलि।

ठौर ठौर लखियत उठे, दुपहरिया से फूलि ॥१५५॥

शब्दार्थ :—अगमन = आगे, दुपहरिया = वर्षा की दोपहर में खिलने वाला लाल रंग का फूल।

प्रसंग-भावार्थ :—नायक अपने अन्तरंग सखा से नायिका के पगतलों की प्रशंसा करते हुए कहता है कि उसके चलते समय मार्ग में एक पग आगे उसके

पगों की लाली के (असावधानी के कारण तिरछे होने पर) पड़ने से ऐसा लगता है मानों दुपहरिया के फूल खिल रहे हों।

विशेष : - इसी प्रकार का वर्णन तुलसी तथा सूर ने भी प्रकारान्तर से किया है जहाँ राम और कृष्ण के पगों की छाया धरती पर पड़ने से फूलों की सृष्टि होने लगती है।

अलंकार :– उत्प्रेक्षा तथा पुनरुक्ति।

एड़ियों का वर्णन—

कौंहर सी एड़ीनु की, लाली देखि सुभाइ।
पाइ महावरु देइ को, आपु भई बे पाइ ॥१५६॥

शब्दार्थ :– कौंहर = एक लाल रंग का पुष्प, भई बे पाइ = आश्चर्य-चकित रह गई, खो गई।

प्रसंग-भावार्थ :—दूती नायक से नायिका के पैरों की एड़ियों का वर्णन करते हुए कहती है कि जब नाइन ने उसकी एड़ियों में महावर (अलक्तक) लगाते समय उनकी कौहर के फूल जैसी स्वाभाविक अरुणिमा को देखा तो वह आश्चर्य में पड़कर अपना काम भूल गई।

अलंकार :—उपमा तथा यमक।

तुलनात्मक :—"मन्द ही चँपेते इन्द्रवधु के बरन होत,
प्यारी के चरन नवनित हु ते नर में।
सहज ललाई बरनी न जात घासीराम,
चुई सी परत कवि हू की मति भरमैं ॥
एड़ी ठकुराइनि की नाइन गहत जबै,
ईंगुर सौ रंग दौरि आवै दरबर में।
दीयौ है कि दैओ है विचारै सोचै बारबार,
बावरी सी ह्वै रही महावरि लै कर में ॥"

पाइ महावरु दैन कौं, नाइनि बैठी आइ।
फिरि फिरि जानि महावरी, एड़ी मींडति जाइ ॥१५७॥

शब्दार्थ :—महावरी = महावर की गोली, मींड़ति जाइ = मलती जाती है।

प्रसंग-भावार्थ :—दूती नायक से नायिका के पगों की एड़ियों के स्वाभाविक लाल रंग के विषय में कहती है कि नाइन उसके पैरों में महावर लगाने के लिए आकर बैठ गई। नायिका की एड़ियाँ भी महावर की भाँति ही लाल थीं अतः वह भ्रम में पड़कर उसकी एड़ियों को ही महावरी समझ कर बार बार मलती जा रही थी।

विशेष :—ब्रज में अब भी कुलीन परिवारों में नाइन ही स्त्रियों के पैरों में महावर लगाती हैं।

अलंकार—भ्रान्तिमान्।

तुलनात्मक :—न सहेत् करस्पर्शं येनाङ्गं मध्यमं हि तत्।

और भी—

लाक्षां विधातुमवलम्बितमात्रमेव
सख्याः करेण तरुणाम्बुजकोमलेन।
कस्याश्चिदग्रपदमाशु बभूव रक्तं
लाक्षारसः पुनरभून्न तु भूषणाय॥

मुख का वर्णन—

रह्यौ ढीठु ढाढसु गहैं, ससहरि गयौ न सूरु।
मुरयौ न मनु मुरवानु चभि, भौ चूरनु चपि चूरु॥१५८॥

शब्दार्थ :—ससहरि गयौ न = शंकित नहीं हुआ, मरवानु चभि = पैरों के गट्ठों से कुचलकर, चूरनु = चूड़ों से।

प्रसंग-भावार्थ :—नायक सखी से कहता है कि मेरा मन उसके पैरों के गट्ठों से दबकर लौटा नहीं अपितु वह धृष्ट शूर की भाँति वहीं स्थिर बना रहा और शंकित भी नहीं हुआ। वह तो चूड़ों के भार से कुचल कर वहीं चूर-चूर हो गया।

अलंकार :—अनुप्रास।

जंघाओं का वर्णन—

जंघ जुगल लोइन निरे, करे मनौ बिधि मैन।
केलि तरुनु दुख दैन ए केलि तरुन-सुख दैन ॥१५९॥

शब्दार्थ :— जुगल = दोनों, लोइन = लावण्य, निरे = निपट, विधिमैन = कामदेव रूपी ब्रह्मा, केलि तरुनु = कदली के तरुओं को, केलितरुन = केलिविलासी तरुण।

प्रसंग-भावार्थ :- नायक स्वयं नायिका की जंघाओं का वर्णन करता है कि मानों कामदेव रूपी विधाता ने ही इन जंघाओं के युग्म को सौन्दर्य से निर्मित कर दिया है। ये केली के तरुओं को अपने सादृश्य से दुःख देते हैं तो साथ ही केलि-क्रीड़ा-विलासी तरुण नायकों को सुख भी देते हैं।

अलंकार :—अनुप्रास, उत्प्रेक्षा तथा यमक।

कटि का वर्णन—

लगी अनलगी सी जु बिधि, करी खरी कटि खीन।
किए मनौं वें हीं कसर, कुच नितंब अति पीन ॥१६०॥

शब्दार्थ :—लगी = विद्यमान, अनलगी = अविद्यमान, खरी = अत्यन्त, कसर = अभाव, पीन = स्थूल।

प्रसंग-भावार्थ :—दूती नायक से नायिका के कटिदेश की क्षीणता का वर्णन करते हुए कहती है कि विधाता ने उसे ऐसी क्षीणता दी है कि कभी तो वह दीख पड़ती है और कभी अविद्यमान सी हो जाती है। ऐसा ज्ञात होता है मानों उसी अभाव की पूर्त्ति उसने कुचस्थलों तथा जघनस्थलों की स्थूलता में करदी है।

अलंकार :—असिद्धास्पद हेतूत्प्रेक्षा।

द्रष्टव्य :—"कटि कौ कंचन काटि कर कुचनि मध्य धरि दीनु।"

ज्यौं ज्यौं जोवन-जेठ दिन, कुचमिति अति अधिकाति।
त्यौं त्यौं छिन छिन कटि छपा, छीन परति नित जाति ॥१६१॥

शब्दार्थ :—मिति = तिथि-परिसीमा, छपा = रात्रि।

प्रसंग-भावार्थ :—नायक अपने अन्तरंग सखा से नायिका की कटि की क्षीणता के विषय में कहता है कि जैसे जैसे यौवन रूपी ज्येष्ठ मास के कुच रूपी

दिनों की मिति या सीमा अधिक बढ़ती जाती है वैसे ही वैंसे कटि रूपी रात्रि एक एक क्षण में नित्यप्रति क्षीण होती जा रही है।

विशेष :—ग्रीष्म ऋतु में दिन बड़े और रातें छोटी हो जाती हैं।

अलंकार :– अनुप्रास, श्लेष तथा साङ्गरूपक।

कुच वर्णन—

चलन न पावतु निगम-मगु, जगु उपज्यौ अतित्रासु।
कुच उतुंग गिरिबर गह्यौ, मैंना मैंनु मवासु ॥१६२॥

शब्दार्थ :–-निगममगु = वैंदिक मार्ग अथवा वणिक् पथ, त्रासु = भय, मैंना = राजपूताने की लुटेरी जाति, मैंनु = कामदेव, मवासु = आश्रय।

प्रसंगभावार्थ :—दूती नायक से नायिका के कुचों का वर्णन करती है कि उसके कुच रूपी उत्तुङ्ग पर्वतों पर कामदेव रूपी लुटेरे मैंनाओं ने आकर अपना निवास कर लिया है जिससे संसार भर में भय और त्रास उत्पन्न हो गया है। कोई भी उस निगम पथ (वैदिक मार्ग अर्थात् मातृवत्परदारेषु या दुर्गम पथ) पर नहीं चल पा रहा है।

अलंकार :–- श्लेष तथा साङ्गरूपक।

हाथों का वर्णन—

गड़े बड़े छबि-छाक छकि, छिगुनी छोर छुटैं न।
रहे सुरँग रँग रँगि उहीं, नह-दी महदी नैंन ॥१६३॥

शब्दार्थ :—छिगुनी = सबसे छोटी उंगली, सुरंग = लाल, उहीं = वहीं पर, नह-दी = नखों में लगी, छाक = मदिरा।

प्रसंग-भावार्थ :—नायक दूती से नायिका के हाथ की मंहदी लगी हुई कनिष्ठिका अंगुलि का वर्णन करता है कि शोभा की मदिरा से उन्मत्त ये मेरे नेत्र वहीं पर गढ़ गए हैं और किसी प्रकार भी नहीं छूट पाते। उस अंगुली के नख में दी हुई मंहदी के लाल रंग में ये और भी अनुरक्त हो गए हैं।

विशेष :—प्राय: उन्मत्तावस्था में व्यक्ति किसी एक वस्तु को ही टकटकी लगाकर देखता रह जाता है।

अलङ्कार :—यमक, उत्प्रेक्षा तथा रूपक।

मुख तथा हास्य वर्णन—

नैंक हंसौहीं बानि तजि, लख्यौ परतु मुहुँ नीठि।
चौका चमकनि चौंध मैं, परति चौंधि सी दीठि ॥१६४॥

शब्दार्थ :—नैंक=तनिक, हंसौहीं बानि = हंसी की मुद्रा, नीठि = कठिनाई से, चौका-चमकनि = अगले दाँतों की पंक्ति, चौंध = चमक, दीठि = दृष्टि।

प्रसंग-भावार्थ :—नायक नायिका से कहता है कि तुम थोड़ी सी हंसने की मुद्रा छोड़दो क्योंकि मेरी दृष्टि तुम्हारे आगे के दाँतों की चमक के कारण चकाचौंधिया जाती है जिससे तुम्हारा मुख बड़ी कठिनाई से दिखाई पड़ता है।

अलंकार :—काव्यलिङ्ग, अनुप्रास तथा उपमा।

तुलनात्मक—"तैसीयैं जगति जोति सीस सीसफूलन की
चिलकत तिलक तरुनि ! तेरे भाल को।
तैंसीयैं दसनदुति दमकत 'केसौराय'
तैंसोई लसत लाल कएठ कएठमाल को॥
तैंसीयैं चमक चारु चिबुक कपोलन की
झलकत तैंसो नाक मोती चलचाल को।
हरे हरे हंसि नैंक चतुर चपलनैंन
चित चकचौंध मेरे मदनगुपाल को॥"
—केशवदास

पत्रा हीं तिथि पाइयैं, बा घर के चहुँ पास।
नित प्रति पून्यौं ही रहै, आनन-ओप उजास ॥१६५॥

शब्दार्थ :—हीं = में ही, पाइयैं = प्राप्त की जा सकती है, ओप = छवि, उजास = आलोक।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका की सखी नायक से उसके मुख की प्रशंसा करती है कि उसका मुख पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान है जिसकी छवि के आलोक में वहाँ नित्यप्रति पूर्णिमा की ही भ्रान्ति बनी रहती है। केवल पत्रा के द्वारा ही वहाँ पर वास्तविक तिथि का ज्ञान हो पाता है।

विशेष:- दूती नायिका के मुखसौन्दर्य की अतिशयता का परिचय देरही है।

अलंकार :—परिसंख्या तथा काव्यलिङ्ग।

तुलनात्मकः—कुहू निसा तिथि पत्र में बाँचन कौं रहि जाइ।
तव मुख ससि की चाँदनी उदै करत है आइ॥
—रतनहज़ारा

सूर उदित हूँ मुदित मन, मुख सुषमा की ओर।
चितै रहत चहुँ ओर तैं, निहचल चखनु चकोर॥१६६॥

शब्दार्थ :—सूर = सूर्य, हूं = भी, ओर = दिशा-चरमसीमा।

प्रसंगभावार्थ :—दूती नायक से नायिका की मुखच्छवि का वर्णन करते हुए कहती है कि सूर्य के उदित हो जाने पर भी प्रसन्न मन से चकोर अपलक दृष्टि से, चारों ओर से दृष्टि फिराकर, उसके (नायिका के) उस मुख की ओर देखता रहता है जो कि सौन्दर्य की चरमसीमा है।

अलंकार :—भ्रान्तिमान तथा श्लेष।

डिठौने का वर्णन—

लौने मुँहु दीठि न लगै यौं कहि दीनौ ईठि।
दूनी ह्वै लागन लगी, दिऐं दिठौना दीठि॥१६७॥

शब्दार्थ :—लौने = लावण्यमय, दीठि न लगै = नजर न लग जाए, ईठि = हितकारिणी।

प्रसंगभावार्थ :—एक सखी दूसरी से कहती है कि नायिका के मुख पर उसकी सखी ने इसलिए दिठौना लगा दिया कि कहीं किसी की नजर न लग जाए परन्तु उस दिठौने के लगाते ही उसकी शोभा और दुगनी होकर दिखाई पड़ने लगी।

अलंकार : –विषम।

पिय तिय सौं हँसि कैं कह्यौ लखैं दिठौना दीन।
चंदमुखी मुखचंदु तैं भलौ चंदसमु कीन॥१६८॥

शब्दार्थ :—पिय = प्रियतम, तियसौं = प्रेमिका से, दीन = देने पर।

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी दूसरी से कहती है कि नायक ने नायिका के मुख पर लगे हुए दिठौने को देख कर हंसते हुए कहा कि हे चन्द्रमुखी अब तो इस दिठौने के लगा देने पर तुम्हारा मुख पूर्णतः चन्द्रमा के समान दिखाई पड़ने लगा है।

अलंकार :—व्यतिरेक तथा रूपक।

चिबुक का वर्णन—

तो लखि भो मन जो लही, सो गति कही न जाति।

ठोड़ी गाड़ गड़्यौ तऊ, उड़्यौ रहै दिन राति ॥१६९॥

शब्दार्थ :—ठोड़ी = चिबुक, गाड़ = गड्ढा, उड़्यौ रहै = चंचल बना रहता है।

प्रसंग-भावार्थ :—नायक नायिका की चिवुक का वर्णन करता है कि तुझे देख कर मेरे मन की जो दशा हो गई है वह कहते नहीं बनती। यद्यपि वह तुम्हारे चिवुक रूपी गड्ढे में जाकर गड़ गया है तथापि रात दिन उड़ता रहता है। अब वह ठिकाने पर नहीं रहा है।

अलंकार :—रूपक तथा विरोधाभास।

ललित स्याम लीला, ललन, बढ़ी चिबुक छबि दून।

मधु छाक्यौ मधुकरु पर्यौ मनौ गुलाब प्रसून ॥१७०॥

शब्दार्थ :—लीला = नीले रंग का गोदना, ललन = प्रेम का सम्बोधन।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका की सखी नायक से कहती है कि उसने (नायिका ने) अपनी ठोड़ी पर जब से सुन्दर श्याम गुदा लिया है तब से उसकी छवि और भी दुगनी हो गई है। उसे देख कर ऐसा लगता है मानों मकरन्द गन्ध से छका हुआ कोई भ्रमर किसी गुलाब के फूल पर पड़ा हुआ हो।

अलंकार :—उक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षा।

डारे ठोड़ी-गाड़, गहि, नैन बटोही, मारि।

चिलक चौंध में रूप-ठग, हाँसी- फाँसी डारि ॥१७१॥

शब्दार्थ :—बटोही = यात्री, मारि = मारकर, चिलक चौंध = छवि रूपी चकाचौंध।

प्रसंगभावार्थ :—नायक स्वयं नायिका की चिबुक का वर्णन करता है कि मेरे नेत्र रूपी बटोही उसकी छवि की चकाचौंध को ही भोर का प्रकाश समझकर मार्ग में अंधेरे ही चल पड़े थे। रूप रूपी ठग ने पकड़ कर उन्हें मधुर हास रूपी फाँसी लगा कर मार दिया और फिर चिबुक रूपी गड्ढे में जाकर डाल दिया।

विशेष :—प्राय: यात्री रात के अंतिम प्रहर की बेला में सबेरा समीप ही जान कर चल पड़ते हैं किन्तु मार्ग में ठग उन्हें लूट कर मार डालते हैं।

अलंकार :—साङ्गरूपक ।

कुच गिरि चढ़ि, अति थकित ह्वै, चली डीठि मुँह चाड़।
फिरि न टरी परियै रही, गिरी चिबुक की गाड़ ॥१७२॥

शब्दार्थ :—थकित = थकी, चाड़ = लालच ।

प्रसंग-भावार्थ :—नायक नायिका की चिबुक का स्वगत वर्णन करता है कि मेरी दृष्टि कुचों की पहाड़ी पर चढ़ कर अत्यंत थकित होकर, मुख की चाह करके उधर (उन्मुख) की ओर चल पड़ी किन्तु बीच में ही वह चिबुक के गड्ढे में जा गिरी और वहाँ से फिर टल नहीं सकी ।

विशेष :—अन्य अंगों की छवि की अपेक्षा चिबुक के गड्ढे में ही (यहाँ पर) अधिक सौन्दर्य दिखाया गया है ।

अलंकार :—साङ्गरूपक तथा दृष्टि में मानवीकरण ।

अधरों का वर्णन :—

सुदुति दुराई दुरति नहिं, प्रगट करति रति-रूप ।
छुटै पीक, औरै उठी, लाली अधर अनूप ॥१७३॥

शब्दार्थ :—दुराए = छिपाने पर ।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका के अधरों पर नायक के चुम्बित अधरों की लाली को देख कर उसकी सखी कहती है कि सुन्दर शोभा छिपाने पर छिप नहीं सकती । देखो इस पीक के छूटने पर, जोकि तुम्हारी नायक के साथ हुई रति को प्रकट करती है, अधरों की लाली अनुपम ही हो उठी है ।

अलंकार :—भेदकातिशयोक्ति ।

बेसरि-मोती, धनि तुहीं, को बूझै कुल, जाति ।
पीबौ करि तिय ओठ कौ, रसु निधरक दिन राति ॥१७४॥

प्रसंग-भावार्थ :—नायक, नायिका की नाक के बेसर के मोती को देख कर कहता है कि तेरा जन्म धन्य हो गया । कौन तेरे कुल और जाति को पूछने वाला है ? अब तू निर्भीक होकर रात दिन नायिका के अधर-रस का पान कर ।

विशेष :—मोती का जन्म सीप से होता है जो कि अत्यंत तुच्छ मानी गई है। इसका अन्योक्तिपरक अर्थ भी लगाया जा सकता है।

अलंकार :—व्याजस्तुति।

श्रवणों का वर्णन :—

लसत सेत सारी ढक्यौ, तरल तर्यौना कान।
पर्‌यौ मनौं सुरसरि सलिल, रवि प्रतिबिम्बु बिहान ॥१७५॥

शब्दार्थ :—सेत सारी = श्वेत साड़ी, तर्‌यौना = एक कर्णाभूषण, बिहान = प्रात: काल।

प्रसंग-भावार्थ :—नायक नायिका के कान में लगे हुए चंचल तर्‌यौने को श्वेत रंग की साड़ी में ढका होने से शोभित होता हुआ देख कर कह रहा है मानों गंगा के शुभ्र जल में प्रात:कालीन सूर्य का प्रतिबिम्व गिर रहा हो।

अलंकार :—उक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षा।

कपोलों का वर्णन—

बरन बास सुकुमारता, सब बिधि रही समाइ।
पँखुरी लगी गुलाब की, गाल न जानी जाइ ॥१७६॥

शब्दार्थ :—बरन = वर्ण, वास = गन्ध, विधि = प्रकार।

प्रसंग-भावार्थ :—नायक नायिका के गाल पर चिपकी हुई एक गुलाब की पंखुरी को देख कर मन ही मन कह उठता है कि इसके कपोल और पाटल की पंखुरी के रंग-गंध तथा सुकुमारता आदि सभी एक से हैं; अत: यह इस प्रकार उसके कपोलों में जाकर बस गई है कि दोनों में भेद नहीं किया जा सकता।

अलंकार :—मीलित।

नासिका का वर्णन—

बेधक अनियारे नयन, बेधत करि न निषेधु।
बरवट बेधतु मो हियौ, तो नासा कौ बेधु ॥१७७॥

शब्दार्थ :—बेधक = बेधने वाले, अनियारे = नुकीले, निषेधु = निषेध, बरवट = बरबस ही, बेधु = रन्ध्र।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका के सर्वाङ्गरूप पर आसक्त नायक कहता है कि तेरे ये नुकीले नेत्र तो बड़े बेधक हैं अतः वह कोई निषेध-कार्य नहीं कर रहे हैं। उनके लिए तो यह स्वाभाविक ही है। फिर भी तेरी नासिका का रन्ध्र तो बरबस ही मेरे मन को वेधे डाल रहा है।

अलंकार :—विभावना।

जटित नीलमनि जगमगति, सींक सुहाई नाँक।
मनौं अली चम्पक कली, बसि रसु लेत निसाँक॥१७८॥

शब्दार्थ :—सींक = नासिका का एक आभूषण, निसाँक = निःसंकोच।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका की नासिका के सींक नामक आभूषण को देख कर नायक स्वयं ही कह उठता है कि नीलम मणि से जटित सींक उसकी नाक में इस प्रकार सुशोभित हो रही है मानो भ्रमर निःसंकोच हो कर चम्पक-कलिका पर बैठा-बैठा रसपान कर रहा हो।

विशेष :—यह लोकविज्ञात सत्य है कि भ्रमर चम्पा की कली पर उसकी गंध की अतिशय तीव्रता के कारण नहीं जाता परंतु यहाँ नासिका रूपी चम्पा की कली इतनी अधिक सुन्दर है कि भ्रमर वहाँ स्वतः ही खिचा चला जाता है।

अलंकार :—उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा।

बेसरि मोती-दुति-झलक, परी ओठ पर आइ।
चूनौं होइ न चतुर तिय, क्यौं पट पौंछ्यौ जाइ॥१७९॥

शब्दार्थ :—चूनौ = चूना, पट = अंचल।

सखी वचन नायक के प्रति :—

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका की नासिका में लटका हुआ बेसर उसके गुलाबी होठों पर प्रतिबिम्बित हो रहा है जिसकी छवि को देख कर उसे भ्रम हो जाता है कि कहीं उसके अधरों पर चूना तो नहीं लगा रह गया। इसी भ्रम में पड़कर वह उसे बार बार अपने अंचल की कोर से पौंछ रही है।

अलंकार :—भ्रम तथा अपह्नुति।

इहिं द्वै हीं मोती सुगथ, तू नथ गरबि निसाँक।
जिहिं पहिरैं जग दृग ग्रसति, लसति हँसति सी नाँक ॥१८०॥

शब्दार्थ :—सुगथ = सुन्दर गाथा वाले अर्थात् सुन्दर, गरवि = गर्व कर, ग्रसति = लगाते हुए।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—नायक नायिका की नथ को सम्बोधित करते हुए कहता है कि तू इन दो ही मोतियों पर विना किसी संकोच के गर्व कर ले। तू इतनी सुन्दर है कि (नायिका की) नासिका तुझे ग्रहण करके कभी शोभित होकर और कभी मुस्करा-मुस्करा कर संसार भर के नेत्रों को अपनी ओर आकर्षित कर लेती है।

विशेष:—इस दोहे में विच्छिति हाव तथा गर्व संचारी का वर्णन भी किया है।

अलंकार :—अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा।

जदपि लौंग ललितौ तऊ, तू न पहिरि इक आँक।
सदा साँक बढ़ियै रहै, रहै चढ़ी सी नाँक ॥१८१॥

शब्दार्थ :—लौंग = नासिका का एक आभूषण, इक आँक = निश्चय ही, साँक = शंका।

प्रसंग-भावार्थ :—शठ नायक के प्रति क्रोध दिखाने के लिए नायिका ने नाक में लौंग पहन ली है। नायक उसे देख कर वास्तविकता (नायिका के कोप) को छिपाकर मानभरे स्वर में कहता है कि यद्यपि यह लवंग भी अत्यंत सुन्दर है फिर भी तुम इसे पहनने का निश्चय मत करो। इससे तुम्हारी नाक सदा उठी उठी सी दीख पड़ने से मुझे शंका बनी रहती है कि तुम अकारण ही कोप कर रही हो।

विशेष :—कोप में आभूषणों का त्यागना प्रसिद्ध ही है। नासिका में सदा आभूषण रखना सौभाग्य का चिह्न माना जाता है अत: नायिका क्रोधवश यदि लौंग को उतारना भी चाहे तो सौभाग्य-चिह्न होने के कारण उसे अपनी नाक से उतार भी नहीं सकती।

अलंकार :—लेश।

नयनों का वर्णन—

अर तैं टरत न बर-परे, दई मरुक मनु मैन।

होड़ाहोड़ी बढ़ि चले चितु, चतुराई, नैन ॥१८२॥

शब्दार्थ :—अर = अड़ना, बर परे = बलवान हो गए, मरुक = बढ़ावा।

प्रसंग-भावार्थ :—दूती नायिका के विषय में नायक से कहती है कि उसके चित्त, चातुर्य और नेत्रों में परस्पर प्रतिद्वन्दिता चल रही है कि कौन अधिक बढ़ जाए। वे इस प्रतियोगिता में कामदेव से बढ़ावा पाकर और अधिक अड़ गए हैं।

विशेष :—यौवन आने पर चित्त, चतुराई और नेत्रों का बढ़ना स्वाभाविक ही है।

अलंकार :—असिद्धास्पद हेतूत्प्रेक्षा तथा मानवीकरण।

औरे-ओप कनीनिकनु, गनी धनी सिरताज।

मनी धनी के नेह की, बनीं छनीं पट लाज ॥१८३॥

शब्दार्थ :—औरै ओप = और ही प्रकाश, कनी निकनु = नेत्रों की पुतली, गनी = मानी गई है। धनी सिरताज = सपत्नियों में श्रेष्ठ, मनी = मणियाँ, धनी = पति, छनी = आच्छन्न।

प्रसंग-भावार्थ :—दूती नायक से नायिका की पुतलियों का वर्णन करते हुए कहती है कि उनकी छवि तो कुछ और ही है जिसके कारण वह सपत्नियों में श्रेष्ठ मानी जाती है। नेत्रों के भीतर वे पुतलियाँ लज्जा रूपी वस्त्र से ढकी हुई (पति के प्रति) प्रेम रूपी मणियाँ हैं।

विशेष :—कनीनिकाओं को लज्जा रूपी वस्त्र से आच्छन्न कह कर कवि ने उनका सौन्दर्य और अधिक बढ़ा दिया है जिससे नायक उसकी ओर बरबस ही आकर्षित हो सके।

अलंकार :—अतिशयोक्ति, स्वभावोक्ति तथा रूपक।

जोग जुगति सिखए सबै, मनौ महामुनि मैन।

चाहत पिय अद्वैतता, काननु सेवत नैन ॥१८४॥

शब्दार्थ :—जोग = योग, संयोग, अद्वैतता = जीवब्रह्मैक्य, सब काल

के लिए एक हो जाना, काननु सेवत = कानों तक आयत, वन में सेवन (तपश्चर्या) करने वाले।

प्रसंग-भावार्थ :—सखियाँ नायिका के नेत्रों की आयतता देख कर कहती हैं कि तेरे नेत्र कामदेव रूपी महामुनि से योग की युक्ति (प्रियतम से मिलन तथा जीव ब्रह्मैक्य का सिद्धान्त) सीख कर प्रिय से अद्वैतता (चिर संयोग, जीवन्मुक्त होकर ब्रह्मस्थ होना) करने की इच्छा रख कर कानन सेवी (कानों तक आयामित, वन में सेवन करने का भाव) हो गए हैं।

विशेष :—समस्त भारतीय आस्तिक दर्शनों की चरम परिणति जीवात्मा तथा ब्रह्म की अद्वैतोन्मुखता में जाकर होती है। वेदान्त, मीमांसा, योग तथा सांख्य (सांख्य को कुछ सेश्वर और कुछ अनीश्वरवादी दर्शन भी मानते हैं) आदि में भी माया (प्रकृति) का खण्डन तथा नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त चिन्मय आत्मा अथवा पुरुष का ब्रह्म के साथ अयुतसिद्धत्व दिखाया गया है। माया तो निमित्त है।

अलंकार :—श्लेष, रूपक तथा उत्प्रेक्षा।

कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत, खिलत, लजियात।
भरे भौन में करत हैं, नैननु ही सब बात ॥१८५॥

शब्दार्थ :—नटत = अस्वीकार करना, खिझत = खीझ उठना, खिलत = प्रसन्न होना।

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि नायक तथा नायिका भरे भवन के भीतर ही सब व्यक्तियों के सम्मुख नेत्रों के संकेत से ही सब बातें कर रहे हैं। नायक के प्रस्ताव (अभिसार) पर नायिका स्वीकृति नहीं देती इस पर नायक रीझ उठता है तो उसे (नायिका) और भी खीझ होने लगती है फिर दोनों के नेत्र मिलते हैं तो वे प्रसन्न हो जाते हैं और सभी व्यक्तियों को समीप देख कर लज्जित होने लगते हैं।

विशेष :—बिहारी की समाहार शक्ति, थोड़े में बहुत कुछ कह देने की विशेषता, के लिए प्रस्तुत दोहा एक उदाहरण है। अनुभावों की व्यंजना में वे अत्यंत कुशल हैं।

अलंकार :—दीपक, विभावना तथा अनुप्रास।

खेलन सिखए, अलि भलैं, चतुर अहेरी मार।
कानन चारी नैन-मृग, नागर नरनु सिकार ॥१८६॥

शब्दार्थ :—अहेरी = आखेटी, काननचारी = कानों तक आयात, कानन में विचरण करने वाले, नागर = चतुर-नागरिक, मार = कामदेव।

प्रसंग-भावार्थ :—कोई सखी नायिका से कहती है कि चतुर अहेरी कामदेव ने तेरे अत्यन्त आयताकार नेत्र रूपी मृगों को चतुर नागरिकों की शिकार करना भली प्रकार सिखा दिया है।

विशेष :—कवि ने नायिका के नेत्रों में अद्भुत आकर्षण की सृष्टि की है क्योंकि अकेला नायक ही नहीं अपितु अन्य अनेक चतुर नागरिक भी उसके शिकार बन जाते हैं।

अलंकार :—रूपक, श्लेष, अद्भुत तथा अनुप्रास।

तुलनात्मक :—

प्रेम अहेरी की अरे, यह अदभुत गति हेर।
कीने दृग मृग मीत के मन चीतें पर सेर॥

--रतनहज़ारा

रस-सिंगारु मंजनु किए, कंजनु भंजनु दैन।
अंजनु रंजनु हूँ बिना खंजनु गंजनु नैन ॥१८७॥

शब्दार्थ :—रस सिंगारु मंजनु किए=शृङ्गार रूपी रस में निमग्न, कंजनु= कमलों को, भंजनु = भग्न करना, रंजनु = रंजित करना, गंजनु = तिरस्कार।

प्रसंग-भावार्थ :—नायक स्वयं नायिका के नेत्रों की प्रशंसा कर रहा है कि शृंगार रस में निमग्न अर्थात् कटाक्षादि कलाओं में दक्ष ये तेरे नेत्र-कमल पुष्पों का भी तिरस्कार करने वाले हैं। अपनी नैसर्गिक श्यामलता के कारण बिना अंजन का प्रयोग किए हुए भी ये खंजन पक्षी का अपमान करने वाले हो गए हैं।

विशेष :- खंजन पक्षी श्याम रंग का होता है तथा अपनी स्वाभाविक चंचलता के लिए भी लोकप्रसिद्ध है।

अलंकार :—श्लेष, प्रतीप तथा अनुप्रास।

सायक-सम मायक नयन, रँगे त्रिविध रँग गात।

झखौ बिलखि दुरि जात जल, लखि जलजात लजात ॥१८८॥

शब्दार्थ :—सायक सम = सांध्यकाल के समान, मायक = मायावी, त्रिविध रँग = श्वेत-श्माम और लाल, झखौ = मछली भी, जलजात = कमल।

प्रसंग-भावार्थ :—नायक नायिका से स्वयं कहता है कि तुम्हारे नेत्र सायंकाल के समान माया फैलाने वाले हैं और उनमें श्वेत, श्याम तथा लाल तीनों ही रंग अनुरंजित हैं जिन्हें देख कर मछली जल में जा छिपती है और कमल भी लज्जित हो जाता है।

विशेष :—श्वेत, श्याम तथा अरुण ये तीनों रंग नेत्रों में होते हैं तथा संध्या में अन्धकार (श्याम) सूर्यास्त की किरणें (अरुण) और चंद्रोदय का रंग (श्वेत) भी होता है। प्राय: मायावी अपना संमोहन संध्या के समय ही प्रदर्शित करते हैं।

अलंकार :— उपमा, यमक तथा व्यतिरेक।

बर जीते सर मैन के, ऐंसे देखें मैं न।

हरिनी के नैनानु तें, हरि, नीके ए नैन ॥१८९॥

शब्दार्थ :—बर = बलपूर्वक, सर = बाण, मैन = कामदेव, मैं न = मैंने, नहीं, हरिनी के = हिरनी के, हरि = कृष्ण, नीके = भले।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका के नेत्रों की प्रशंसा दूती नायक से करती है कि हे हरि! क्योंकि उसके नेत्रों ने बलपूर्वक कामदेव के बाणों को भी जीत लिया है अत: मैंने ऐसे नेत्र नहीं देखे हैं। उसके ये नेत्र हरिणी के नेत्रों से भी सुन्दर हैं।

अलंकार :—यमक, व्यतिरेक तथा काव्यलिङ्ग।

कंज नयनि मंजनु किए, बैठी ब्यौरति बार।

कच अँगुरी बिच दीठ दै, चितवति नंद कुमार ॥१९०॥

शब्दार्थ :—ब्यौरति = सुलझाती है।

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी दूसरी से कहती है कि वह (नायिका) स्नान करने के बाद बैठी हुई अपने केशों को सुलझा रही है और वह कमलनयनी

बालों तथा उंगलियों के मध्य में दृष्टि डालकर नायक नंदकुमार की ओर देख रही है ।

विशेष :—नायिका की क्रिया-विदग्धता का वर्णन कवि ने यहाँ किया है ।

अलंकार :—पर्यायोक्ति ।

तुलनात्मक :--

चिकुरविसारणतिर्यङ्नतकण्ठी विमुखवृत्तिरपि वाला ।
त्वामियमङ्गुलिकल्पितकचावकाशा विलोकयति ॥

—आर्यासप्तशती

पहुँचति डटि रन-सुभट लौं, रोकि सकैं सब नाँहि ।
लाखनु हूँ की भीर में, आँखि उँहीं चलि जाँहि ॥१९१॥

शब्दार्थ :– डटि = स्थिर हो कर, सुभट = वीर, लौं = समान ।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका के नेत्रों का वर्णन करते हुए, उसकी सखी कहती है कि तेरे ये नेत्र युद्ध के वीर सैनिक के समान ही अपने विजेतव्य (नायक) तक पहुँच कर स्थिर हो जाते हैं । उन्हें सर्वसाधारण रोक नहीं पाते हैं । लाखों व्यक्तियों की भीड़ में ये वहाँ तक चले जाते हैं ।

विशेष :—प्रायः युद्ध में जव कोई वीर किसी विपक्षी को मारने के लिए प्रस्तुत होता है तो वह संग्राम के असंख्य सैनिकों में से भी उसे खोज लेता है तथा अनेक सैनिकों के होते हुए भी उसका वध कर डालता है ।

अलंकार :—पूर्णोपमा, विभावना ।

तुलनात्मक :—

धीर अभय भट भेदिकै, भूरि भरी हू भीर ।
झमकि जुरहिं दृग दुहुनि के, नेकु मुरहिं नहिं बीर ॥

डीठि बरत बाँधी अटनु, चढ़ि धावत न डरात ।
इतहिं उतहिं चित दुहुनु के, नट लौं आवत जात ॥१९२॥

शब्दार्थ :–-डीठि = दृष्टि, बरत = रज्जु, अटनु = अट्टालिकाओं पर ।

प्रसंग-भावार्थ :–-एक सखी दूसरी से कहती है कि नायक तथा नायिका दोनों ने ही अपनी-अपनी अट्टालिकाओं पर चढ़कर दृष्टि रूपी रज्जु को बाँध दिया है जिस पर चढ़ने तथा दौड़ने में कोई भय उन्हें नहीं होता है । उन दोनों

के हृदय इस अट्टालिका से उस तक नट के समान आते जाते रहते हैं।

विशेष :—नट का रस्सी बाँधना तथा उसपर निर्भीक होकर चढ़ना-दौड़ना सर्वविदित बात है।

अलंकार :—रूपक तथा उपमा।

लोभ लगे हरि रूप के, करी साँटि जुरि जाइ।
हौं इन बेची बीच हीं, लोइन बड़ी बलाइ ॥१९३॥

शब्दार्थ :—साँटि = साँठ-गाँठ, लोइन = लोचन, बलाइ = पीड़ा।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका अपने नेत्रों के विषय में स्वगत कहती है कि ये हरि के रूप रूपी लोभ में आसक्त होगए हैं और इन्होंने उनसे मिलकर कोई साँठ-गाँठ करली है जिसके कारण मैं तो बीच ही में बिक गई हूँ। सचमुच ये नेत्र बड़ी पीड़ा देने वाले हैं।

विशेष :—वस्तुत: प्रेम तो नेत्रों का नेत्रों से ही होता है। नायक तथा नायिका तो वैसे ही अनुरक्त हो जाते हैं।

अलंकार :—रूपक तथा असंगति।

लीनैं हूँ साहस सहसु, कीनैं जतन हजारु।
लोइन लोइन-सिंधु तन, पैरि न पावत पारु ॥१९४॥

शब्दार्थ :—लीनैं हूँ = धारण करने पर भी, सहसु = सहस्र, लोइन सिंधु तन = शरीर का लावण्यरूपी सिन्धु।

प्रसंग-भावार्थ :—कोई पूर्वानुरक्ता नायिका अपनी सखी से कहती है कि सहस्रों साहस करने पर तथा हजार चेष्टाएं करने पर भी ये मेरे नेत्र उनके (नायक के) शरीर के सौन्दर्य रूपी सागर को पार करके तट तक नहीं पहुँच पाते हैं।

विशेष :—तैरने वाले को साहसी होना आवश्यक है क्योंकि जल में अनेक हिंस्र जीव-जन्तु होते हैं तथा नायिका का लोइनसिंधु पार करना भी सरल कार्य नहीं है। यहाँ समाज में रहने वाले व्यक्तियों से उसे अपनी रक्षा करनी है। सिन्धु से नेत्रों का रूपक इसलिए भी दिया गया है कि दोनों का जल खारी होता है। आँसू खारी होता है।

अलंकार :—यमक, रूपक तथा विशेषोक्ति।

भौंह उँचै आँचरु उलटि, मौरि मोरि मुँह मोरि।

नीठि नीठि भीतर गई, दीठि दीठि सौं जोरि ॥१९५॥

शब्दार्थ :—ऊँचै = ऊँचा करके, मौरि = मस्तक को, नीठि नीठि = कठिनाई से।

प्रसंग-भावार्थ :—नायक दूती से परकीया नायिका के लिए कहता है कि वह अपनी भौंहें ऊँची करती हुई, अंचल को उलटती हुई (जिससे त्रिवली तथा उरोजों को देख कर उद्दीपन हो सके) तथा मस्तक और मुख को बार बार मोड़-मोड़ कर, मेरी दृष्टियों से अपनी दृष्टियाँ जोड़कर वड़ी कठिनता से (क्यों कि नायिका भी नायक पर आसक्त है किन्तु समाज का भय है अतएव अनिच्छा-पूर्वक) भीतर की ओर गई।

अलंकार :—स्वभावोक्ति।

फूले फदकत लै फरी, पल कटाच्छ-करवार।

करत बचावत बिय नयन-पाइक घाइ हजार ॥१९६॥

शब्दार्थ :—फूले = प्रसन्न-विकसित, फदकत = चपल दृष्टि करते हुए-पेंतरे बदलते हुए, बिय = दोनों, पाइक = पैदल सिपाही, घाइ = घात, घाव।

प्रसंग-भावार्थ :—भरे भवन में गुरुजनों के मध्य नायक नायिका दोनों परस्पर नेत्र-संकेत कर रहे हैं। यह देख कर एक सखी दूसरी से कहती है कि दोनों के नेत्ररूपी पैदल सैनिक कटाक्षरूपी खड्ग तथा पलकरूपी ढाल लेकर, प्रसन्नता से फूले हुए पैंतरे बदल-बदल कर अन्योन्य के ऊपर घात-प्रतिघात कर रहे हैं।

विशेष :—सैनिक को आघात करते समय अपनी रक्षा भी करनी पड़ती है। नायक नायिका परस्पर युद्ध करते समय, गुरुजनों की दृष्टि से अपनी रक्षा कर रहे हैं।

अलंकार :—साङ्गरूपक तथा कारकदीपक।

नीचीयै नीची निपट, दीठि कुही लौं दौरि।

उठि ऊँचैं नीचौ दियौ, मनु कुलिगु झपि झौरि ॥१९७॥

शब्दार्थ :—कुही = एक प्रकार का छोटा बाज, कुलिगु = गौरैया।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका स्वयं अपनी सखी से कहती है कि नीचे नीचे चलती हुई उसकी दृष्टि ने सहसा ही ऊपर उठकर नायक के मन को आसक्त कर लिया। जिस प्रकार कुही नामक बाज़ नीचे उड़ता उड़ता सहसा ही गौरैया पर झपट्टा मारता है और उसे झकझोर डालता है वैसे ही मेरी (नायिका की) नमित दृष्टि ने नायक के मन पर आक्रमण कर दिया।

विशेष :—बिहारी की सूक्ष्मनिरीक्षण की प्रवृत्ति वस्तुतः अद्वितीय और प्रशंसनीय है।

अलङ्कार :—पूर्णोपमा।

अहे, कहै न कहा कह्यौ, तो सौं नंद किसोर।
बड़बोलो, बलि, होति कत, बड़े दृगनु कैं जोर ॥१९८॥

शब्दार्थ :--वड़ बोली=वड़ी वड़ी बातें करने वाली, कत = क्यों, जोर= वल पाकर।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका की सखी उससे पूछती है कि ओ बढ़ बढ़ कर बातें करने वाली थोड़ा बता न, तुझसे नंदकिशोर ने क्या क्या कहा था ? मैं तुझ पर वलि जाती हूँ। तू अपने नेत्रों की विशालता का वल पाकर मुझ पर मिथ्या कोप मत कर।

विशेष :—क्रोध के क्षण नेत्रों का वड़ा होजाना स्वाभाविक है। नायिका यहाँ भी क्रिया-विदग्धा है।

अलङ्कार :—अनुप्रास।

एँचति सी चितवनि चितै, भई ओट अलसाइ।
फिरि उझकनि कौं मृगनयनि, दृगनि लगनिया लाइ॥१९९॥

शब्दार्थ :—एंचति = खींचती हुई, चितै = देखकर, उझकनि = झाँकना, लगनियाँ = लगना।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका नायक की ओर दृष्टि डाल कर चली गई है। उसी के प्रभाव को वह अपने अन्तरंग मित्र से कहता है कि वह अपनी चितवन से देखकर, जो कि मुझे आकर्षित-सा कर रही थी, इन नेत्रों में फिर झाँकने की लगन लगाकर अलसतापूर्वक (अंगड़ाई लेते हुए) ओट में चली गई।

विशेष :—नायक इस आशा पर नायिका के द्वार पर खड़ा है कि कदाचित् वह एक बार फिर उसी दृष्टि से उस को देखे ।

अलंकार :—उपमा और उत्प्रेक्षा ।

जदपि चबाइनु चीकनी, चलति चहूँ दिसि सैन ।
तऊ न छाँड़त दुहुनु के, हँसी रसीले नैन ॥२००॥

शब्दार्थ :—चबाइनु = प्रेम के भाव से, चीकनी = स्निग्ध, सैन = नेत्र-संकेत ।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—नायक-नायिका का प्रेम सब पर प्रकट होगया है । इसी विषय पर एक सखी दूसरी से कहती है कि यद्यपि प्रेम से भरी हुई अतएव सुस्निग्ध आँखों के संकेत चारों ओर चलते हैं फिर भी दोनों के प्रेमरसपूर्ण नेत्र मधुर-मधुर हास्य की स्वाभाविक वृत्ति को नहीं छोड़ पाते हैं ।

अलंकार :—विशेषोक्ति ।

तुलनात्मक :—धरहाइन चरचैं चलैं, चातुर चाइन सैन ।
तदपि सनेह सने लगैं, ललकि दुहूं के नैन ॥

झूठे जानि न संग्रहे, मन मुंहु निकसत बैन ।
याही तैं मानों किएँ, बातनु कौं बिधि नैन ॥२०१॥

शब्दार्थ :—संग्रहे = एकत्र किए, याही तैं = इसीलिए ।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि की नेत्रों के विषय में प्रौढ़ोक्ति है कि मुंह से निकली हुई कोई भी वस्तु झूठी (जूठन या मिथ्या) हो जाती है इसीलिए शायद विधाता ने विश्वासपूर्ण बातें करने के लिए ही नेत्रों का निर्माण किया है यही कारण है कि मन ने मुख से निकले शब्दों का तो संग्रह नहीं किया अपितु नेत्रों के द्वारा संकेतित भाषा पर ही भरोसा कर लिया ।

अलंकार :—सिद्धास्पद हेतूत्प्रेक्षा ।

दृगनु लगत, बेधत हियहिं, बिकल करत अँग आन ।
ए तेरे सब तैं बिषम, ईछन-तीछन बान ॥२०२॥

शब्दार्थ :—दृगनु = नेत्रों में, बेधत हियहिं = हृदय को बेधते हैं, ईछन = नेत्र ।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका की अन्तरंग सखी उसके नेत्रों की प्रशंसा में कहती है कि तेरे ये नेत्र रूपी तीक्ष्ण बाण वस्तुत: बड़े विषम हैं। ये लगते तो नेत्रों में हैं किन्तु इनसे हृदय विद्ध हो जाता है और फिर अन्य अंगों में विकलता होने लगती है।

विशेष :—सामान्यत: बाण जिस अंग में प्रविष्ट होता है उसी को ही विद्ध करता है परन्तु नेत्र रूपी बाण प्रत्यंगवेधक हैं।

अलंकार :—रूपक, असंगति तथा काव्यलिङ्ग।

तिय, कित कमनैंती पढ़ी, बिनु जिहि भौंह कमान।
चलचित-बेझैं चुकति नहिं, बंक बिलोकनि बान ॥२०३॥

शब्दार्थ :—तिय = नारि, कमनैंती = धनुर्विद्या, जिहि = ज्या, बेझैं = बेधने पर, चुकति नाहिं = समाप्त नहीं होती।

प्रसंग-भावार्थ :—नायक नायिका के नेत्रों की प्रशंसा करते हुए उससे कहता है, हे तिय(स्त्री)तुमने यह धनुर्विद्या कहाँ से सीख ली है, जो तुम विना ज्या (कोटि) की भौंह रूपी कमान से और बंकिम दृष्टि रूपी तीरों से चंचल चित्तों को बेधते-बेधते कभी रुकतीं ही नहीं।

विशेष :—साधारण धनुष में तो कोटि का होना आवश्यक है। दूसरे तिर्यक् बाण कभी अपने लक्ष्य पर नहीं पहुँचता। यहाँ दोनों में से एक भी बात नहीं है। इसीलिए यह धनुर्विद्या बड़ी अद्भुत है।

अलंकार :—रूपक तथा विभावना।

तुलनात्मक :—"मुग्धे ! धानुष्कता केयमपूर्वा त्वयि दृश्यते।
यया विध्यसि चेतांसि गुणैरेव न सायकै : ॥"

अथवा :— "खता करते हैं टेढ़े तीर यह कहने की बातें हैं।
वो देखें तिरछी नजरों से ये सीधे दिल पै आते हैं॥"

लागत कुटिल कटाच्छ-सर, क्यों न होंहि बेहाल।
कढ़त जि हियहिं दुसाल करि, तऊ रहत नटसाल ॥२०४॥

शब्दार्थ :—लागत = लगते ही, सर = बाण, बेहाल = मूर्च्छित, जि = जो, दुसाल = आरपार, दो टुकड़े; नटसाल = बाण की नोंक, जो चुभी रह जाती है।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—दूती नायिका के नेत्रों की प्रशंसा करते हुए नायक की दशा का वर्णन करती है कि तेरे कुटिल कटाक्ष रूपी तीरों से विद्ध होकर वह (नायक) क्यों न मूर्च्छित हो जाए ? ये बाण हृदय के, आरपार होकर, दो टुकड़े कर देते हैं फिर भी इनकी नौंक मन में सदा चुभती रहती है।

विशेष :—सामान्य बाण तो शरीर के आरपार होकर निकल जाता है, उसकी नोंक भी नहीं रहती परन्तु कटाक्षबाण वेधने के पश्चात् भी पीड़ित करते रहते हैं।

अलंकार :—विरोधाभास, काव्यलिङ्ग और व्यतिरेक।

तच्यौ आँच अब बिरह की, रह्यौ प्रेम-रस भींजि।
नैनन् के मगु जलु बहै, हियौ पसीजि पसीजि ॥२०५॥

शब्दार्थ :—तच्यौ = तप्त होकर, रस = जल, पसीजि पसीजि = पिघल-पिघल कर।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका की सखी नायक से जाकर कहती है कि अब विरह की ज्वाला में तप्त होकर तथा प्रेम रस रूपी जल से सिक्त होकर नेत्रों के मार्ग से उसका हृदय जल बन बन कर पिघल रहा है।

अलंकार :—साङ्गरूपक।

तुलनात्मक :—"अनुदिनमतितीव्रं रोदिषीति त्वमुच्चैः
सखि ! किल कुरुषे त्वं वाच्यतां मे मुधैव।
हृदयमिदमनङ्गाङ्गार सङ्गाद्विलीय
प्रसरति बहिरम्भः सुस्थिते ! नैतदश्रु ॥"

और भी :— "अङ्गानि मे दहतु कान्तवियोगवह्निः
संरक्ष्यतां प्रियतमो हृदि वर्त्तते यः।
इत्याशया शशिमुखी गलदश्रुबिन्दु-
धाराभिरुष्णमभिषिञ्चति हृत्प्रदेशम् ॥"

तथा :— "च मे पुर्सी ज़ हाले मा दिले ग़मदीदाअत चूं शुद।
दिलम् शुद खूंनों, खूं शुद आवो आब अज़ चश्म बेरूं शुद।"

छुटै न लाज, न लालचौ, प्यौ लखि नैहर-गेह।
सटपटात लोचन खरे भरे, सकोच, सनेह ॥२०६॥

शब्दार्थ :—लालचौ = लालच ही, प्यौ = प्रियतम, नैहर-गेह = माँ-बाप के घर, सटपटात = सिटपिटा रहे हैं।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका अपने माँ बाप के घर है। इसी समय नायक भी आया हुआ है। वह उसे देखना चाहती है। यही देख कर उसकी एक सखी दूसरी से कहती है कि नायक को देखने पर न तो नायिका की लाज ही दूर हो पारही है और न उसकी ओर देखने का लोभ ही। संकोच और स्नेह से भरे हुए उसके नेत्र बार बार सिटपिटा रहे हैं।

अलंकार :—पर्याय।

करे चाह सौं चुटकि कै, खरे उड़ौंहे मैन।
लाज नबाएँ तरफरत, करत खूँद सी नैन ॥२०७॥

शब्दार्थ :—चुटकि कै = चुटकियाँ देदेकर, खरे उड़ौंहे = खूब उड़ाने वाले, नबाएँ = झुके, तरफरत = छटपटाते हैं, खूँद = पैरों के खुरों से धूल उड़ाना।

प्रसंग-भावार्थ :—मध्या नायिका के नेत्र रह-रह कर नायक को देखना चाहते हैं परन्तु संकोचवश वे फिर नमित हो जाते हैं। यह देख कर उसकी सखी दूसरी सखी से कहती है कि चाह रूपी चुटकी के दिए जाने पर, खूब उड़ाने वाले कामदेव रूपी अश्वारोही से प्रेरित, तीव्र दौड़ के लिए उद्यत उसके नेत्र रूपी तुरंग लज्जा रूपी वल्गा से नमित किए जाने पर (रोक दिए जाने पर) उसी स्थान पर खूँद किए दे रहे हैं।

विशेष :- घोड़ा कहीं जा नहीं पाता तब बार बार हिनहिनाकर एक ही स्थान पर अपने पैर पटक पटक कर खूँद मचा देता है।

अलंकार :—सांगरूपक।

चमचमात चंचल नयन, बिच घूँघट-पट झीन।
मानहुँ सुरसरिता विमल, जल उछरत जुगमीन ॥२०८॥

शब्दार्थ :—चमचमात = चमकते हैं, झीन = महीन, सुरसरिता = गंगा, जुग = युगल।

प्रसङ्गभावार्थ :—नायक अपने अंतरंग सखा से नायिका के नेत्रों का वर्णन करता है कि घूंघट के झीने पट में होकर उसके चंचल नेत्र जब चमकते

हैं तो लगता है मानों गंगाजी के शुभ्र स्वच्छ जल में दो मछलियाँ उछल-कूद कर रही हैं।

विशेष :—घूंघट की गंगाजल तथा नेत्रों की मछलियों से उपमा देकर कवि ने नायिका के चरित्र की पवित्रता और साथ ही चंचलता का आभास करा दिया है।

अलङ्कार :—अनुप्रास तथा उत्प्रेक्षा।

फिरि फिर दौरत देखियत, निचले नैंक रहें न।
ए कजरारे कौन पर, करत कजाकी नैंन ॥२०९॥

शब्दार्थ :—निचले = झुककर, कजरारे = काजल से युक्त, कजाकी = क़ज्ज़ाक-डाकू।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका बार बार नायक को खोज रही है। सखी यह देख कर उससे जानबूझ कर पूछ बैठती है कि ये नेत्र फिर फिर दौड़कर, तनिक भी झुके हुए न रहकर अर्थात् एकटक होकर, काजल से भरे हुए, क़ज्ज़ाक डाकुओं की तरह किस को खोज रहे हैं ?

अलंकार :— अनुप्रास तथा उपमा।

सटपटाति सैं ससिमुखी, मुख घूँघट-पटु ढाँकि।
पावक झर सी झमकि कैं, गई झरोखा झाँकि ॥२१०॥

शब्दार्थ :—सैं = सी, झर = लपट, झमकि कैं = चमक कर।

प्रसंग-भावार्थ :—नायक अपने सखा से नायिका की दृष्टि का वर्णन करता है कि वह चन्द्रमुखी नायिका, डरती हुई-सी, मुख को अंचल की ओट में किए हुए झरोखे से झाँक कर वैसे ही चली गई जैसे कि आग की लपट किंचित् क्षण के लिए चमक कर फिर अदृश्य हो जाती है।

अलंकार :—उपमा तथा रूपक।

दूर्यौ खरे समीप कौ, लेत मानि मनु मोदु।
होत दुहूँ के दृगनु हीं, बतरसु, हँसी-बिनोदु ॥२११॥

शब्दार्थ :—दूर्यौ = दूर होने पर भी, खरे = सर्वथा, बतरस = बातचीत रूपी रस।

प्रसंग-भावार्थ :—नायक, नायिका दोनों ही नेत्रों के साधन से दूरी को निकटता में बदल लेते हैं, यह देख कर एक सखी दूसरी से कह रही है कि दूर खड़े होने पर भी मन में वे अत्यंत सामीप्य का हर्ष मान लेते हैं और नेत्रों के द्वारा ही वार्तालाप का रस तथा विनोद परिहास कर लेते हैं।

अलंकार :—विभावना तथा काव्यलिङ्ग।

गड़ी कुटुम की भीर में, रहो बैठि दै पीठि।
तऊ पलकु परि जाति इत, सलज, हँसौंही डीठि॥२१२॥

शब्दार्थ :—गड़ी = घिरी हुई, दै पीठि = पीठ फेर कर, हसौंही डीठि = स्मित दृष्टि।

प्रसंग-भावार्थ :—सखी का वचन सखी के प्रति—परिवार की भीड़ होने के कारण नायिका नायक को देख कर पीठ फेर कर बैठ जाती है किन्तु फिर भी उसकी लज्जामिश्रित स्मित-दृष्टि का परिचय उसके पलट कर देखते समय पलकों के गिरने से मिल जाता है।

अलंकार :—अनुप्रास तथा विभावना।

नैन तुरंगम अलक छबि, छरी लगी जिहि आइ।
तिहिं चढ़ि मनु चंचलु भयौ, मति दीनी बिसराइ॥२१३॥

शब्दार्थ :—तुरंगम = अश्व, छरी = छड़ी।

प्रसंग-भावार्थ :—नायक दूती से नायिका के नेत्रों के विषय में कहता है कि उसकी अलकछवि रूपी छड़ी के द्वारा प्रेरित किए गए नेत्र रूपी तुरंग पर चढ़ कर मेरा मन चंचल हो गया और तबसे अपनी सुधि-बुधि भी भूल गया है।

अलङ्कार :—रूपक।

खरी भीर हू बेधि कै, कितहू ह्वै उत जाइ।
फिरै डीठि जुरि डीठि सौं, सब की डीठि बचाइ॥२१४॥

शब्दार्थ :—खरी = प्रखर, बेधि कैं = चीर कर, डीठि = दृष्टि।

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी दूसरी से कहती है कि प्रखर भीड़ में भी इधर उधर से फिर कर नायक और नायिका की दृष्टि, दूसरों की दृष्टि से बचती हुईं, एक दूसरे से मिल जाती हैं।

अलङ्कार :—विभावना तथा अनुप्रास।

सब ही तनु समुहाति छिनु, चलति सबनु दै पीठि।
वाही तनु ठहराति यहि, किबलनुमाँ-सी डीठि ॥२१५॥

शब्दार्थ :—तनु = ओर, समुहाति = सम्मुख जाती है, किवलनुमाँ = एक ऐसा यंत्र, जिसकी दिशा सदा मक्का की ओर रहती थी।

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी दूसरी से कहती है कि इस की (नायिका की) दृष्टि क्षण भर के लिए सबके सम्मुख होकर, पीठ फेर कर वापस लौट आती है और किब्रलनुमाँ की भाँति फिर नायक की ओर ही जाकर ठहरती है।

विशेष :—किवलनुमाँ मुसलमानी शासनकाल का एक दिग्सूचक यंत्र था।

अलंकार :—उपमा।

तुलनात्मक :—एकैकशो युवजनं विलङ्घ्यमानाक्षनिकरमिव बाला।
विश्राम्यति सुभग त्वामङ्गुलिरासाद्य मेहमिव ॥

और :— निहितान्निहितानुज्झति नियतं मम पार्थिवानपि प्रेम।
भ्रामं भ्रामं तिष्ठति तत्रैव कुलालचक्रमिव ॥

—आर्या सप्तशती

तथा :— अपनौं सौ इन पै जितौ, लाज चलावत जोर।
किवलनुमालौं दृग रहैं, निरखि मीत की ओर ॥

—रतन हजारा

सब अँग करि राखी सुघर, नायक नेह सिखाइ।
रसयुत लेत अनंतगति, पुतरी पातुरराइ ॥२१६॥

शब्दार्थ :—सुघर = चतुर-सुन्दर, नायक = नट, पातुरराइ = श्रेष्ठ पुतली।

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि प्रेम रूपी नायक ने इसे (पुतली को) शिक्षा देकर नृत्य के सभी अंगों में निष्णात कर दिया है। यही कारण है कि नायिका की पुतली रूपी श्रेष्ठ पातुरा अनेक रसपूर्ण भंगिमाएं प्रकट कर रही हैं।

अलंकार :—रूपक तथा काव्यलिङ्ग।

जुरे दुहुनु के दृग झमकि, रुके न झीनैं चीर।
हलुकी फौज हरौल ज्यौं, परैं, गोल पर भीर ।।२१७।।

शब्दार्थ :—जुरे = मिल गए, झमकि = शीघ्रता से, झीनैं = महीन, हरौल = हरावल ।

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि नायक के दोनों दृग, नायिका के झीने घूंघट को चीर कर उसके दोनों दृगों से जा मिले जैसे कि कोई विशाल सेना विपक्षी के हरावल पर आक्रमण करके उसकी छोटी सी सेना पर जा चढ़ती है।

विशेष :—हरावल सेना के उस अग्रभाग को कहते हैं जिसमें हाथी खड़े किए जाते हैं। राजपूती युद्धकला में इसका विशेष स्थान था।

अलंकार :—दृष्टान्त ।

भौंहों का वर्णन :—

नासा मोरि नचाइ दृग, करी कका की सौंह।
कांटे सी कसकति हिएँ, वहै कटीली भौंह ।।२१८।।

शब्दार्थ :—नासा = नाक, कका = चाचा, सौंह = शपथ ।

प्रसंग-भावार्थ :—नायक नायिका की सखी से कहता है कि नासिका को संकुचित करते हुए, नेत्रों को मटकाते हुए और चाचा की शपथ लेते हुए उसने (नायिका ने) जो कंटीला भ्रूपात किया था वह अब तक मेरे मन में शूल की भाँति कसकता रहता है।

विशेष :—कवि का अंगचेष्टाओं का सूक्ष्म वर्णन विशेषत: दर्शनीय है।

अलंकार :—पूर्णोपमा ।

खौरि-पनिच भृकुटी- धनुषु, बधिकु समरु, तजि कानि।
हनति-तरुनु-मृग तिलक-सर-सुरक-भाल, भरि तानि ।।२१९।।

शब्दार्थ :—खौरि पनिच = माथे की खोर रूपी प्रत्यंचा, समरु = काम, कानि = मर्यादा, तिलक = माथे का टीका, सुरकभाल = नासिका का तिलक रूपी भाला ।

प्रसंग :— नायिका को चढ़ी हुई भौंहें वाली देख कर नायक कहता है कि कामदेव रूपी बधिक खौरि रूपी प्रत्यंचा वाले भृकुटि रूपी धनुष को विना किसी रोक-टोक के खींचकर सुरक रूपी भाल के तिलक रूपी बाण से तरुण युवकों रूपी मृगों की आखेट करता रहता है।

विशेष :—सुरक भाल का अर्थ लाल सुर्ख माथा भी किया जा सकता है।

अलंकार :— सांगरूपक।

माथे की बेंदी का वर्णन :—

तिय मुखु लखि हीरा जरी, बेंदी बढ़ै बिनोद।
सुत सनेहु मानों लियौ ,बिधु पूरनु बुध गोद ॥२२०॥

शब्दार्थ :—बिधु पूरनु = पूर्णिमा का चन्द्रमा।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—नायक नायिका के भाल की बेंदी की प्रशंसा करता है कि हे तिय, तेरे मुख पर हीरों से जड़ी हुई बिन्दी को देखकर मेरा विनोद बढ़ जाता है। ऐसा लगता है मानों पूर्णिमा के चंद्रमा ने पुत्रस्नेह से वशीभूत होकर अपनी गोद में बुध नक्षत्र को ले लिया हो।

विशेष :—यद्यपि बुध का रंग हरा होता है किन्तु वह अपने स्थान के अनुकूल ही परिवर्त्तित हो जाता है अत: चन्द्रमा के साथ उसका लाल हो जाना अस्वाभाविक नहीं जान पड़ता।

अलङ्कार :—सिद्धास्पद हेतूत्प्रेक्षा।

भाल लाल बेंदी ललन, आखत रहे बिराजि।
इन्दु कला कुज में बसी, मनौं राहु भय भाजि ॥२२१॥

शब्दार्थ :—ललन = प्रिय, आखत = अक्षत (चावल), कुज = मंगल।

प्रसंग-भावार्थ :—दूती नायक से नायिका की भालस्थ बिंदी की ओर संकेत करके कहती है कि हे ललन ! उसके मस्तक पर रोचना की लाल-लाल बेंदी पर जो अक्षत—चावल—लगे हुए हैं वे ऐसे लगते हैं मानों राहु के भय से भागकर चन्द्रमा की कला मंगल नक्षत्र में जाकर छिप गई हो।

अलंकार :—सिद्धास्पद हेतूत्प्रेक्षा।

मिलि चंदन बेंदी रही, गोरे मुख न लखाइ।

ज्यौं ज्यौं मदु लाली चढ़ै, त्यौं त्यौं उघरति जाइ।२२२॥

शब्दार्थ :—मदुलाली = मदिरा का नशा।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका के विषय में दूती नायक से कहती है कि उसके माथे पर लगी चंदन की श्वेत बेंदी दिखाई नहीं पड़ती है जैसे जैसे मदिरा के नशे में वह (नायिका) लाल होती जाती है वैसे ही वैसे वह बिंदी भी दिखाई देने लगती है।

अलंकार :—उन्मीलित।

केशों का वर्णन :—

सहज सुचिक्कन स्याम रुचि, सुचि सुगंध सुकुमार।

गनतु न मनु पथु अपथु लखि, बिथुरे सुथरे बार॥२२३॥

शब्दार्थ :—सहज = स्वाभाविक रूप में, सुचिक्कन = सुचिक्करण, स्यामरुचि = कृष्णवर्णी। बिथुरे = बिखरे, सुथरे = स्वच्छ सुन्दर।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका के केशों की प्रशंसा करते हुए नायक अपने अन्तरंग सखा से कहता है कि वे सहज ही बिना तैल आदि का प्रयोग किए सुस्निग्ध एवं चिकने हैं। वे (केश) सुन्दर गन्ध से युक्त सुकोमल तथा कृष्णवर्णी हैं। जब वे स्वच्छ सुन्दर केश उसके मुख पर बिखर जाते हैं तब उन्हें देख कर मेरा मन उचित-अनुचित के भेद को भी नहीं समझ पाता है।

विशेष :—काले केशों की स्निग्धता, तरलता, सुगन्धि तथा आयामता रमणी सौन्दर्य की वृद्धि के साधन माने जाते हैं।

अलंकार :—अनुप्रास तथा स्वभावोक्ति।

कुटिलु अलकु छुटि परतु मुखु, बढ़िगौ इतौ उदोतु।

बंक बिकारी देत ज्यौं, दाम रुपैया होतु॥२२४॥

शब्दार्थ :—कुटिल = वक्र, अलकु = केश, उदोतु = प्रकाश, बिकारी = रुपये का अंकन करने का चिह्न, विशेष, दाम = दमड़ी।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका स्नान करके आ रही है उसे देख कर एक सखी दूसरी से कहती है कि इसके मुख का प्रकाश इस टेढ़ी अलक के सामने पड़ जाने

से इतना अधिक बढ़ गया है जितना कि दमड़ी के आगे टेढ़ी बिकारी लगा देने पर रुपये के रूप में मूल्य बढ़ जाता है।

अलङ्कार :—प्रतिवस्तूपमा।

तुलनात्मक :—

मानो भुजंगिनि कंज चढ़ी मुख ऊपर आय रहीं अलकैं त्यौं।
कारी महा सटकारी हैं सुन्दर भीजि रहीं मिलि सौंधन ही स्यौं।
लटकी वा लटकीली तें और गई बढ़ि कैं छवि आनन की यौं।
आँकु बढ़ै दिये दूजी बिकारी के होत रुपैयन ते मुहरे ज्यौं।
—'सुन्दर'

कर समेटि कच भुज उलटि, खएँ सीसु पटु डारि।
काकौ मनु बाँधै न यह, जूरौ बाँधनि हारि ॥२२५॥

शब्दार्थ :—कच = केश, खएँ = पखौरे पर, जूरौ बाँधनिहारि = जूड़ा बाँधने वाली।

प्रसंग-भावार्थ :—स्नानान्तर श्रृंगार करने वाली नायिका के केशों के लिए उसकी सखी नायक से कहती है कि हाथों से केशों को समेट कर, भुजाओं को पीठ की ओर मोड़े हुए तथा शिरस्थ अंचल को पखौरों की ओर डाल कर यह जूड़ा बाँधने वाली किस का मन नहीं हर लेती, अर्थात् सब का मन हरण कर लेती है।

विशेष :—'जूड़े के साथ साथ मन को बाँध लेना' कवि के कल्पना-वैभव का प्रतीक है।

अलंकार :—सहोक्ति, स्वभावोक्ति तथा काकुवक्रोक्ति।

तुलनात्मक :—

जानुभ्यामुपविश्य पार्ष्णिनिहितश्रोणिभरा प्रोन्नमद्
दोर्वल्ली नमदुन्नमत्कुचतटी दीव्यन्नखाङ्कावलिः ।
पाणिभ्यामवधूय कङ्कणझणत्कारावतारोत्तरं
बाला नह्यति कि निजालकभरं किं वा मदीयं मनः ॥

छूटैं छुटावैं जगत तैं, सटकारे सुकुमार।
मन बाँधत बैनी बँधैं, नील छबीले बार ॥२२६॥

शब्दार्थ :—सटकारे = आयाम, लम्बे, बंधैं = बंधते समय।

प्रसंग-भावार्थ :—नायक नायिका के केशों पर मुग्ध होकर अपने सखा से कहता है कि जब वे बिखरे हुए होते हैं तो संसार के व्यक्तियों को जगत् से छुड़ा देते हैं अर्थात् वे सुधि-बुधि भूल जाते हैं; और जब वे लम्बे सुकुमार श्यामल केश बंधने लगते हैं तब अपने चूड़े में सबको बाँध लिया करते हैं।

विशेष :– नायक यह बताना चाहता है कि उसके (नायिका के) केश प्रत्येक अवस्था में आकर्षक हैं चाहे वे बंधे हों चाहे खुले हों—जिन्हें देखकर उसके प्रति प्रेम होने लगता है।

अलंकार :—व्याजस्तुति।

तुलनात्मक :—'लटों में कभी दिल को लटका लिया
कभी साथ बालों के झटका दिया।"

—मीर हसन

बेई कर, ब्यौरनि बही, ब्यौरौ कौनु बिचार।
जिनुहीं उरझ्यौ मोहियौ, तिनहीं सुरझे बार ॥२२७॥

शब्दार्थ :–-बेई = वे ही, ब्यौरनि = केश सुलझाने की विधि, ब्यौरौ = रहस्य।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—नायक स्वयं नाइन का वेश धारण करके नायिका के केशों को ग्रथित करने आया है। नायिका अनजाने ही कहती है कि वैसे ही हाथ हैं और उनकी सी ही बालों को बाँधने की विधि है। अरे मन ! तू इस रहस्य पर विचार कर। कहीं ऐसा तो नहीं है कि जिनसे मेरा मन उलझा हुआ है वही तो इनको नहीं सुलझा रहे हैं।

विशेष :—बिना देखे ही नायक के करों को (केवल स्पर्श द्वारा) पहचान लेने से नायिका के (नायक के प्रति) प्रेम की अतिशयता का परिचय कवि यहाँ देना चाहता है।

अलंकार :—अनुमान, अनुप्रास तथा विरोधाभास।

ताहि देखि मनु तीरथनि, विकटनि जाइ बलाइ।
जा मृगनैंनी के सदा बैनी परसत पाइ ॥२२८॥

शब्दार्थ :—विकटनि = विकट, बैनी = वेणी, त्रिवेणी।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—नायक नायिका के आपादविलम्बित केशों को देखकर अपने सखा से कहता है कि जिस मृगाक्षी के चरणों को सदैव वेणी (त्रिवेणी) स्पर्श करती रहती है उसे देखकर विकट त्रिवेणी का तीर्थाटन करने मेरी बला जाए, मैं नहीं।

विशेष :—केशों का लम्बा होना नायिका के रूप का आवश्यक तत्त्व है।

अलंकार :—काव्यलिङ्ग, श्लेष, व्याजस्तुति तथा व्यतिरेक।

(फाग-वर्णन)

पीठि दिए हीं नैंक मुरि, कर घूँघट पटु टारि।
भरि, गुलाल की मूँठि सौं, गई मूठि सी मारि ॥२२९॥

शब्दार्थ :—नैंक मुरि = तनिक सी मुड़कर, पटु = वस्त्र, टारि = हटाकर, मूंठि = मुट्ठी, मूठि सी मारि = आकर्षित कर गई।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—नायक अपने अन्तरंग मित्र से नायिका के विषय में कहता है कि वह मेरी ओर यद्यपि पीठ किए ही खड़ी रही, फिर भी थोड़ी सी मुड़कर और अपने हाथ से घूंघट का वस्त्र तनिक सा ऊपर करते हुए मेरे ऊपर मुट्ठी में भरे हुए गुलाल को फैंककर चली गई। तभी से ऐसा लग रहा है मानों उसने मुझे उस क्रिया के द्वारा अपनी ओर सम्मोहित करके, मुट्ठी में कर लिया है।

विशेष :—तांत्रिकों के यहाँ एक क्रिया बहुत प्रसिद्ध है जिसका प्रयोग मुट्ठी के द्वारा ही कुछ तंत्र मंत्र करके, मारण, मोहन तथा उच्चाटन आदि के लिए किया जाता है।

अलंकार :—यमक तथा वस्तूत्प्रेक्षा।

छुटत मुठिनु सँग हीं छुटी, लोक-लाज कुल-चाल।
लंगे दुहुनु इक बेर ही, चल चित नैन गुलाल ॥२३०॥

शब्दार्थ :—छुटत = खुलते ही, मुठिनु = मुट्ठियों के, दुहुनु = दोनों को।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि नायक-नायिका के परस्पर फाग खेलने का वर्णन कर रहा है कि नायक तथा नायिका की परस्पर एक दूसरे पर गुलाल भरी मुट्ठियों के खुलते ही लोकलाज और कुलीनता की मर्यादाएं भी खुल गईं (शिथिल पड़ गईं)। उन दोनों के चंचल नेत्रों तथा हृदयों में एक साथ ही गुलाल (प्रेम का रंग भी गुलाल जैसा ही होता है) जा लगा।

विशेष :—नायक नायिका का तुल्यानुराग वर्णित किया गया है।

अलंकार :—सहोक्ति।

ज्यौं ज्यौं पटु झटकति, हठति, हँसति नचावति नैन।
त्यौं त्यौं निपट उदार हूँ, फगुवा देत बनै न ॥२३१॥

शब्दार्थ :—पटु = अंचल, झटकति = हिलाना, निपट = पूर्णतः, फगुवा = होली खेलने का पुरस्कार।

प्रसंग-भावार्थ :—नायक नायिका को फगुआ देना चाहता है किन्तु वह ऐसा नहीं कर पाता। कोई सखी यह देखकर किसी दूसरी सखी से कहती है कि जैसे जैसे वह (नायिका) अपना अंचल फैलाती है, हठ करती है तथा मुस्कराते हुए नेत्रों को नचाती है वैसे ही वैसे नायक उसकी इन चेष्टाओं पर विमुग्ध हो जाता है। वह अत्यंत उदार होने पर भी नायिका को फगुआ नहीं दे पाता।

विशेष :—ब्रज में आज भी यह प्रथा प्रचलित है कि जव देवर-भाभी परस्पर होली खेलते हैं तव देवर भाभी को फगुआ देता है।

अलंकार :—समुच्चय तथा विशेषोक्ति।

टिप्पणी :—बिहारी की अनुभाव व्यंजना के लिए प्रस्तुत दोहे का पूर्वार्द्ध द्रष्टव्य है।

रस भिजए दोऊ दुहुनु, तउ टिकि रहे टरैं न।
छबि सौं छिरकत प्रेम रँगु, भरि पिचकारी नैन ॥२३२॥

शब्दार्थ :—रस = जल-प्रेम, टिकि रहे = स्थिर हो गए।

प्रसंग-भावार्थ :—कोई सखी अपनी सखी से नायक और नायिका के प्रेम का वर्णन होली खेलने के रूपक से कर रही है। दोनों ने एक दूसरे को अपने प्रेम रूपी जल से अभिषिक्त कर दिया फिर भी वे वहाँ से टलने की अपेक्षा स्थिर होकर ही खड़े रहे। दोनों ही अपनी नेत्र रूपी पिचकारियों से प्रेम रूपी

जल को बड़ी सुन्दरता से एक दूसरे पर फेंकते रहे।

विशेषः —प्रायः यह होता है कि होली खेलते समय खेलने वाले भीग जाने पर सामने से हट जाते हैं परन्तु यहाँ प्रेम रूपी जल से अभिसिञ्चित होने पर नायक तथा नायिका दोनों ही एक दूसरे को देखने के लोभ से दूर नहीं हट पा रहे हैं।

अलंकार :—विशेषोक्ति, रूपक, श्लेष तथा अनुप्रास।

जज्यौं उझकि झाँपति बदनु, झुकति बिहँसि सतराइ।
त्यौं गुलाल-मूठी झुठी, झझकावत प्यौ जाइ॥२३३॥

शब्दार्थ :—जज्यौं =जैसे जैसे, झाँपति = ढंकती है, बदनु =मुख, प्यौ = प्रिय, जाइ = जाता है।

प्रसंग-भावार्थ :—नायक नायिका के परस्पर होली खेलने के ढंग को देखकर एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि जैसे जैसे नायिका संकोचवश उझकती हुई, मुख ढकती हुई, झुकती हुई तथा मुस्कराती हुई सीधी खड़ी होती है वैसे ही वैसे नायक झूठमूंठ की गुलाल से भरी हुई मुट्ठी को उसके ऊपर फेंकने का अभिनय करता जा रहा है जिससे नायिका बार बार झिझकने लगती है।

अलंकार :—समुच्चय, भ्रान्तिमान, अनुप्रास तथा नायिका की चेष्टाओं में स्वभावोक्ति।

दियौ जु पिय लखि चखनु मैं, खेलत फाग खियालु।
बाढ़तहूँ अति पीर सु न, काढ़त बनत गुलालु॥२३४॥

शब्दार्थ :—दियौ = डाला, काढ़त = निकालना।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—नायक नायिका के होली खेलने तथा प्रेमाधिक्य का वर्णन एक सखी दूसरी सखी से करती है कि फाग खेलते समय नायक ने नायिका के मुख पर जो गुलाल मल दिया है वह आँखों में उड़कर जा लगा है। नायिका की आँखों में वह गुलाल रह रहकर पीड़ा दे रहा है फिर भी उसे वह अपने प्रियतम की दी हुई निधि मानकर बाहर नहीं निकाल पाती है।

विशेष :—यह स्वाभाविक है कि प्रिय की वस्तुएं मन में प्रेम की भावना को तीव्र करने वाली होती हैं।

अलंकार :—विशेषोक्ति।

गिरै कंपि कछु कछु रहै, कर पसीजि लपटाइ।
लैयौ मुठी गुलाल भरि, छुटत झुठी ह्वै जाइ ॥२३५॥

शब्दार्थ :—कंपि = काँपने से, पसीजि = स्वेदसिंचित, छुटत = खुलते ही।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—सखियाँ परस्पर नायक और नायिका के होली खेलते समय गुलाल भरी मुठी के फैंकने का वर्णन करती हुई कहती हैं कि नायक-नायिका दोनों की मुट्ठियां गुलाल से भरी हुई हैं किन्तु उनके खुलते ही गुलाल नहीं निकल पाता क्योंकि कुछ तो परस्पर दर्शन से उत्पन्न कम्प के कारण गिर जाता है और कुछ हथेलियों में ही स्वेद के कारण चिपका रह जाता है।

विशेष :—कम्प तथा प्रस्वेद शृङ्गार रस की निष्पत्ति में सात्विक अनुभाव माने गए हैं।

अलंकार :—काव्यलिङ्ग।

(स्नान-वर्णन)

न्हाइ पहिरि पटु डटि कियौ, बेंदी मिसि परिनामु।
दृग चलाइ घर कौं चली, बिदा किए घनस्यामु ॥२३६॥

शब्दार्थ :—डटि = रुककर, मिसि = वहाने से, परिनामु = प्रणाम।

प्रसंग-भावार्थ :—कोई सखी दूसरी सखी से कहती है कि जब नायिका स्नान कर रही थी तभी घनश्याम श्रीकृष्ण भी आ गए। इससे पहले कि वे अन्य स्त्रियों के सम्मुख उससे कुछ कहते नायिका ने तुरन्त स्नान करके वस्त्र पहन लिए और थोड़ा रुक कर बिन्दी आदि लगाने के बहाने से श्रीकृष्ण को प्रणाम किया तथा नेत्रों का संकेत (फिर एकान्त में मिलने के लिए) करती हुई उन्हें विदा देकर घर की ओर चली आई।

विशेष :—हमारे यहां मस्तक तक दोनों हाथ लेजाकर प्रणाम करने की प्रथा है। नायिका ने, एक हाथ से बेंदी तथा दूसरे से दर्पण को उठाने के कारण, दोनों हाथ जोड़कर मानों उनको प्रणाम किया हो।

अलंकार :—पर्यायोक्ति, सूक्ष्म तथा अपह्नुति।

चितवत जितवत हित हियें, कियें तिरीछे नैन।
भीजैं तन दोऊ कँपैं, क्यौं हूँ जप निबरैं न ॥२३७॥

शब्दार्थ :—जितवत = प्रकट करते हुए, निबरैं न = निवृत्त नहीं होते ।

प्रसंग-भावार्थ :—शीतऋतु में स्नान करते हुए नायक तथा नायिका को देखकर कुछ सखियाँ परस्पर कह रही हैं कि तिरछे नेत्र करके देखते हुए तथा मन की प्रीति प्रकट करते हुए वे दोनों भीगे शरीर के कारण सर्दी से काँप रहे हैं फिर भी उनका जप जैसे समाप्त नहीं हो पा रहा है ।

विशेष :—वस्तुत: सखियों को दिखाने के लिए ही दोनों जप का बहाना कर रहे हैं, उनके मन में तो एक दूसरे को तिरछे नेत्रों से देखने की अभिलाषा ही प्रबल है । शीत ऋतु में आकण्ठमग्न जलस्नान का विधान कर्मकाण्डों में आया है ।

अलंकार :—स्वभावोक्ति तथा विशेषोक्ति ।

सुनि पग-धुनि चितई इतै, न्हाति दियैं ही पीठि ।
चकी, झुकी, सकुची, डरी, हँसी, लजी सी डीठि ।।२३८।।

शब्दार्थ :—चितई = देखने लगी, दियैं ही पीठि = पीठ करते हुए, चकी = चकित ।

प्रसंग-भावार्थ :—यहाँ नायक अपनी नायिका की सखी से उसका (नायिका का) नहाने का वर्णन कर रहा है कि वह मेरे पहुँचने वाली दिशा की ओर पीठ किए हुए नहा रही थी किन्तु मेरी पगचाप सुनकर वह इधर (मेरी ओर) देखने लगी, मुझे वहाँ देखकर पहले तो वह चकित हो गई फिर संकोच और भय से झुकने लगी और फिर तनिक लजीली दृष्टि करते हुए मेरी ओर मुस्क-राने लगी ।

विशेष :—प्राय: युवतियाँ ऐसे ही स्थान पर स्नान करती हैं जहाँ एकान्त हो जिससे उन्हें कोई देख न सके । नायक एकान्त देखकर जाता है । नायिका को एक ओर तो लजा और संकोच तथा दूसरी ओर उसके आने से प्रसन्नतापूर्ण आश्चर्य तथा साथ ही भय भी होता है कि कोई और उन दोनों को इस दशा में देख न ले ।

अलंकार :—स्वभावोक्ति ।

नहिं अन्हाइ, नहिं जाइ घर, चितु चिहुँट्यौ तकि तीर ।
परसि फुरहरी लै फिरति, बिहँसति धँसति न नीर ।।२३९।।

शब्दार्थ :—चिहुँट्यौ = अनुरुक्त हो गया, तकि = देखकर, फुरहरी लै = कम्पित होकर।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका सरोवर में स्नान कर रही है तभी तट पर नायक आ जाता है। वह उसे रह-रहकर देखना चाहती है अतः कांपने के भय से वार वार तट की ओर जाती है। न तो वह नहाती है और न घर ही जाती है क्योंकि किनारे की ओर नायक को खड़ा हुआ देख कर उसके मन में उसके (नायक के) प्रति अनुराग उत्पन्न हो गया है इसलिए वह जल के स्पर्श से मिथ्या कम्प का प्रदर्शन कर रही है। कभी वह लौटती है कभी मुस्कराती हैं और इस प्रकार जल में प्रवेश नहीं करती।

अलंकार :—पर्यायोक्ति।

मुँहु पखारि मुड़हरु भिजै, सीस सजल कर छ्वाइ।
मौरु उचै घूँटेनु तैं, नारि सरोवर न्हाइ ॥२४०॥

शब्दार्थ :- पखारि = प्रक्षालित करके, मुड़हरु = शिर के अग्रभाग तक विलम्बित घूंघट, मौरु = मस्तक, घूंटेनु तैं = घुटनों के बल।

प्रसंग-भावार्थ :- नायिका को स्नान करते हुए देखकर नायक अपने किसी मित्र से उसकी चेष्टाओं की ओर संकेत करता है, देखो उसने अपना मुख प्रक्षालित करके अब आगे तक लटके हुए घूंघट को जल से सिक्त कर रही है और अपने सिर को हाथों से उछलते हुए जल के द्वारा स्पर्शित करा दिया है। उसने अपना मस्तक तनिक सा ऊंचा कर रखा है और वह घुटनों के बल बैठकर सरोवर में स्नान कर रही है।

विशेष :—नायिका की क्रिया-विदग्धता का कवि ने वर्णन किया है।

अलंकार :—स्वभावोक्ति।

बिहँसति सकुचित सी, दिऐं, कुच-आँचर-बिच बाँह।
भीजैं पट तट कौं चली, न्हाइ सरोवरु माँह ॥२४१॥

शब्दार्थ :—आँचर = अंचल, भीजैं पट = भीगा वस्त्र पहने ही।

प्रसंग-भावार्थ :—नायक अपने अन्तरंग सखा को सरोवर में से लौटती हुई सद्यःस्नाता नायिका के विषय में बतलाता है— देखो वह थोड़ी मुस्कराती

हुई तथा वस्त्र को उभरे अंगों पर चिपका हुआ देखकर लजाती हुई अपने उरोजों को आँचल की ओट में बाँहों से ढाँपे हुए सरोवर में स्नान करके, भीगे वस्त्रों में ही किनारे की ओर चली आ रही है।

अलंकार :—उत्प्रेक्षागर्भित स्वभावोक्ति तथा अनुप्रास।

मुहुँ धोवति, एड़ी घिसति, हसति, अनगवति तीर।
धँसति न इन्दीवरनयनि, कालिन्दी कैं नीर ॥२४२॥

शब्दार्थ :—अनगवति = अनंगवती, इन्दीवरनयनि = कमल के से नेत्रों वाली।

प्रसंग-भावार्थ :—नायक तट पर खड़ा हुआ है, नायिका का मुख भी उसी की ओर है। वह उसे पीठ दिखाकर नहाने नहीं जाना चाहती अर्थात् निरन्तर सामने देखना चाहती है। सखियाँ यही देखकर परस्पर कहती हैं कि वह कभी मुख धोती है तो कभी एड़ियाँ घिसती है और कभी हंसने लगती है। वह कमल से नेत्रों वाली अनंगवती नायिका यमुना के जल में प्रवेश नहीं करती।

अलंकार :—उपमा तथा स्वभावोक्ति।

द्रष्टव्य :—यहाँ क्रियाविदग्धा नायिका का वर्णन किया गया है।

लै चुभकी चलि जात जित, जित जल-केलि-अधीर।
कीजति केसरि-नीर से, तित तित के सरि नीर ॥२४३॥

शब्दार्थ :—चुभकी = डूबक, कीजति = कर देती है, केसरि नीर से = केसर के धोए हुए जल के समान, तित तित के सरि नीर = उधर उधर की नदी के जल।

प्रसंग-भावार्थ :—जलक्रीड़ा करती हुई नायिका को देखकर नायक अपने अन्तरंग सखा से कह रहा है कि वह जिस-जिस ओर डूबक लगाकर निकल जाती है, उस-उस ओर का पानी चंचल होने लग जाता है। वह नदी के सम्पूर्ण जल-समूह को अपने शरीर के संस्पर्श द्वारा केसरिया रंग का बना देती है।

अलंकार :—पुनरुक्ति, यमक, तद्गुण तथा उपमा।

छिरके नाह नबोढ़-दृग, कर-पिचकी जल-जोर।
रोचन-रँग लाली भई, बियतिय-लोचन-कोर ॥२४४॥

शब्दार्थ :—छिरके = छिड़का दिए, नाह = नाथ-नायक, नबोढ़ = नव वधू, पिचकी = पिचकारी, रोचन = गोरोचन, विय = अन्य ।

प्रसंग-भावार्थ :—नायक अपनी नवोढ़ा नायिका के साथ जलक्रीड़ा कर रहा है । यह देखकर एक सखी अपनी दूसरी सखी से कहती है कि नहाते समय नायक ने अपने हाथ रूपी पिचकारी के द्वारा नायिका की आंखों की ओर तो बलपूर्वक पानी छिड़का दिया किन्तु और स्त्रियों के, जो कि वहां नहा रही थीं, नेत्र वैसे ही गोरोचन के (लाल) रंग की अरुणिमा से भर गए ।

विशेष :—प्रेम का रंग भी लाल माना जाता है ।

अलंकार :—असंगति ।

(वस्त्राभूषणों का वर्णन)

कंचुकी—

भई जु तनु छबि बसनु मिलि, बरनि सकैं सु नबैन ।
अंग ओपु आंगी दुरी, आँगी आँग दुरै न ।।२४५।।

शब्दार्थ :—बसनु = वस्त्र, बैन = वचन, ओपु = छबि, आंगी = अंगिया ।

प्रसंग-भावार्थ :—नायक अपने अन्तरंग सखा से नायिका की कंचुकी का वर्णन करता है कि वस्त्रों से मिलकर, उसके तन की जो छवि और अधिक सुन्दर हो गई है उसका वर्णन नहीं किया जा सकता । चोली (अंगिया) स्वयं उसके शरीर की आभा में जाकर छिप गई है । उसके अंग-प्रत्यंग (अपने सहज उभार के कारण) कंचुकी में छिपकर नहीं रह पाते ।

अलंकार :—मीलित, विशेषोक्ति तथा अनुप्रास ।

दुरत न कुच बिच कंचुकी, चुपरी सादी सेत ।
कवि अंकन के अरथ लौं, प्रगट दिखाई देत ।।२४६।।

शब्दार्थ :—चुपरी = सुगंधयुक्त पदार्थों से स्निग्ध, लौं = समान ।

प्रसंग-भावार्थ :—नायक नायिका के कुचों का वर्णन कंचुकी के माध्यम से अपने अन्तरंग मित्र से करता है कि उसके उरोज, सीधी-सादी श्वेत रंग की सुगन्धित (इत्र आदि से युक्त) चोली में छिपे नहीं रह पाते हैं, अपितु वे उसी प्रकार

हुई तथा वस्त्र को उभरे अंगों पर चिपका हुआ देखकर लजाती हुई अपने उरोजों को आँचल की ओट में बाँहों से ढाँपे हुए सरोवर में स्नान करके, भीगे वस्त्रों में ही किनारे की ओर चली आ रही है।

अलंकार :—उत्प्रेक्षागर्भित स्वभावोक्ति तथा अनुप्रास।

मुहुँ धोवति, एड़ी घिसति, हसति, अनगवति तीर।
धँसति न इन्दीवरनयनि, कालिन्दी कैं नीर ॥२४२॥

शब्दार्थ :—अनगवति = अनंगवती, इन्दीवरनयनि = कमल के से नेत्रों वाली।

प्रसंग-भावार्थ :—नायक तट पर खड़ा हुआ है, नायिका का मुख भी उसी की ओर है। वह उसे पीठ दिखाकर नहाने नहीं जाना चाहती अर्थात् निरन्तर सामने देखना चाहती है। सखियाँ यही देखकर परस्पर कहती हैं कि वह कभी मुख धोती है तो कभी एड़ियाँ घिसती है और कभी हंसने लगती है। वह कमल से नेत्रों वाली अनंगवती नायिका यमुना के जल में प्रवेश नहीं करती।

अलंकार :—उपमा तथा स्वभावोक्ति।

द्रष्टव्य :—यहाँ क्रियाविदग्धा नायिका का वर्णन किया गया है।

लै चुभकी चलि जात जित, जित जल-केलि-अधीर।
कीजति केसरि-नीर से, तित तित के सरि नीर ॥२४३॥

शब्दार्थ :—चुभकी = डूबक, कीजति = कर देती है, केसरि नीर से = केसर के धोए हुए जल के समान, तित तित के सरि नीर = उधर उधर की नदी के जल।

प्रसंग-भावार्थ :—जलक्रीड़ा करती हुई नायिका को देखकर नायक अपने अन्तरंग सखा से कह रहा है कि वह जिस-जिस ओर डूबक लगाकर निकल जाती है, उस-उस ओर का पानी चंचल होने लग जाता है। वह नदी के सम्पूर्ण जल-समूह को अपने शरीर के संस्पर्श द्वारा केसरिया रंग का बना देती है।

अलंकार :—पुनरुक्ति, यमक, तद्गुण तथा उपमा।

छिरके नाह नबोढ़-दृग, कर-पिचकी जल-जोर।
रोचन-रँग लाली भई, बियतिय-लोचन-कोर ॥२४४॥

शब्दार्थ :—छिरके = छिड़का दिए, नाह = नाथ-नायक, नबोढ़ = नव वधू, पिचकी = पिचकारी, रोचन = गोरोचन, विय = अन्य ।

प्रसंग-भावार्थ :—नायक अपनी नवोढ़ा नायिका के साथ जलक्रीड़ा कर रहा है। यह देखकर एक सखी अपनी दूसरी सखी से कहती है कि नहाते समय नायक ने अपने हाथ रूपी पिचकारी के द्वारा नायिका की आंखों की ओर तो वलपूर्वक पानी छिड़का दिया किन्तु और स्त्रियों के, जो कि वहाँ नहा रही थीं, नेत्र वैसे ही गोरोचन के (लाल) रंग की अरुणिमा से भर गए।

विशेष :—प्रेम का रंग भी लाल माना जाता है।

अलंकार :—असंगति ।

(वस्त्राभूषणों का वर्णन)

कंचुकी—

भई जु तनु छबि बसनु मिलि, बरनि सकैं सु नबैन ।
अंग ओपु आँगी दुरी, आँगी आँग दुरै न ॥२४५॥

शब्दार्थ :—बसनु = वस्त्र, वैन = वचन, ओपु = छवि, आंगी = अंगिया ।

प्रसंग-भावार्थ :—नायक अपने अन्तरंग सखा से नायिका की कंचुकी का वर्णन करता है कि वस्त्रों से मिलकर, उसके तन की जो छवि और अधिक सुन्दर हो गई है उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। चोली (अंगिया) स्वयं उसके शरीर की आभा में जाकर छिप गई है। उसके अंग-प्रत्यंग (अपने सहज उभार के कारण) कंचुकी में छिपकर नहीं रह पाते।

अलंकार :—मीलित, विशेषोक्ति तथा अनुप्रास ।

दुरत न कुच बिच कंचुकी, चुपरी सादी सेत ।
कवि अंकन के अरथ लौं, प्रगट दिखाई देत ॥२४६॥

शब्दार्थ :—चुपरी = सुगंधयुक्त पदार्थों से स्निग्ध, लौं = समान ।

प्रसंग-भावार्थ :—नायक नायिका के कुचों का वर्णन कंचुकी के माध्यम से अपने अन्तरंग मित्र से करता है कि उसके उरोज, सीधी-सादी श्वेत रंग की सुगन्धित (इत्र आदि से युक्त) चोली में छिपे नहीं रह पाते हैं, अपितु वे उसी प्रकार

प्रकट होते रहते हैं जिस प्रकार कवियों की कविता के अक्षरों में से उसका अर्थ प्रतीयमान होता है।

विशेष :— वाणी (भाषा) और अर्थ का सम्पृक्त सम्बन्ध 'वागर्थाविव सम्पृक्तौ' के आधार पर एकीभूत होता है किन्तु फिर भी रससृष्टि के लिए भावक उसके प्रतीयमान अर्थ को हृदयंगम कर लेता है। इसी प्रकार कंचुकी और उरोज एक से होने पर भी नायक उनको उभार के कारण स्पष्ट रूप से देख लेता है।

अलंकार :—पूर्णोपमा।

अंचल—

छप्यौ छबीलौ मुखु लसै, नीले आँचरु चीरु।
मनौं कलानिधि झलमलै, कालिंदी कै नीरु ॥२४७॥

शब्दार्थ :—छप्यौ = चित्रित, कलानिधि = चंद्रमा, कालिन्दी = यमुना।

प्रसंग-भावार्थ :—नायक नायिका का रूप वर्णन करते हुए अपने सखा से कहता है कि छवि से चित्रित उसका मुख नीले अंचल में इसी प्रकार सुशोभित हो रहा है मानो चंद्रमा का शुभ्र प्रतिविम्ब यमुना के जलप्रवाह में झिलमिला रहा हो।

अलंकार :—उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा।

चादर—

सहज सेत पचतोरिया, पहरें अति छबि होति।
जलचादर कै दीपु लौं, जगमगाति तन दोति ॥२४८॥

शब्दार्थ :—सेत = शुभ्र, पचतोरिया = एक प्रकार की झीनी रेशमी साड़ी, जल-चादर = पानी की गिरती हुई फुहारों की चादर, दोति = प्रकाश।

प्रसंगभावार्थ :—नायिका के रूप की प्रशंसा करते हुए दूती नायक से कहती है कि श्वेत रंग की सहज रेशमी साड़ी को पहनने पर उसकी शोभा और भी बढ़ जाती है। ऐसा लगता है जैसे उसके शरीर का आलोक जल-चादर के दीप की भाँति प्रकाशित हो रहा हो।

विशेष :—राजाओं के उपवनों में फ़व्वारों के पार्श्व में दीपाधार प्रतिष्ठित किये जाते थे। जब उन फ़व्वारों से जल की अजस्र धारा उच्छलित होती थी

तब पार्श्व भाग से उन दीपों का मन्द-मन्द स्वर्णिम आलोक झिलमिलाने लगता था जो कि देखने में अत्यन्त मोहक होता था।

अलंकार :—उपमा।

चूनर—

सोन जुही सी जगमगै, अँगु अँगु जोबनु जोति।
सुरँगु कुसुंभी चूनरी, दुरँगु देहदुति होति ॥२४६॥

शब्दार्थ :—सोनजुही = स्वर्णयूथिका, कुसुंभी = लाल।

प्रसंगभावार्थ :—दूती, नायक से, नायिका के रूप-यौवन की प्रशंसा करती है कि यौवन की आभा के कारण उसका शरीर सोनजुही (पीली चमेली) के समान आलोकित होता रहता है। जब वह कुसुंभी (लाल) रंग की सुन्दर चूनर ओढ़ लेती है तब उसके तन की शोभा दोरंगी हो जाती है।

अलंकार :—पूर्णोपमा तथा वृत्यनुप्रास।

साड़ी--

डारी सारी नील की, ओठ अचक चूकैं न।
मो मनु मृगु करु बर गहैं, अहे अहेरी नैन ॥२५०॥

शब्दार्थ :—डारी = डाली-डालदी, अचक = चुपके से, करुबर = हाथ के बल से।

प्रसंगभावार्थ :--नायक, नायिका से कहता है कि तेरे नयन रूपी शिकारी नीली साड़ी की ओट डालकर (जैसे शिकारी डाली के पीछे छिपकर) हाथों के बल से, शान्त अधरों वाले होकर—अर्थात् बिना शब्द किए ही—चुपचाप मेरे मन रूपी मृग का अचूक शिकार कर लेते हैं।

विशेष :—शिकारी भी हाथों के बल से, झाड़ी के पीछे छिपकर, निशाना बनाकर अपनी शिकार में सफल होता है।

अलंकार :--श्लेष, यमक तथा साङ्गरूपक।

जरीकोर गोरे बदन, बरी खरी छबि देख।
लसति मनौं बिजुरी किऐं, सारद ससि परिवेष ॥२५१॥

शब्दार्थ :—जरी कोर = जरी के किनारे वाली साड़ी, बरी = बलती हुई,

खरी = सुन्दर, सारद ससि परिवेष = शरत्कालीन चंद्रमा का घेरा।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका को देखकर, दूती नायक से कहती है कि जरी के किनारे वाली साड़ी पहन कर वह (नायिका) और भी अधिक गौर छबि वाली दिखाई पड़ रही है। ऐसा लगता है मानों शरत्काल के चन्द्रमा के चारों ओर विद्युत्मण्डल सुशोभित हो रहा हो।

अलंकार :—उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा।

देखति सोन जुही फिरति, सोन जुही से अंगु।

दुति लपटनि पटु सेतु हूँ, करति बनौटी रंगु ॥२५२॥

शब्दार्थ :—दुति = द्युति, लपटन = प्रज्वलन, बनौटी = कपास जैसा।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका सोनजुही की वाटिका में अभिसार के लिए—सोनजुही ढूंढ़ने के बहाने से गई है। दूती नायक को ले जाने के लिए उससे कह रही है कि वह सोनजुही के से अंग वाली नायिका, सोनजुही की खोज में इधर उधर फिर रही है। तुम उस नायिका से चलकर रमण करो जो कि अपने शरीर की कान्ति से अपनी साड़ी को भी कपास के से रंग का बनाए दे रही है।

अलंकार :—तद्गुण।

तीज परबु सौतिनि सजे, भूषण बसनु सरीर।

सबै मरगजैं मुंह करी, इहीं मरगजें चीर ॥२५३॥

शब्दार्थ :—परबु = पर्व, मरगजे = दलित-मलिन।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि आज तीज का पर्व है। सभी सपत्नियों ने अपने शरीरों को आभूषणों और वस्त्रों से सजा लिया है, किन्तु उस (नायिका) ने अपनी रत्युत्पन्न स्वेद से भीगी और कुचैली साड़ी को पहन कर ही उन सबको मलिनमुख बना दिया है।

अलंकार :—असंगति, यमक तथा विभावना।

झीनें पट में झुलमुली, झलकति ओप अपार।

सुरतरु की मनु सिंधु में, लसति सपल्लव डार ॥२५४॥

शब्दार्थ :—झीनैं = महीन, झुलमुली = कर्णाभरण विशेष, सुरतरु = कल्पवृक्ष, सपल्लव = पत्तों के संग।

प्रसंग-भावार्थ :—नायक से नायिका का रूप वर्णन करते हुए दूती कहती है कि जब उसकी झुलमुली महीन घूंघट में से बाहर की ओर झलकती है तब उसकी अपार शोभा इतनी सुन्दर लगती है कि मानों सागर से कल्पवृक्ष की डाल अपने पल्लवों के साथ लहरा रही हो।

अलंकार :—उत्प्रेक्षा।

भाल-लाल बेंदी-छए, छुटे बार छए देत।
गह्यौ राहु, अति आहु करि, मनु ससि-सूर समेत ।।२५५।।

शब्दार्थ :—छए = छाई हुई, छुटे = बिखरे हुए, आहु = आहव (युद्ध), सूर = सूर्य, शूर।

प्रसंग-भावार्थ १:—नायिका ने स्नान के पश्चात् अपने मस्तक पर लाल बेंदी लगाली है, उसे देखकर सखी नायक से कहती है कि उसके लाल रंग की बेंदी लगे भाल पर बिखरे हुए केश छा गए हैं जिन्हें देखकर ऐसा लगता है मानों राहु ने अत्यन्त वीरता के साथ ललकारते हुए प्रतियोगिता में शशि को सूर्य के साथ ग्रहण कर लिया है (इसी से मिलता-जुलता अर्थ रत्नाकर जी ने अपनी टीका में किया है।)

२--नायिका के बिखरे हुए केश अपनी छवि को (दे रहे हैं) छोड़ रहे हैं तथा उसका मस्तक और लाल रंग की सुहाग की बेंदी सुशोभित होरहे हैं जिन्हें देखकर लगता है मानों चन्द्रमा तथा सूर्य रूपी शूर ने युद्ध में राहु को पराजित कर दिया है—इस अर्थ से लाला भगवानदीन का अर्थ मिलता है।

विशेष :—सूर्य तथा चन्द्रग्रहण जब दोनों एक साथ होते हैं तब रतिदान के लिए उपयुक्त अवसर माना गया है। इस प्रकार पहला अर्थ उचित बैठता है।

अलंकार :--उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा, रूपक तथा श्लेष।

नीकौ लसतु लिलार पर टीकौ जरितु जराइ।
छबिहिं बढ़ाबतु रबि मनौं ससिमंडल मैं आइ ।।२५६।।

शब्दार्थ :—नीकौ = सुन्दर, लसतु = शोभित होता है, लिलार = ललाट, जरितु = जटित, जराइ = जरी का काम।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका की सखी, नायक से कहती है कि उसके

(नायिका के) ललाट के ऊपर रत्नजटित टीका ऐसा सुन्दर लग रहा है मानों सूर्य चन्द्रमण्डल में आकर उसकी कान्ति को बढ़ा रहा हो।

विशेष :—वस्तुतः सूर्य के आने पर चन्द्रमा की छवि फीकी पड़ जाती है परन्तु यहाँ वह और बढ़ती ही है अतः यह कवि की प्रौढोक्ति है।

अलंकार :—उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा।

कहत सबै बेंदी दिएँ, आँकु दसगुनो होतु।
तिय लिलार बेंदी दिएँ, अगनित होतु उदोतु ॥२५७॥

शब्दार्थ :—उदोतु = प्रकाश।

प्रसंग-भावार्थ :—दूती नायक से कहती है कि सब लोग यही कहते हैं कि किसी अंक के आगे बिन्दी रख देने पर उसका दस गुना मूल्य बढ़ जाता है किन्तु उस तिय (नायिका) के माथे पर बेंदी लग जाने से तो अनन्त गुना उद्योत (प्रकाश) होने लगता है।

अलंकार :—व्यतिरेक।

बेंदी—

पायल पाँइ परी रहै, लगें अमोलक लाल।
भौंडर हूँ की भासिहै, बेंदी भामिनि भाल ॥२५८॥

शब्दार्थ :—भौंड़र = अभ्रक, भासिहै = प्रतिभासित होती है।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका से उसकी सखि कहती है कि अमूल्य लालों के जड़े रहने पर भी पायल पैरों में ही शरण पाती है जब कि बेंदी अभ्रक की बनी होकर भी भामिनियों के भाल पर ही अलंकृत होती है।

विशेष :—प्रस्तुत दोहे का अर्थ अन्योक्ति के रूप में भी लिया जा सकता है।

अलंकार :—अप्रस्तुत प्रशंसा के अन्तर्गत अन्योक्ति तथा अनुप्रास।

अनवट—

सोहत अँगुठा पाइकै, अनवटु जर्‌यौ जराइ।
जीत्यौ तरिवन-दुति, सुढरि पर्‌यौ तरनि मनु पाइ ॥२५९॥

शब्दार्थ :—अनवटु = पैर के अंगूठे का आभूषण, जर्‌यौ जराइ = जरी के काम से जड़ा हुआ, तरिवन = ताटंक, ढरि = झुककर।

प्रसंगभावार्थ :—नायिका के अनवट का वर्णन उसकी सखी नायक से करती है कि उसके पैर का अंगूठा पाकर जरी से जड़ा हुआ अनवट इस तरह सुन्दर लग रहा है मानों इसके ताटंकों ने सूर्य की प्रभा को भी जीत लिया है और इसीलिए वह दीन होकर मानों उसके पैरों में ढल रहा है।

अलंकार :—सिद्धास्पद हेतूत्प्रेक्षा।

भूषन पहिरि न कनक के, कहि आवत इहि हेत।
दरपन के से मोरचें, देह दिखाई देत ॥२६०॥

शब्दार्थ :—कनक = सोना, दरपन = दर्पण।

प्रसंग भावार्थ :—कोई सखी नायिका को शृङ्गार सजा करती हुई देखकर उससे कहती है कि तुम सोने के आभूषणों को मत पहना करो क्योंकि ऐसा करने से तुम्हारी स्वाभाविक सुन्दरता इस कृत्रिम आभरणभार से वैसी ही निष्प्रभ लगती है जैसे कि लोहे के दर्पण में मोरचा (जङ्ग) लग जाया करता है।

विशेष :—प्राचीनकाल में दर्पण शीशे की अपेक्षा लोहे के ही बनाए जाते थे अतः उनमें मोरचा लगना अस्वाभाविक नहीं है। दूसरे यदि रूप नैसर्गिक है तो उसके लिए स्वर्ण के आभूषणों की कोई आवश्यकता ही नहीं है जैसा कि कालिदास ने कहा है :—

"किमविहि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्।"

—शाकुन्तलम्

अलङ्कार :—उपमा तथा विषम।

पँचरँग-रँग-बेंदी खरी, उठै ऊगि मुख-जोति।
पहिरैं चीर चिनौटिया, चटक चौगुनी होति ॥२६१॥

शब्दार्थ :—ऊगि = धूमिल वस्तु का प्रकाशित होना, चिनौटिया = चुनट की साड़ी, चटक = आभा।

प्रसंग-भावार्थ :—दूती नायक से नायिका का सौन्दर्य वर्णन करती है कि जब उसने पचरंगी बेंदी को अपने माथे पर लगा लिया तब उसकी मुखश्री सौंदर्यमयी हो गई किन्तु जैसे ही उसने चुनट पड़ी हुई साड़ी को धारण कर लिया तो उसका रूप पहले से भी चौगुना हो गया।

अलंकार :-- अनुगुण तथा अनुप्रास ।

सोहति धोती सेत में कनक-बरन-तन बाल।
सारद-बादर-बीजुरी-भा रद कीजति, लाल ॥२६२॥

शब्दार्थ :—कनक बरन तन बाल = स्वर्णिम रंग के शरीर वाली बाला, सारद बादर बीजुरी भा=शरत्काल के मेघों की विद्युत की आभा, रद कीजति= रद कर देती है।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका की सखी नायक से कहती है कि हे लाल ! वह सुनहरे रंग के शरीर वाली बाला (नायिका) श्वेत धोती में इतनी सुन्दर दिखाई पड़ती है कि उसकी छवि शरद् ऋतु के मेघों में चमकने वाली बिजली की चमक को भी रद कर देती है।

अलंकार :—अनुप्रास, यमक तथा प्रतीप ।

टटकी धोई धोवती, चटकीली, मुख-जोति ।
लसति रसोई कैं बगर, जगर मगर दुति होति ॥२६३॥

शब्दार्थ :—टटकी = तुरन्त, लसति = सुशोभित होती है, बगर = बगल में-दालान ।

प्रसंग-भावार्थ :—सखी नायक से नायिका का रूप वर्णन करते हुए कहती है कि उसने अभी-अभी धोई हुई धोती को पहन लिया है अत: उसकी मुख-ज्योति और भी अधिक चमकने लगी है। वह जब रसोईघर की बगल में होकर निकलती है तब उसकी आभा से सारा दालान जगमगाने लग जाता है।

अलंकार :—स्वभावोक्ति ।

तुलनात्मक—भोगवती भोजन रचत, मृगलोचन सुख दानि ।
घूंघट पट की ओर करि, पिय कौ आगमु जानि ॥
—विक्रम

किय हायल चित चाय लगि, बजि पायल तुव पाँइ ।
पुनि सुनि सुनि मुख मधुर धुनि, क्यों न लाल ललचाइ ॥२६४॥

शब्दार्थ :—हायल = घायल-स्थिर, चाय = चाव ।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका के प्रति सखी का वचन—मन में चाह लगी

रहने के कारण जब तुम्हारे पैरों की पायलें ही बज-बजकर नायक के मन को आहत और स्थिर कर देती हैं तो फिर तुम्हारे मुख की मधुर-मधुर ध्वनि को सुनकर वह क्यों नहीं लालायित होगा ?

अलंकार :—अनुप्रास ।

मानहुँ बिधि तन अच्छ छबि, स्वच्छ राखिबैं काज ।
दृग पग पौंछन कौं करे, भूषन पायंदाज ।।२६५।।

शब्दार्थ :—पायंदाज = पैर पोंछने का वस्त्र ।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका का रूप वर्णन करती हुई दूती नायक से कहती है कि उसके शरीर पर आभूषण इसीलिए सुशोभित हो रहे हैं मानों दर्शकों के नेत्रों की चरणधूलि को, अंगों पर चलने से पूर्व, पौंछने के लिए विधाता ने सोने के पायंदाज बना दिए हों ।

विशेष :—दर्शक की प्रथम दृष्टि आभूषणों पर ही पड़ेगी तत्पश्चात् वह उनको धारण करने वाले शरीर की ओर जाएगी ।

अलंकार :—हेतूत्प्रेक्षा तथा रूपक ।

खुभी—

सालति है नटसाल सी, क्यों हूँ निकसत नाँहि ।
मनमथ-नेजा-नोक सी, खुभी खुभी जिय माँहि ।।२६६।।

शब्दार्थ :—सालति है = पीड़ित करती है, नटसाल = टूटे हुए बाण की नोंक, नेजा = भाला ।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका की सखी से, नायक कहता है कि शरीर के भीतर प्रविष्ट हुए तीर की टूटी नौंक के समान ही, कामदेव के भाले की नोंक की भाँति उस (नायिका) की खुभी (कर्णाभरण) मेरे मन में चुभ गई है जो किसी भी प्रकार बाहर नहीं निकल पा रही है ।

अलंकार :—यमक तथा पूर्णोपमा ।

सुरासा (तरकी)—

लसै मुरासा तिय स्रवन, यों मुकतनु दुति पाइ ।
मानहुँ परस कपोल कैं, रहे स्वेद-कन छाइ ।।२६७।।

शब्दार्थ :– मुरासा = एक कर्णाभरण ।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका की सखी, नायक से कहती है कि नायिका के कानों में मोतियों से जड़ा हुआ मुरासा इस प्रकार शोभित हो रहा है मानों उसे (एक नायक के समान) नायिका के कपोल का स्पर्श करने के कारण (मोती रूप में) प्रस्वेद हो आया हो ।

विशेष :—साहित्यशास्त्र में प्रस्वेद को शृङ्गार रस में सात्त्विक अनुभाव के रूप में स्वीकार किया गया है ।

अलंकार :– सिद्धास्पद हेतूत्प्रेक्षा ।

मंगल बिन्दु सुरंगु, मुख ससि केसरि आड़ गुरु ।

इक नारी लहि संग, रसमय किय लोचन जगतु ॥२६८॥

शब्दार्थ :—मंगल = मंगल नक्षत्र-कल्याणकारी, सुरंगु = लाल, आड़ = आड़ा तिलक, गुरु = बृहस्पति, नारी = नारि-नाड़ी, रसमय = प्रेममय-जलमय ।

प्रसंग-भावार्थ :—नायक ने नायिका को आभूषणों से सजा हुआ देख लिया है अत: उसके मन में नायिका के प्रति प्रेम उत्पन्न हो गया है जिसके विषय में वह नायिका की सखी से कहता है कि सुन्दर लाल विन्दु रूपी मंगल, मुख रूपी चन्द्रमा, केसर की पीली आड़ रूपी वृहस्पति, इन तीनों (नक्षत्रों) को एक ही नारी ने ग्रहण करके (तीनों नक्षत्र एक ही नाड़ी में होने पर) मेरे लोचनों के संसार को रसमय (प्रेम तथा सजलता से युक्त) कर दिया है ।

विशेष :—मंगल लाल, बृहस्पति पीत तथा चन्द्रमा श्वेत रंग का होता है ।

अलंकार :—सांगरूपक, श्लेष तथा अनुप्रास ।

द्रष्टव्य—एकनाड़ी समारूढो चन्द्रमाधरणीसुतौ ।
यदि तत्र भवेज्जीवस्तदेकार्णविता मही ॥

(नरपति जयचर्या, अध्याय ३, श्लोक २९)

तरिबन-कनकु कपोल-दुति, बिच बीच ही बिकान ।

लाल लाल चमकति चुनीं, चौका-चीन्ह-समान ॥२६९॥

शब्दार्थ :—तरिवन = तालवर्ण-ताटंक, चौका = आगे के चार दाँत, चीन्ह = चिह्न ।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका नायक के पास से लौटकर आती है तब सखी उससे कहती है कि तेरे सुनहरे ताटंक तथा कपोलों की शोभा के बीच ही वह (नायक) तो बिक गए होंगे—अर्थात् देखते रह गए होंगे—क्योंकि इन ताटंकों की लाल चुन्नियों तथा तुम्हारे दाँतों के चौके की चकाचौंध के कारण उनके नेत्र आगे तक नहीं जा सके होंगे।

अलंकार :—पूर्णोपमा तथा अनुप्रास।

गोरी छिगुनी, नखु अरुनु, छला स्यामु छबि देइ।
लहति मुकति रति पलकु यह, नैन त्रिबेनी सेइ ॥२७०॥

शब्दार्थ :—छिगुनी=कनिष्ठिकांगुलि, मुकति रति=रति रूपी मुक्ति।

प्रसंग-भावार्थ :—नायक ने नायिका की कनिष्ठिकांगुलि में नीलमजटित छल्ला देखकर उसकी ओर आसक्त होकर, दूती से कहा है कि उसकी गोरी-गोरी उङ्गली, लाल-लाल नाखून तथा नीलम से जटित छल्ले की त्रिवेणी में क्षण भर को डूब कर ही नयनरति रूपी मोक्ष मिल जाता है।

विशेष :—जैसे मोक्ष प्राप्त होने पर लौकिक आकर्षणों के प्रति विरति हो जाती है वैसे ही नायिका की उंगली के छल्ले को देखकर मन सुधिबुधि भूलकर उसी में लीन हो जाता है।

अलंकार :—रूपक।

उर मानिक की उरबसी, डटत घटतु दृग-दागु।
छलकतु बाहिर भरि मनौ, तियहिय कौ अनुरागु ॥२७१॥

शब्दार्थ :—उरबसी = हमेल, डटत = दृष्टि स्थिर करते ही, दागु = दाह।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—नायिका की सखी नायक से कहती है कि उसके उरोभाग पर विभूषित मणिजटित उर्वशी पर जब दृष्टि स्थिर हो जाती है तब नेत्रों का दाह कम होने लगता है उसे देखकर प्रतीत होता है मानों उसके (नायिका के) मन का प्रेम उस हमेल (उर्वशी) के रूप में बाहर निकला पड़ रहा हो।

अलंकार :—उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा।

करत मलिन आछी छबिहिं, हरत जु सहज-बिकास ।
अंग राग अंगन लग्यौ, ज्यों आरसी उसास ॥२७७॥

शब्दार्थ :—आछी = अच्छी, अंगराग = केसर-चंदन आदि का लेप, आरसी = दर्पण ।

प्रसंग-भावार्थ :—सखी नायक से नायिका की कान्ति का वर्णन करती है कि केसर चन्दन आदि से निर्मित अंगराग उसकी नैसर्गिक कान्ति को म्लान कर देता है फलतः उसकी सहज छटा समाप्त हो जाती है जिस प्रकार शीशे के दर्पण को, देखने वाले की फूंक निष्प्रभ कर देती है ।

अलङ्कार :—उदाहरण ।

अंग अंग प्रतिबिम्ब परि, दरपनु से सब गात ।
दुहरे, तिहरे, चौहरे, भूषन जाने जात ॥२७८॥

प्रसंग-भावार्थ :—दूती नायक के निकट जाकर नायिका की देह छवि के विषय में कहती है कि उसके अंग प्रत्यंग दर्पण के समान अत्यन्त स्वच्छ और सुन्दर हैं अतः एक-एक अंग पर विराजित एक-एक आभूषण दुहरा-तिहरा तथा चौहरा तक लगता है ।

अलंकार :—उपमा ।

रंच न लखियत पहिरियैं, कंचन से तन बाल ।
कुम्हिलाने जानी परै, उर चम्पे की माल ॥२७९॥

शब्दार्थ :—रंच = तनिक, पहिरियैं = पहनने पर, कुम्हिलाने = मुरझाने पर ।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका के रूप-सौन्दर्य का वर्णन करते हुए नायक अपने किसी अन्तरङ्ग सखा से कहता है कि उसके सोने जैसे शरीर पर चम्पक पुष्पों की माला पहनने पर तो नहीं मालूम पड़ती किन्तु जब वह (कुछ समय पश्चात) मुरझा जाती है तब शरीर के ऊपर स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होने लगती है ।

अलंकार :—उपमा तथा उन्मीलित ।

[यौवनागम एवं युवावस्था]

तियतिथि तरुनि किशोरवय, पुन्य काल-सम दोनु ।
काहूँ पुन्यनु पाइयतु, बैस-संधि-संक्रोनु ।।२८०।।

शब्दार्थ :– दोनु = दोनों ही, वैस = आयु, संक्रोनु = संक्रमरग ।

प्रसंग-भावार्थ :—दूती नायक से नायिका के विषय में कह रही है कि उस नायिका रूपी तिथि में तारुण्य तथा किशोर दोनों ही अवस्थाओं की संयुक्त स्थिति पुण्यकाल के समान हो गई है । यह वयस्सन्धि का संक्रमण किसी विरले ही व्यक्ति को उसके पुण्यों के द्वारा उपलब्ध हो पाता है ।

विशेष :—वारह राशियों के अनुसार सूर्य अपने द्वादश रूपों में परिणत होता है । जब सूर्य एक राशि से दूसरी राशि की संधिरेखा को पार करता है उसे संक्रमण अथवा संक्रान्तिकाल कहते हैं । यह संक्रान्तिकाल पुण्यसूचक होता है ।

अलंकार :—अनुप्रास, उपमा तथा रूपक ।

टिप्पणी :—सूर्य पिण्ड का मध्यबिन्दु इस संधिरेखा को जितने क्षणों में पार करता है उतने क्षण अत्यन्त पवित्र माने जाते हैं ।

छुटी न सिसुता को झलक, झलक्यौ जोबनु अंग ।
दीपति देह दुहून मिलि, दिपति ताफता रंग ।।२८१।।

शब्दार्थ :—सिसुता = बाल्यकाल, झलक = छवि, दीपति = प्रकाशित होती है, ताफतारंग = धूपछाँही रंग ।

प्रसंग-भावार्थ :—दूती नायक से आकर कहती है कि अभी तक उसके (नायिका के) अंगों से शैशव की शोभा भी नहीं छूट पाई है कि यौवन भी उसके अंग प्रत्यंगों पर झलकने लगा है । उसकी देह शैशव तथा यौवन दोनों की अवस्थाओं से युक्त होने पर धूपछाँही रंग के समान सुशोभित हो रही है ।

विशेष :—वयःसंधिकाल का कवि ने यहाँ पर वर्णन किया है । नायिका की अभी मुग्धावस्था है न तो वह पूर्णतः शिशु ही है और न पूर्णतः युवा ।

अलंकार :—अनुप्रास तथा उपमा ।

नब नागरि तन-मुलुक लहि, जोबन-ग्रामिर-जौर।

घटि बढ़ि तैं बढ़ि घटि रकम, करीं ग्रौर की ग्रौर ॥२८२॥

शब्दार्थ :––मुलकु = देश, ग्रामिर = ग्रामिल-शासक, जौर = बली, रकम = पूंजी-जमा।

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी ग्राकर नायक से नायिका के देहसौन्दर्य का वर्णन करती है कि यौवन रूपी शक्तिशाली ग्रामिल (शासक) ने उस नवल नायिका के शरीर रूपी देश पर ग्रधिकार कर लिया है जिसके कारण ग्रंग प्रत्यंग रूपी रकम में घटाबढ़ी हो गई है।

विशेष :—यौवनागम पर नारी-देह के ग्रनेक लघु ग्रंग स्थूल तथा ग्रनेक स्थूल ग्रंग सूक्ष्म हो जाते हैं, जैसे नितम्ब, उरोज, कटि तथा नेत्र ग्रादि।

ग्रलंकार :—सांगरूपक।

देह दुलहिया की बढ़ै, ज्यौं ज्यौं जोबन-जोति।

त्यौं त्यौं लखि सौत्यैं सबैं, बदन मलिन दुति होति ॥२८३॥

शब्दार्थ :—दुलहिया = दुलहिन, वदन = मुख।

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि जैसे-जैसे यौवन की दीप्ति उस नव वधू (नायिका) के शरीर पर बढ़ती जाती है वैसे ही वैसे उसे देखकर उसकी सभी सपत्नियाँ म्लानवदन की ग्राभावाली हो जाती हैं।

ग्रलंकार :—उल्लास।

ग्रपने ग्रँग के जानि कै, जोबन-नृपति प्रबीन।

स्तन, मन, नैन, नितम्ब, कौ बड़ौ इजाफा कीन ॥२८४॥

शब्दार्थ :—ग्रंग = ग्रंतरंग, प्रवीन = चतुर, इजाफा = वृद्धि।

प्रसङ्ग-भावार्थ :––एक सखी नायक से कहती है कि यौवन रूपी चतुर राजा ने ग्रपने ग्रंतरंग पक्ष का जानकर नायिका के युवा होते ही, उसके स्तन, मन, नेत्र तथा नितम्बों की स्थिति में पर्याप्त संवृद्धि करदी है।

विशेष :—चतुर राजा जिस पर प्रसन्न होते हैं वे उनका ग्रोहदा बढ़ा दिया करते हैं।

ग्रलंकार :—रूपक।

तिय निय हिय जु लगी चलत, पिय-नख-रेख-खरौंट।
सूखन देत न सरसई, खौंटि-खौंटि खत-खौंट ॥२८५॥

शब्दार्थ :—निय = निज, खरौंट = खरौंच, खोंटि = उपाटकर, खत = घाव, खौंट = खुरंट।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—कोई सखी दूसरी सखी से कहती है कि उस नायिका के वक्षस्थल पर नायक ने जो नखक्षत बना दिया था उसको प्रियतम के गमन की स्मृति समझ कर वह कभी नहीं सूखने देती। जब-जब उस घाव पर खुरंट पड़ जाता है तब-तब वह उसे खरौंच कर उपाट देती है।

अलंकार :—लेश तथा अनुप्रास।

भावकु उभरौं हौं भयौ, कछु कु पर्यौ भरुआइ।
सीप हरां कें मिसि हियौ निसि दिन हेरत जाइ ॥२८६॥

शब्दार्थ :—भावकु = एकीभावेन-थोड़ा थोड़ा, उभरौंहौ = उभरने वाला, भरु = भार, सीपहरा = सीपियों से विनिर्मित हार, हियौ = वक्ष।

प्रसंग-भावार्थ :—दूती नायक को आकर कहती है कि उसके (नायिका के) वक्षस्थल पर अब कुछ उभार (उठान) होने वाली है क्योंकि उसके वक्षप्रान्त में कुछ भारीपन सा आ गया है। वह सीपियों से बने हुए हार के बहाने से बार-बार रात दिन अपने वक्षोभार की ओर देखती रहती है।

विशेष :—इस देखने की क्रिया में लाज तथा गर्व दोनों का ही मिश्रण है।

अलंकार :—पर्यायोक्ति-अपह्नुति।

लाल अलौकिक लरिकई, लखि लखि सखी सिहांति।
आजु कालिह में देखियतु, उर उकसौंहीं भांति ॥२८७॥

शब्दार्थ :—उकसौंहीं = उभरने वाला।

प्रसंग-भावार्थ :—दूती नायक से नायिका के विषय में कहती है कि हे लाल ! उसके इस अद्भुत लड़कपन को देखकर उसकी सखियां मन ही मन बहुत प्रसन्न होती हैं। मुझे तो ऐसा दिखाई पड़ रहा है कि आजकल में ही अर्थात् अत्यन्त शीघ्र ही उसके उरोजों में उभार होने वाला है।

अलङ्कार :—अनुप्रास तथा अनुमान।

लहलहाति तन तरु नई, लचि लग लौं लफि जाइ।
लगैं लाँक लोइन-भरी, लोइनु लेति लगाइ ॥२८८॥

शब्दार्थ :—लफि जाइ = झुक जाना, लोइन = लावण्य, लाँक = कटि, लोइनु = लोचन।

प्रसंग-भावार्थ :—दूती नायक से आकर कह रही है कि उस नायिका की देह तारुण्य के कारण नवीन लता के समान झुक-झुक कर मुड़ जाती है। उसकी कटि लावण्य से भरी हुई लगने के कारण दर्शकों के नेत्रों को अपनी ओर लगा लेती है।

अलङ्कार :—यमक, अनुप्रास तथा उपमा।

गाढ़ैं ठाढ़ैं कुचनु ठिलि, पिय-हिय को ठहराइ।
उकसौंहैं हीं तौ हियैं, दईं सबै उकसाइ ॥२८९॥

शब्दार्थ—गाढ़ैं = प्रगाढ़, ठाढ़ैं = उठे हुए, ठिलि=धक्का देकर, उकसाइ= उखाड़ कर।

प्रसंग-भावार्थ :—सखी नायिका से कहती है कि नायक के हृदय में जो अन्य नायिकाएं बसी हुई हैं, वे तेरे प्रगाढ़ रूप से खड़े हुए इन स्तनों के द्वारा नायक के आलिङ्गित किए जाने पर स्वयं ही हट जाएंगी। अर्थात् जैसे-जैसे तेरे यौवन का और अधिक विकास होगा वैसे-वैसे नायक अन्य नायिकाओं से विरक्त होकर तुझे ही अपना मन दे बैठेगा।

अलंकार :—संभावना तथा अनुप्रास।

[नायिका का रूप-छवि वर्णन]

केसरि कै सरि क्यौं सकै, चंपकु कितकु अनूपु।
गात-रूप लखि जातु दुरि, जातरूप कौ रूपु ॥२९०॥

शब्दार्थ :—केसरि = कुंकुम, सरि = सादृश्य, कितकु = कितना, गातरूप = तनद्युति, जातरूप = सोना।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका के रूप की प्रशंसा करते हुए, नायक अपने अन्तरंग सखा से कहता है कि केसर किस प्रकार उससे समता कर सकती है?

चम्पक पुष्प की छवि उसके सम्मुख कितनी अनूप है अर्थात् तनिक भी नहीं। उसके शरीर के रूप को देखकर तो सोने का रूप भी छिप जाता है।

विशेष :- कुंकुम, चम्पक तथा सोने का लगभग एकसा ही रंग रहता है। इस रंग को श्रेष्ठ कहा गया है। नायिका की शारीरिक आभा इस रंग से भी अधिक दीप्तिमान् है।

अलंकार :—यमक, अनुप्रास तथा प्रतीप।

कहि, लहि कौनु सकै दुरी, सौनजाइ में जाइ।
तन की सहज सुबास बन, देती जौ न बताइ ॥२९१॥

शब्दार्थ :—लहिसकै = पा सकता है, सौनजाइ = सोनजुही-चमेली।

प्रसङ्गभावार्थ :—नायिका के रूप की प्रशंसा करती हुई उसकी सखी नायक से कहती है कि जब वह सोनजुही के वन में जाकर छिप गई थी तब बताओ उसको कौन पा सकता था, यदि उसके शरीर की स्वाभाविक गन्ध उसकी उपस्थिति का संकेत न करती ?

विशेष :—सोनजुही तथा नायिका की रूपछवि दोनों एक ही रंग की हैं अतः भेद करना कठिन है, केवल छविगंध से ही यह अन्तर दूर हो पाता है।

अलंकार :—यमक तथा उन्मीलित।

वाहि लखैं लोइन लगै, कौन जुवति की जोति।
जाकैं तन की छाँह ढिग, जोन्ह छाँह सी होति ॥२९२॥

शब्दार्थ :—लखैं = देखने पर, लोइन लगै = नेत्रों को रुच जाएगी, ढिग = समीप।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका की सखी नायक से कहती है कि उसे (नायिका को) देख लेने पर और किसी की (नारी की) शोभा आँखों को नहीं भा सकती है। वह इतनी रूपवती है कि उसके शरीर की छाया के समीप होने पर चाँदनी भी छाया जैसी मालूम पड़ती है। अर्थात् रूप की छाया तथा चाँदनी दोनों एक सी हैं।

अलंकार :—उपमा (धर्मलुप्ता)।

रहि न सक्यौ, कसु करि रह्यौ, बस करि लीनौ मार।
भेदि दुसार कियौ हियौ, तन-दुति भेदै-सार ॥२६३॥

शब्दार्थ :—मार = स्मर, कामदेव; दुसार = दोनों ओर, भेदै सार = बरमा।

प्रसंग-भावार्थ :—नायक अपने अंतरंग सखा से कहता है कि पहले तो मैंने अपने मन को खींच कर दूर ही रक्खा किन्तु फिर उसे कामदेव ने अपने वश में कर लिया। उसकी (नायिका की) तन छवि ने बरमा वन कर मेरे मन के आरपार छेद कर दिया।

विशेष :—बरमा = बढ़ई का वह औज़ार है जो लकड़ी में आरपार छेद करने के लिए काम में लाया जाता है।

अलङ्कार :— रूपक तथा यमक।

कहा कुसुम, कह कौमुदी, कितिक आरसी जोति।
जाकी उजराई लखैं, आँखि ऊजरी होति ॥२६४॥

शब्दार्थ :—कितिक = कितनी, आरसी = दर्पण।

प्रसंग-भावार्थ :—नायक अपने सखा से नायिका के रूप का वर्णन करता है कि उसके सामने क्या तो कुसुम है और क्या चाँदनी और क्या आरसी (दर्पण) की शुभ्र चमक है ?—अर्थात् ये सब उसके सम्मुख व्यर्थ हैं। उसके शरीर की कांति को देख लेने पर तो आँखें भी उजली, कान्तिमान हो जाती हैं।

अलंकार :—प्रतीप तथा अनुप्रास।

हौं रीझी, लखि रीझिहौ, छबिहिं छबीले लाल।
सोनजुही-सी होति दुति, मिलति मालती माल ॥२६५॥

शब्दार्थ :—लखि = देखकर, रीझिहौ = आकर्षित हो जाओगे।

प्रसंग-भावार्थ :—दूती नायक के पास आकर नायिका के रूप की प्रशंसा करते हुए कहती है कि मैं तो उसे देखकर रीझ चुकी हूँ पर तुम भी उसे देख लेने पर अवश्य आकर्षित हो जाओगे। हे छबीले लाल ! उसकी छवि इतनी सुन्दर है कि मालती के पुष्पों की (श्वेत) माला भी उसका स्पर्श पाकर सोनजुही के रंग की (पीली) हो जाती है।

विशेष :—पीला रंग पड़ना भय तथा पराभव का द्योतक होता है अतः एक

ओर तो मालती की माला भय से पीली पड़ती हैं तो दूसरी ओर नायिका के रंग का अनुसरण करने से पीली हो जाती हैं।

अलङ्कार :—तद्गुण तथा अनुप्रास।

फिरि फिरि चितु उतहीं रहतु टुटी लाज की लाव।
अंग अंग छबि-झौंर मैं, भयौ भौंर की नाव ॥२६६॥

शब्दार्थ :—टुटी = टूट गई है, लाव = रस्सी, झौंर = समूह, भौंर = भंवर।

प्रसंग-भावार्थ :—नायक अपने अन्तरंग सखा के पास आकर कहता है कि मेरा मन तो फिर-फिर कर उधर ही (नायिका की ओर) चला जाता है। क्योंकि अब लाज और मर्यादा की रस्सी तो टूट चुकी है। यह मन उसके अंग प्रत्यंग की छवियों के समूह पर आकर्षित होकर भंवर के बीच फंसी हुई नाव बनकर रह गया है।

विशेष :—प्रायः जब नदी में पानी अधिक मात्रा में होता है तो नौका को चलाते समय एक नाविक किनारे-किनारे हाथ में रस्सी को जो कि नाव से बंधी होती है, पकड़ कर चलता है ताकि नाव डूब न जाए, किन्तु जैसे ही वह रस्सी टूट जाती हैं वैसे ही नाव भंवर में जा फंसती है।

अलंकार :— अनुप्रास तथा साङ्गरूपक।

कंचनु तनु घनु बरनु वह, रह्यौ रंगु मिलि रंगु।
जानी जाति सुबास हीं, केसरि ल्याई अंगु ॥२६७॥

शब्दार्थ :—कंचनु = सोना, घनु = घना, सुबास = सुगंध, श्वासप्रश्वास, ल्याई = लगी हुई।

प्रसंग-भावार्थ :—किसी सखी ने आकर नायक से नायिका के सौन्दर्य की प्रशंसा करते हुए कहा है कि उसके कांचन शरीर और श्रेष्ठ रंग में, केसर का रंग इस प्रकार आकर मिल गया है कि वह केवल सुगन्ध अथवा उसके श्वास लेने पर ही जानी जाती है।

अलंकार :—उन्मीलित तथा श्लेष।

बाल छबीली तियनु में, बैठी आपु छिपाइ ।

अरगट ही फानूस सी, परगट परै लखाइ ॥२९८॥

शब्दार्थ :—अरगट ही = अलग से ही, फानूस = काँच के घेरे में रखा हुआ दीपक ।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका के रूप की प्रशंसा करती हुई उसकी एक सखी, नायक से कहती है कि वह छबीली बाला अन्य स्त्रियों के बीच में स्वयं को छिपाकर बैठ गई है किन्तु फिर भी वह अलग से ही काँच के घेरे में से चमकने वाले दीपक की भाँति प्रकाश कर रही है ।

अलंकार :—उपमा, विशेषोक्ति तथा अनुप्रास ।

दीठि न परत समान दुति, कनक कनक से गात ।

भूषन कर करकस लगत, परस पिछाने जात ॥२९९॥

शब्दार्थ :—दीठि न परत = दिखाई नहीं पड़ते, कनक = सोना, कनक= लघु, करकस = कठोर ।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका की सखी नायक से कहती है कि उसके (नायिका के) लघु-लघु अंगों तथा स्वर्णाभूषणों की द्युति एक ही प्रकार की है अतः कोई अन्तर नहीं दिखाई पड़ता है । आभूषणों की पहचान तभी हो पाती है जब कि हाथ के स्पर्श के द्वारा उनकी कठोरता का अनुभव हो ।

विशेष :—अंग सुकुमार हैं तथा आभूषण धातुनिर्मित होने के कारण कठोर ; अतः स्पर्श ही दोनों का विभाजक है रंग नहीं ।

अलंकार :—उन्मीलित ।

अंग अंग छबि की लपट, उपटति जाति अछेह ।

खरी पातरीऊ तऊ, लगै भरी-सी देह ॥३००॥

शब्दार्थ :—उपटति जाति = प्रकट होती जाती है, खरी = अत्यन्त, पातरीऊ = पतली भी ।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—सखी नायक से नायिका के विषय में कहती है कि उसके अंग प्रत्यंग पर आभूषण सजे हुए हैं अतः उनकी छवि के प्रकट होने पर वह अत्यंत तन्वंगी होकर भी स्थूल शरीर वाली-सी दिखाई पड़ती है ।

अलंकार :—अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा, काव्यलिङ्ग तथा विभावना।

खरी लसति गोरी गरैं, धँसति पान की पीक।

मनौं गुलूबँद लाल की, लाल लाल दुति लीक ॥३०१॥

शब्दार्थ :—खरी लसति = बहुत अच्छी लगती है, धंसति = प्रविष्ट होती हुई, पीक = पान का रस, गुलूबन्द = एक कण्ठाभरण विशेष।

प्रसंग-भावार्थ :—सखी नायक के समीप जाकर नायिका के रूप सौन्दर्य का वर्णन करती है कि उस गौराङ्गी के शुभ्र कण्ठ में पान की लाल पीक जब प्रविष्ट होती है तो उसकी झलक बाहर तक दिखाई पड़ने लगती है जिसे देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानों लाल-लाल माणिक्य से जड़ी हुई कण्ठी (गुलूबन्द) की आभा ही दृष्टिगत हो रही हो।

अलंकार :—उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा तथा पुनरुक्ति।

रूप-सुधा-आसव छक्यौ, आसव पियत बनै न।

प्यालैं ओठ, प्रिया बदन, रह्यौ लगाएँ नैन ॥३०२॥

शब्दार्थ :—सुधा = अमृत, आसव = मदिरा।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—एक सखी दूसरी सखी से नायक की नायिका के प्रति रूपासक्ति देखकर कहती है कि वह सौन्दर्यरूपी अमृत के आसव से इतना तृप्त हो गया है कि अब उससे साधारण मदिरा का पान करते नहीं बनता। उसके अधर तो मदिरा के प्याले से लगे हुए हैं किन्तु नेत्र प्रियतमा (नायिका) के मुख पर जाकर टिक गए हैं।

अलंकार :—रूपक तथा तुल्ययोगिता।

तो तन अवधि-अनूप, रूप लग्यौ सब जगत कौ।

मो दृग लागे रूप, दृगनु लगी अति चटपटी ॥३०३॥

शब्दार्थ :—तो = तुम्हारा, अवधि-अनूप = अनूपता की चरमसीमा, चटपटी = सुन्दर।

प्रसंग-भावार्थ :—नायक नायिका के रूप पर मुग्ध होकर उसे प्रेमपत्रिका भेजता है जिसमें वह लिखता है कि तुम्हारा शरीर अद्भुत रूप की चरमसीमा बन गया है, उसमें संसार भर का सौन्दर्य आकर समा गया है। मेरे इन सौन्दर्य-

प्रिय नेत्रों को तुम अत्यन्त ही सुन्दर लगती हो।

अलंकार :—श्लेष तथा मालादीपक।

छाले परिबे कें डरनु, सकै न हाथु छुआइ।
झझकति हिएँ, गुलाब कैं, झवाँ झवैयति पाइ ॥३०४॥

शब्दार्थ :—छाले = फलक, डरनु = भय से, झँवा = महावर रचाने की सींक, झवैयति = फिराती है।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका के चरणों की सुकुमारता के विषय में कोई सखी, नायक से कहती है कि नाइन उसके पगों में कहीं फलक न पड़ जाएं इस डर से अपने हाथों का, जो कि कठोर हैं, स्पर्श नहीं होने देती। वह गुलाब के फूल से बने हुए झाँवे के द्वारा अत्यन्त झिझक और संकोच के साथ, कि कहीं इससे भी उसके पगों में पीड़ा न हो, पैरों को साफ़ कर रही है।

अलंकार :—अतिशयोक्ति।

त्यौं त्यौं प्यासेई रहत, ज्यौं ज्यौं पियत अघाइ।
सगुन सलौने रूप की, जु न चख-तृषा बुझाइ ॥३०५॥

शब्दार्थ :—प्यासेई = तृषित ही, अघाइ = तृप्त होकर, सगुन = गुणयुक्त।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका के रूप को नायक बार-बार देखना चाहता है। इसी बात को वह उसकी सखी से कहता है कि जैसे-जैसे मेरे नेत्र उसकी दृष्टि तथा रूपछवि को देख-देखकर तृप्त होते हैं वैसे ही वैसे उनकी प्यास और भी अधिक बढ़ती जाती है क्योंकि उसका (नायिका का) रूप गुणयुक्त तथा सलौना (लावण्यमय) है।

विशेष :—लवणयुक्त जल से कभी तृषा शान्त नहीं होती।

अलंकार :—विरोधाभास, श्लेष तथा विशेषोक्ति।

अरुन-बरन तरुनी-चरन, अँगुरी अति सुकुमार।
चुवत सुरँगु रँगु सी मनौ, चपि बिछियनि कैं भार ॥३०६॥

शब्दार्थ :—अरुन बरन = लाल रंग के, सुरंग = अलक्तक-महावर, चपि = दबकर।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका की सखी ने नायक के समीप आकर उसके

(नायिका के) सौन्दर्य की प्रशंसा की है कि उस तरुणी के चरणों की उंगलियाँ लाल रंग की हैं तथा अत्यन्त ही सुकुमार हैं क्योंकि जब-जब वे बिछुओं के भार से दबती हैं तब-तब ऐसा लगता है मानों उनमें से महावर का रंग (रक्तिम) बह निकला हो।

अलंकार :—काव्यलिङ्ग तथा सिद्धास्पद हेतूत्प्रेक्षा।

लिखन बैठि जाकी सबी, गहि गहि गरब गरूर।
भए न केते जगत के, चतुर चितेरे कूर ॥२०७॥

शब्दार्थ :—लिखन बैंठि = बनाने को बैठे, सबी = चित्र, गरूर = अभिमान, कूर = मूढ़।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका की सखी नायक से नायिका के अप्रतिम सौन्दर्य के विषय में कहती है कि बड़े-बड़े प्रसिद्ध तथा चतुर चित्रकार संसार भर में से उसका चित्र बनाने के लिए साभिमान आकर बैंठ गए परन्तु वे उसकी छवि का सही अङ्कन न करने के कारण मूढ बन-बनकर लौट गए।

विशेष :—नायिका का सौन्दर्य गत्यात्मक है। चित्रकला में गतिप्रधान वस्तु का रूपांकन करना कठिन है। ऐसे ही सौन्दर्य के लिए महाकवि माघ ने कहा है, "क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेवरूपं रमणीयता या"।

अलंकार :—वक्रोक्ति, विशेषोक्ति तथा अतिशयोक्ति से पुष्ट अनुप्रास।

तुलनात्मक :—"सगरब गरब खिचैं सदा, चतुर चितेरे आय।
पर बाकी बाँकी अदा, नेकु न खीची जाय॥"

—शृङ्गार सप्तशती

भूषन भारु सँभारिहै, क्यौं इहिं तन सुकुमार।
सूधे पाइ न धर परैं, सोभा ही कैं भार ॥३०८॥

शब्दार्थ :—भूषन = अलंकार, इहिं = इस पर, धर = धरती।

प्रसंग-भावार्थ :—नायक नायिका को देखकर उसकी सखी से कहता है कि इसका सुकुमार शरीर आभूषणों के भार को कैसे संभाल सकता है? इसके चरण तो इसकी शोभा के भार से ही इतने दब गए हैं कि धरती पर चलते समय सीधे नहीं पड़ पाते।

अलंकार :—काकुवक्रोक्ति।

कन दैबौ सौंप्यौ ससुर, बहू थुरहथी जानि।

रूप रहँचटे लगि लग्यौ, माँगन सबु जगु आनि ॥३०९॥

शब्दार्थ :—कन = कण-भिक्षान्न, सौंप्यौ = समर्पित किया, थुरहथी = छोटे हाथों वाली, रहँचटे = लोभी।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका के छोटे-छोटे हाथों की प्रशंसा में नायिका की सखी नायक से कहती है कि उसके ससुर ने उसे छोटे हाथों वाली जानकर भिक्षा देने के लिए नियुक्त कर दिया ताकि उसके हाथों से अल्पमात्रा में भिक्षान्न घर के बाहर जा सके, किन्तु रूप का लोभी होने कारण सारा संसार उसके पास आकर भिक्षा माँगने लगा।

अलंकार :—विषादन।

मैं बरजी कैबार तूँ, इति कित लेति करौट।

पँखुरी लगैं गुलाब की, परिहै गात खरौट ॥३१०॥

शब्दार्थ :—बरजी = निषेध किया, करौट = करवट, खरौट = खरौंच।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—नायक तथा नायिका दोनों एक ही शैया पर सो रहे हैं। मानवती नायिका नायक की ओर अपनी पीठ करके सखी की ओर करवट लेती है तो वह (सखी) कहने लगती है कि मैंने तुझसे कितनी बार मना किया है कि तू इधर करवट मत ले नहीं तो गुलाब की पंखुरियों, जो कि सेज पर पड़ी हैं, के स्पर्श हो जाने से तेरे शरीर में खरौंचें पड़ जाएंगी।

अलंकार :—सम्बन्धातिशयोक्ति।

न जक धरत हरि हिय धरैं, नाजुक कमला बाल।

भजत, भार-भय-भीत ह्वै, घनु, चंदनु, बनमाल ॥३११॥

शब्दार्थ :—जक = चैन, धरैं = धारण करने पर, नाजुक = सुकुमार, भजत = सेवन करते हैं।

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी दूसरी सखी से नायिका का रूप वर्णन करते हुए कहती है कि जब से हरि (नायक) ने उस कोमल बाला लक्ष्मी (कमला, कमल के समान सुकोमल) को हृदय में धारण किया है तब से उन्हें घन, चन्दन

तथा वनपुष्पों की माला धारण करने में भी भय लगता है कि कहीं वह उनके भार से दब न जाए।

विशेष :—कमला का साभिप्राय विशेष्य रूप में प्रयोग किया गया है।

अलंकार :—सिद्धास्पद हेतूत्प्रेक्षा, परिकरांकुर तथा श्लेष।

दुसह सौति-सालैं सुहिय, गनति न नाह-बियाह।
धरे रूप गुन कौ गरबु, फिरै अछेह उछाह ॥३१२॥

शब्दार्थ :—दुसह = असह्य, सौति = सपत्नी, सालै = कष्ट देना, गनति= मानती है, नाह = नाथ, अछेह उछाह = पूर्ण उत्साह के साथ।

प्रसंग-भावार्थ :—नायक के दूसरे विवाह की तैयारियाँ देखकर भी नायिका अत्यन्त उत्साहमयी ही दिखाई पड़ती है, इस पर एक सखी दूसरी से कहती है कि यद्यपि सपत्नी का दुःख सबसे अधिक पीड़ा देने वाला होता है किन्तु फिर भी उसे (नायिका को) उसका तनिक भी ध्यान नहीं है, क्योंकि उसे अपने रूप एवं गुणों पर अभिमान है। वह समझता है कि नव वधू में उसकी बराबर न तो रूप ही है और न गुण।

अलंकार :—विभावना।

लाई, लाल बिलोकिऐ, जिय की जीवन-मूलि।
रही भौन के कौन में, सोनजुही-सी फूलि ॥३१३॥

शब्दार्थ :—भौन = भवन, कौन = कोना।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका के विषय में दूती नायक से कहती है कि हे लाल ! चलकर देखिए मैं आपके जीवन की मूल उस नायिका को लेकर आई हूं जो कि घर के कोने में बैठी हुई सोनजुही के फूल के समान विकसित हो रही है।

अलंकार :—रूपक तथा उपमा।

(पतिप्रेमपरा-नायिका वर्णन)

दहैं निगोड़े नयन ये, गहैं न चेत अचेत।
हौं कसिकैं रिसहैं करौं, ये निसिखे हँसि देति ॥३१४॥

शब्दार्थ :—निगोड़े = चंचल, निसिखे = न सीखने वाले।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका अपनी सखी से कहती है कि मेरे ये नेत्र जलें तो जल जाएं क्योंकि ये बेसुध कुछ समझने की चेष्टा ही नहीं करते हैं। मैं इन्हें बलपूर्वक क्रुद्ध होने के लिए कहती हूँ पर ये कुछ न सीखने वाले पागल नेत्र अपने स्वभाव के कारण हंस देते हैं।

विशेष :—नेत्रों के द्वारा मनोभावों का परिचय भली प्रकार जान लिया जाता है।

अलंकार :—विभावना।

खिचैं मान अपराध हूँ, चलि गैं बढ़ैं अचैन।

जुरत डीठि, तजि रिस खिसी, हँसे दुहुनु के नैन ॥३१५॥

प्रसंगभावार्थ :—एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि नायिका मान तथा नायक अपराध के कारण एक दूसरे से परस्पर खिंचे-खिंचे थे किन्तु जैसे ही दोनों की बेचैनी बढ़ी वैसे ही उनकी दृष्टियाँ जुड़ गईं। नायिका ने क्रोध तथा नायक ने खीझ को त्याग कर एक दूसरे को सस्मित दृष्टियों से अनुरागमय होकर देखा।

अलंकार :—यथाक्रम तथा अतिशयोक्ति।

तु हूँ कहति, हौं आपु हूँ, समुझति सबै सयानु।

लखि मोहनु जौ मनु रहै, तौ मन राखौं मानु ॥३१६॥

प्रसंगभावार्थ :—नायिका अपनी सखी से कहती है कि तुम जो समझती हो उसे मैं भी भली प्रकार समझती हूँ पर इस मन के लिए क्या करूं जो मनमोहन को देखकर उन्हीं के पास रह गया है। जब मन ही मेरे पास नहीं तो मान कहाँ और किस पर करूं ?

अलंकार :—विशेषोक्ति।

मोँहि लजावत, निलज ए, हुलसि मिलत सब गात।

भानु-उदै की ओस लौं, मानु न जानति जात ॥३१७॥

शब्दार्थ :—उदै = उदय।

प्रसंगभावार्थ :—नायिका अपनी अंतरंग सखी से कहती है कि मैंने सदा तुम्हारे कहने पर नायक से मान किया है पर मेरे ये अंग नेत्र, कपोल, भुजाएं

तथा कुच तो इतने निर्लज्ज हैं कि उनके नेत्र, कपोल, भुजाओं तथा वक्ष से तुरन्त उल्लसित होकर प्रगाढ़ मिलन कर लेते हैं और मुझे लज्जित कराते हैं। पता नहीं तब तक प्रात:काल के सूर्योदय में सूख जाने वाली ओस के समान वह मान कहाँ चला जाता है।

अलंकार :—उपमा।

(प्रेमोत्कण्ठानायिका-वर्णन)

नभ लाली चाली निसा, चटकाली धुनि कीन।
रति पाली आली अनत, आए बन-मालीन ॥३१८॥

शब्दार्थ :—रति पाली = प्रेम किया, अनत = अन्यत्र।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—नायिका अपनी सखी से कहती है कि आकाश में एक ओर सूर्योदय की अरुणिमा छागई है, दूसरी ओर निशान्त हो रहा है तथा पक्षियों के समूह ने गुंजन करना प्रारम्भ कर दिया है किन्तु वनमाली कृष्ण अभी तक नहीं आए। हे सखी लगता है उन्होंने रात में कहीं अन्यत्र किसी से प्रेम किया है।

अलंकार :— अनुमान तथा अनुप्रास।

दच्छिन पिय, ह्वै बाम-बस, बिसराई तिय आन।
एकै वाषरि कैं बिरह, लागी बरष बिहान ॥३१९॥

शब्दार्थ :—दक्षिण = उदार।

प्रसंगभावार्थ :—सखी नायक से कहती है है कि तुम तो दक्षिण प्रिय थे परन्तु किसी अन्य वामा के वशीभूत होकर अपनी पत्नी तथा एकनिष्ठ प्रेम की प्रतिज्ञा को भूल बैठे। उस बेचारी को तुम्हारे बिछोह में एक दिवस एक वर्ष के समान बिताना पड़ रहा है।

विशेष:—सुख में समय शीघ्रतापूर्वक तथा दु:ख में विराम लेकर बीतता है।

अलङ्कार :—विरोधाभास तथा अत्युक्ति।

मोहि दयौ, मेरौ भयौ, रहतु जु मिलि जिय साथ।
सो मनु बाँधि न सौंपियै, पिय, सौतिहिं कैं हाथ ॥३२०॥

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका परकीया में अनुरक्त नायक से कहती है कि मैंने ही तुम्हारे दिए हुए हृदय को पहले लिया था और अपने समीप किया था जो तब से अब तक साथ-साथ रह रहा है। उस दिए हुए मन को अब किसी और को मत दो क्योंकि मेरा मन भी उससे बंध गया है और अब उसके बिना नष्ट हो जाएगा।

अलंकार :—काव्यलिङ्ग तथा 'न सौंपिए' में श्लेष।

आपु दियौ मनु फेरिलै, पलटैं दीनी पीठि।
कौन चाल यह रावरी, लाल, लुकावत डीठि ॥३२१॥

शब्दार्थ—दीनी पीठि = उदासीन हो गए, रावरी = आपकी, लुकावत = छिपाते हो, डीठि = दृष्टि।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—नायिका ने नायक से कहा कि आपने पहले तो मुझे अपना मन दे दिया फिर उसे वापस लेकर पीठ दिखाने लगे। आपकी यह कौन सी नीति है जिसके कारण मुझसे अपनी दृष्टि (संकोचवश) छिपा रहे हो ?

अलंकार :—काव्यलिङ्ग तथा लोकोक्ति।

(ग्रामीणा-नायिका-वर्णन)

ज्यौं कर, त्यौं चिकुटी चलति, ज्यौं चिकुटी, त्यौं नारि।
छबि सौं गति सी लै चलति, चातुर कातनि-हारि ॥३२२॥

शब्दार्थ :-- चिकुटी = चुकटी, नारि = कण्ठ, स्त्री।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—एक सखी अन्य सखी से कहती है कि वह चतुर, कातने वाली नायिका जैसे-जैसे अपना हाथ चलाती है वैसे ही वैसे उसकी चुटकियों की गति तीव्र होती जाती है, और ज्यों-ज्यों उसकी चुटकी चलती है त्यौं-त्यौं ही उस नारी की ग्रीवा भी मुड़ती जाती है। ऐसा लगता है मानों वह नायिका इस प्रकार चरखे के साथ-साथ नृत्य की गतियों का छविमय अभिनय कर रही हो।

अलंकार :—वीप्सा तथा अनुक्तास्पद वस्तूत्प्रेक्षा।

अहे, दहैंड़ी जिनि धरै, जिनि तूँ लेहि उतारि।
नींकैं है छीकैं छवै, ऐसैंई रहि नारि ॥३२३॥

शब्दार्थ :—दहैंड़ी = दधिपात्र, जिनि = मत, छींका = सींका।

प्रसंग-भावार्थ :—नायक नायिका से कहता है कि तू न तो छींके पर इस दधिपात्र को रख और न ही इसे नीचे उतार। तू इसी शोभामय मुद्रा में छींके का स्पर्श करती हुई खड़ी रह।

विशेष :—इस प्रकार की मुद्राविशेष में नायिका की त्रिवली, नाभि तथा उरोज दिखाई पड़ते हैं, नायक उसी मुद्रा को देखते रहना चाहता है।

अलंकार :—स्वभावोक्ति।

देवर-फूल-हनै जु, सु सु उठे हरषि अँग फूलि।

हँसी करति औषधि सखिनु, देह-ददोरनि भूलि ॥३२४॥

शब्दार्थ :—ददोरनि = ददोरा।

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी अन्य सखी से कहती है कि देवर ने भाभी (नायिका) के ऊपर जो फूल परिहास में मारे थे उनके कारण उसके अंग-प्रत्यंगों पर ददोरे दिखाई पड़ने लगे। उसकी सखियाँ इस मज़ाक को न समझ कर उसे वस्तुत: रोगिणी समझ कर उसके ददोरों का निदान कर रही हैं।

अलंकार :—भ्रान्तिमान तथा अप्रस्तुत प्रशंसा।

और सबै हरषी हँसँति, गावँति भरी उछाह।

तुहीं, बहू, बिलखी फिरै, क्यौं देबर कैं ब्याह ॥३२५॥

शब्दार्थ :—उछाह = उत्साह।

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी नायिका से कह रही है कि और सभी स्त्रियाँ तो हर्षित तथा सस्मित होकर उत्साहपूर्वक विवाह के मंगलगीत गारही हैं परन्तु हे वधू ! (नायिके !) केवल तू ही क्यों देवर के विवाहोत्सव में विकल, व्यथित-सी दिखाई पड़ रही है ?

विशेष :—नायिका को देवर से प्रेम है।

अलंकार :—प्रहर्षण तथा विषादन।

फिरि फिरि बिलखी ह्वै लखति, फिरि फिरि लेति उसाँस।

साँई ! सिर-कच-सेत लौं, बीत्यौ चुनति कपास ॥३२६॥

शब्दार्थ :—साँई = स्वामी-नायक, कच सेत लौं = श्वेत केशों के समान,

बीत्यौ = समाप्त हो गया ।

प्रसंग-भावार्थ :—कोई सखी नायक से आकर नायिका के विषय में कह रही है कि वह रह-रह कर दुखित सी दिखाई पड़ रही है और फलतः दीर्घ निःश्वास ले रही है । वह कपास के सफेद-सफेद झब्बों को उसी प्रकार निराश होकर चुन रही है जैसे कोई व्यक्ति अपने केशों में से श्वेतकेशों को खींच-खींचकर दुःखी होता है ।

विशेष—श्वेतकेशता आसन्नावसान की प्रतीक है । नायिका को कपास चुनने का दुःख इसलिए है कि अब वह खेत पर आकर नायक से नहीं मिल सकेगी ।

अलंकार :—उपमा ।

परतिय-दोषु पुरान सुनि, लखि मुलकी सुख दानि ।
कसु करि राखी मिश्र हूँ, मुँह-आई मुसकानि ॥३२७॥

शब्दार्थ :—मुलकी = मुस्कराने लगी ।

प्रसंग-भावार्थ :—किसी पुराणवाचक की प्रेमिका ने जब यह सुना कि वह परस्त्री के प्रेम को दोष के रूप में जनता के सम्मुख कह रहा है तो वह सुखदायिनी नायिका रहस्यमय रूप से मुस्कराने लगी । यह देखकर वह मित्र (कथावाचक प्रेमी) भी अपने मुंह पर आई मुस्कराहट को जैसे-तैसे रोककर कथावाचन करता रहा ।

विशेष : – यदि पण्डित भी नायिका के प्रत्युत्तर में मुस्करा देता तो सब पर भेद खुल जाता कि दोनों एक दूसरे को प्रेम करते हैं तथा पण्डित का यह उपदेश भी पाखण्ड है ।

अलंकार :—सूक्ष्म ।

ओठु उंचै, हाँसी-भरी दृग, भौंहनु की चाल ।
मो मनु कहा न पीलियौ, पियत तमाकू, लाल ॥३२८॥

शब्दार्थ :—ऊंचै = ऊंचा करके ।

प्रसंग-भावार्थ :—कोई ग्राम्या नायिका अपनी सखी से कहती है कि नायक ने ओठों को ऊंचा करके, नेत्रों में हंसी भरते हुए तथा भौंहों को चलाते हुए तम्बाकू को क्या पिया, साथ में मेरे मन को भी पी लिया ।

अलंकार :—सूक्ष्म तथा अपह्नुति ।

रबि बंदौ करि जोरि, ए सुनत स्याम के बैन ।
भए हँसौहैं सबनु के, अति अनखौंहैं नैन ॥३२६॥

शब्दार्थ :—अनखौंहैं = अनख भरे ।

प्रसंग-भावार्थ :—जब गोपियाँ यमुना में स्नान कर रही थीं तभी श्याम ने आकर उनके वस्त्रों का अपहरण किया। गोपियों की प्रार्थना पर उन्होंने रवि की वन्दना हाथ जोड़कर करने के लिए कहा। उनके इन वचनों को सुनकर, एक सखी दूसरी से कहती है कि, उन सभी के अनखभरे नेत्रों में हास्य का उदय हो उठा ।

अलंकार :—पर्यायोक्ति ।

गोरी गदकारी परैं, हँसति कपोलनु गाड़ ।
कैसी लसति गँवारि यह, सुन किरवा की आड़ ॥३३०॥

शब्दार्थ :—गदकारी = पुष्ट, गाड़ = गड्ढा, सुनकिरवा = वर्षा में होने वाला कीड़ा जिसका सिंदूरी रंग होता है, आड़ = तिलक ।

प्रसंग-भावार्थ :—किसी ग्रामीण नायिका को देखकर कोई नागरिक सखी अपनी सखी से कहती है कि इस गोरी तथा सुपुष्ट ग्रामीण नायिका के हंसने पर कपोलों में गड्ढे पड़ जाते हैं। अरी देख तो सही इसके माथे पर यह सुनकिरवा नामक कीड़े की पंखों का तिलक कैसा सुन्दर लगा रहा है जिससे यह कितनी भली दिखाई पड़ रही है ?

अलंकार :—स्वभावोक्ति तथा अनुप्रास ।

कहति न देबर की कुबत, कुलतिय कलह डराति ।
पंजर-गत मंजार-ढिग, सुक ज्यौं सूकति जाति ॥३३१॥

शब्दार्थ :—कुबत = बुरी बात, तिय = वधू, मंजार = मार्जार, सुक = तोता ।

प्रसङ्ग-भावार्थ:—एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि कुलवधू (स्वकीया नायिका) अपने देवर की बुरी बातों को गृहकलह और पारिवारिक मर्यादा के कारण कहने में डरती है। वह नित्य प्रति, पिंजरे में बंधे हुए उस तोते की

भाँति ही सूखती जा रही है जिसके निकट ही कोई मार्जार आ बैठा हो।

अलंकार :—पूर्णोपमा तथा अनुप्रास।

पहुला-हारु हियैं लसैं, सन की बेंदी भाल।
राखति खेत खरे खरे, खरे-उरोजनु बाल॥३३२॥

शब्दार्थ :—पहुला = प्रफुल्ल।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—दूती नायक से आकर कहती है कि उसके (नायिका के) कण्ठ में प्रफुल्ल पुष्पों का हार शोभित हो रहा है तथा माथे पर सन के फूल की बेंदी झिलमिला रही है। वह खड़े खड़े उरोजों वाली नायिका खड़ी होकर अपने खेत की रक्षा कर रही है।

अलंकार :—दीपक, वीप्सा, स्वभावोक्ति, यमक तथा पर्यायोक्ति।

गदराने तन गोरटी, ऐपन आड़ लिलार।
हूठ्यौ दै, इठलाइ-दृग, करै गँवारि सुवार॥३३३॥

शब्दार्थ :—ऐपन = चावल और हल्दी का पिष्टचूर्ण, हूठ्यौ दै = ग्राम्य चेष्टाएं कर करके।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि उस गौराङ्गी नायिका का शरीर गदराया हुआ है तथा उसके माथे पर ऐपन का टीका शोभित हो रहा है। ग्राम्यचेष्टाएं करती हुई, नेत्रों को इठलाकर वह गँवारिन नायिका चातुर्यपूर्ण वार (प्रहार) कर रही है।

अलंकार :—स्वभावोक्ति।

(पड़ौसिनि नायिका-वर्णन)

छला परौसिनि हाथ तैं, छलु करि, लियौ पिछानि
पियहिं दिखायौ लखि बिलखि, रिस सूचक मुसकानि॥३२४॥

शब्दार्थ :—छला = छल्ला, पिछानि = पहचान लिया, रिस=क्रोध।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि जब नायिका ने अपनी पड़ौसिन की उंगली में नायक द्वारा दिए हुए अपने छल्ले को चुपचाप छलपूर्वक पहचान लिया तो उसने उसे ध्यान से देखकर, दुःखी होते हुए तथा क्रोधसूचक मुस्कराहट के साथ नायक को (लज्जित करने के लिए) दिखाया।

अलंकार :—सूक्ष्म।

डीठि परौसिनि ईठि ह्वै, कहै जु गहे सयानु ।
सबै सँदेसे कहि कह्यौ, मुसकाहट मैं मानु ।।३३५।।

शब्दार्थ :—ईठि = इष्ट, सयानु = चतुराई ।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—सखी सखी से कहती है कि जब नायक नायिका को छोड़कर विदेश जाने लगा तो उसे रोकने के लिए नायिका ने अपनी पड़ौसिनि (जिससे नायक प्रेम करता था) को भेजा। उस पड़ौसिनि ने इष्ट अवसर जानकर पहले प्रेम की स्मृति दिलाकर नायक को चतुराई से रोक लिया तथा साथ ही उसकी स्मृति भी दिलाई कि पहले नेत्र मिलाने पर नायिका ने क्रोध किया था पर अब तो स्वयं ही उसने उन दोनों को निर्द्वन्द्व रमण करने के लिए अवसर दिया है। इस प्रकार नायक को रोकती हुई वह (पड़ौसिनि) नायिका मुस्कराने लगी ।

अलंकार :—पर्यायोक्ति तथा 'मानु' से उत्प्रेक्षा ।

चलत देत आभारु सुनि, उहीं परोसिहिं नाह ।
लसी तमासे की दृगनु, हँसी आँसुअनु माँह ।।३३६।।

शब्दार्थ :—आभारु = कार्यभार, तमासे की = अद्भुत रूप से दर्शनीय ।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—सखी सखी से कहती है कि जब नायक परदेश जाने लगा तो उसने सम्पूर्ण उत्तरदायित्वों को पड़ौसिनि नायिका पर डाल दिया; यह देखकर स्वकीया नायिका के अश्रुपूरित नेत्रों में एक विचित्र प्रकार की, देखने योग्य हँसी आ गई ।

विशेष :—लोकमर्यादा तथा शीलरक्षा के कारण नायिका ईर्ष्या एवं क्रोध को अभिव्यक्त करने के लिए सजल स्मिता हो उठती है ।

अलंकार :—प्रहर्षण ।

(आगतपतिका-नायिका-वर्णन)

आयौ मीतु बिदेस तैं, काहू कह्यौ पुकारि ।
सुनि हुलसीं, बिहँसी, हँसीं, दोऊ दुहुनु निहारि ।।३३७।।

शब्दार्थ :—मीतु = प्रियतम, हुलसीं=उल्लसित हुईं, दुहुनु निहारि = दोनों को देखकर ।

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी अपनी दूसरी सखी से एक नायक में आसक्त दो परकीया नायिकाओं का वर्णन करती हुई कहती है कि किसी ने जैसे ही यह पुकार कर कहा कि मीत (नायक) परदेश से आ गए हैं तो दोनों ही यह सुनकर उल्लसित हुईं, मुस्कराईं तथा एक दूसरी को देखकर हंस दीं, कि अब विरह की दूरी बीत गई, फिर पूर्ववत् हम उसके साथ रमण कर सकेंगीं।

विशेष :—एक ही नायक दोनों नायिकाओं में एक से अनुभाव उत्पन्न करता है अतः वे एक दूसरे को पहचान जाती हैं कि उनका मीत एक ही है।

अलंकार :—युक्ति।

मृगनैनी दृग की फरक, उर-उछाह, तन-फूल।
बिन ही पिय-आगम उमगि, पलटन लगी दुकूल ॥३३८॥

शब्दार्थ :—फरक=स्पन्दन, उछाह=उत्साह, पलटन लगी=बदलने लगी।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—एक सखी दूसरी से कहती है कि उस मृगनयनी नायिका ने अपने वाम नेत्र के स्पन्दित होने से, हृदय में अकस्मात् उत्साह आ जाने से तथा शरीर (उरोज) में उभार आने से यह अनुमान कर लिया कि उसके प्रियतम आने वाले हैं अत: वह उमंगित होकर अपने मलिन वस्त्रों को वदलने लनी।

विशेष :—स्त्री के वामनेत्र स्फुरित होना तथा शरीर के अंगों में उभार आना (छाती फूल उठना—लोकोक्ति के रूप में) प्रसन्नता तथा शुभ के प्रतीक हैं।

अलङ्कार :—अनुमान।

कियौ सयानी सखिनु सौं, नहिं सयानु यह, भूल।
दुरै दुराई फूल लौं, क्यौं पिय आगम-फूल ॥३३९॥

शब्दार्थ :—सयानी = सज्ञानी-युबा, पिय आगमन फूल = पिय के आने का हर्ष।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका की सखी उससे कहती है कि तूने अपनी युवावस्था के अनुरूप चातुर्य से जो उसके (नायक के) आने के हर्ष को सखियों से छिपाया है वह कोई ज्ञान की बात नहीं है क्योंकि प्रियागमनजनित प्रसन्नता

तो पुष्प की गन्ध के समान स्वयं ही अपना परिचय देने लगती है।

विशेष :—नायिका द्वारा प्रियागमन के उल्लास को छिपाना यह स्पष्ट करता है कि वह परकीया है।

अलंकार :— अपह्नुति-अनुमान तथा पूर्णोपमा।

बिछुरै जिए सँकोच यह बोलत, बने न बैन।

दोऊ दौरि लगे हियै, कियैं निचौंहैं नैन ॥३४०॥

शब्दार्थ :—बिछुरै = बिछुड़ने पर, निचौंहें = झुकाए।

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि नायक के घर आने पर, वह और नायिका दोनों ही, बिछुड़ने पर भी जीवित बने रहे इस लज्जा के कारण कुछ कहने में असमर्थ होकर नेत्रों को झुकाते हुए ही दौड़कर परस्पर मिल गए।

विशेष :—लज्जा में आँखों का झुकना स्वाभाविक ही है।

अलंकार :—स्वभावोक्ति तथा काव्यलिङ्ग।

कहि पठई जिय भावती, पिय आवन की बात।

फूली आँगन में फिरै, आँगु न आँगि समात ॥३४१॥

शब्दार्थ :—पठई = भेजी, जियभावती = मनोरम, फूली = प्रसन्न, आँगि= कंचुकी।

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी अन्य सखी से कहती है कि उसके पति ने अपने आने की (नायिका के लिए) मनचाही बात कहला भेजी है जिसे सुनकर वह प्रसन्नता से आँगन में इधर से उधर डोल रही है और उस हर्ष के कारण उसका वक्ष इतने वेग से स्पंदित हो रहा है कि उरोज कंचुकी में नहीं समा पा रहे हैं।

विशेष :—प्रसन्नता में हृदय का वेगमय स्पन्दन स्वाभाविक है।

अलंकार :—यमक।

जदपि तेज रौहालबल, पलकौ लगी न बार।

तौ ग्वैंड़ौ घर कौं भयौ, पैंड़ौ कोस हजार ॥३४२॥

शब्दार्थ :—जदपि = यद्यपि, रौहाल = अश्व, बार = बिलम्ब, ग्वैंड़ौं =

ग्राम का उपान्त भाग। पैंड़ौ = मार्ग।

प्रसंग-भावार्थ :—नायक नायिका से कहता है कि यद्यपि तीव्रगामी अश्व पर बैठने के कारण मुझे घर तक आने में तनिक भी देरी नहीं हुई फिर भी प्रेमातिरेक के कारण ग्राम की उपान्त भूमि से घर तक का मार्ग एक सहस्र कोसों के बराबर हो गया।

अलंकार :—विशेषोक्ति तथा निदर्शना।

ज्यौं ज्यौं पावक-लपट सी, तिय हिय सौं लपटाति।
त्यौं त्यौं छुही गुलाब सौं, छतिया अति सियराति ॥३४३॥

शब्दार्थ :—तिय = स्त्री, छुही = स्पर्शित।

प्रसंग-भावार्थ :—नायक अपने सखा से कहता है कि जैसे जैसे मैं उसके अग्नि की लपट के समान दग्ध हृदय से मिलता हूँ वैसे ही वैसे मेरा हृदय गुलाब की कली से स्पर्शित हुए की भाँति शीतल होता जाता है।

अलंकार :—विभावना, उपमा तथा उत्प्रेक्षा।

रहे बरोठे में मिलत, पिउ प्राननु के ईसु।
आबत आवत की भई, बिधि की घरी घरी सु ॥३४४॥

शब्दार्थ :—बरोठे =प्रकोष्ठ, विधि = ब्रह्मा, सु = वह।

प्रसंग-भावार्थ :- नायक प्रवास से लौटकर आया है। नायिका के पहले वह उन गुरुजनों से मिलता है जो कि उसके मार्ग में आ गए हैं। एक सखी दूसरी सखी से, नायिका की तात्कालिक मनस्थिति का वर्णन करती है कि गुरुजनों से उस तक आने का एक क्षण ब्रह्मा के क्षण के समान अधिक लम्बा हो गया।

विशेष :--नायिका की मनोवैज्ञानिक स्थिति का कवि ने संकेत किया है।

अलंकार—उपमा।

मलिन देह बेई बसन, मलिन बिरह के रूप।
पिय आगम औरै चढ़ी, आननु ओप अनूप ॥३४५॥

शब्दार्थ :—आगम = आना, औरैं = और ही, ओप = प्रकाश।

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि यद्यपि प्रियवियोग के कारण उसका शरीर सौन्दर्यप्रसाधनों के अभाव में मलिन हो गया था, वस्त्र भी

उसके स्वच्छ नहीं थे, किन्तु जैसे ही उसने सुना कि प्रियतम आने वाले हैं तो उसके उसी म्लानमुख पर स्वभावत: ही एक अदभुत् प्रकाश दिखाई पड़ने लगा।

अलंकार :—भेदकातिशयोक्ति।

तुलनात्मक—विरह में मलिनवसना नायिका का वर्णन कालिदास ने मेघदूत में किया है—

उत्सङ्गे वा "मलिनवसना"........

(प्रवत्स्यत्पतिका-नायिका-वर्णन)

पूस मास सुनि सखिनु पैं, साईं चलत सवारु।
गहि कर बीन प्रबीन तिय, राग्यौ रागु मलारु ।।३४६।।

शब्दार्थ :—सांई = पति, चलत सवारु = यात्रा पर चलते हुए, मलारु = मेघ मल्हार।

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि जब नायिका ने अपनी सखियों से यह सुना कि नायक शीघ्र ही यात्रा पर जाने वाला है तो उसने पूस के महीने में अपने हाथों में वीणा लेकर प्रवीणतापूर्वक मेघ मल्हार राग का अलापना प्रारम्भ कर दिया जिससे मेघ बरसें और प्रियतम जाने से रुक जाए।

अलंकार :—पर्यायोक्ति।

तुलनात्मक—

सुनिकें सखियान तें साईं सवार चले इत पूस को मासु जो लागौ।
'रसिकेश' रह्यौ दुख हीय महा अब कीजै कहा जो मनोभव जागौ ।।
कछु ठानौं उपाय दई को मनाय पसारि कैं आँचर यौं बर मांगौ।
गहि कैं कर बीन प्रबीन तिया तबही तहं राग मलारहि रागौ ।।
—'रसिकेश'

अथवा :—

सीत में प्रीतम को परदेस पयान सुन्यौ वह रोवन लागी।
कैसें रहैं हरि या ऋतु में घर देवता पूजि मनावन लागी ।।
और कछू न उपाय चली तब साजि कैं बीन बजावन लागी।
प्यारी प्रवीन भरे सुर मेघ मलार अलापि कैं गावन लागी ।।
—अज्ञात

रहिहैं चंचल प्रान ए, कहि कौन की अगोट।
ललन चलन की चितधरी, कल न पलनु की ओट ॥३४७॥

शब्दार्थ :—अगोट = रक्षा, पलनु = पलभर, ओट = दूरी।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका अपनी सखी से कहती है प्रियतम ने यात्रा पर जाने का निश्चय कर लिया है और उनके बिना मैं एक पल भी चैन से नहीं रह सकती हूँ। हे सखी! ये चंचल प्राण अब उसके बिना किस की आड़ (रक्षा) पाकर बच सकेंगे?

अलंकार :- वक्रोक्ति तथा अनुप्रास।

तुलनात्मक :—

कल न परति कहूँ ललन चलन कह्यौ
  बिरह दवा सौं देह दहकै दहक दहक।
लागी रहै हिलकी, हलक सूखी, हालै हियौ
  'देव' कहै गरौ भरो आवत गहक गहक॥
दीरघ उसाँसें लै लै ससिमुखी सिसकति
  सुलुप सलौनो अंक लहकै लहक लहक।
मानत न बरज्यौ सुवारिज से नैनन ते
  बारि कौ प्रवाह बह्यौ आवत बहक बहक॥ —देव

अजौं न आए सहज रँग, बिरह दूबरें गात।
अबहा कहा चलाइयतु, ललन! चलन की बात ॥३४८॥

प्रसंग-भावार्थ :—नायक आकर फिर परदेश जाने की बात चला रहा है। नायिका की सखी यह सुनकर उससे कहती है कि हे ललन (प्रिय) अभी तो तुम आए हो, फिर अभी से चलने की बात क्यों चला रहे हो? अभी तो उस विरहिणी के दुर्बल गात्र पर स्वाभाविक स्वस्थता के चिह्न भी लौटकर नहीं आए हैं।

विशेष :—वियोग में दुर्बलतन होना स्वाभाविक ही है। कालिदास ने यक्ष तथा विरहिणी दोनों को दुर्बल बताया है।

'कनकवलयभ्रंशरिक्तप्रकोष्ठः' मेघदूत तथा

'अति कृसगात भईं ए तुम बिनु' सूर।

अलंकार :—उभयाक्षेप।

मिलि चलि, चलि मिलि, मिलि चलत आँगन अथयौ भानु।
भयौ मुहूरतु भोर कौ, पौरिहिं प्रथमु मिलानु ॥३४९॥

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि नायक परदेश चलते समय उससे मिलकर चला, हिला मिला, फिर चला और इसी में ही आँगन में सूर्यास्त हो गया। मुहूर्त्त भोर का ही था किन्तु इस प्रेम की अतिशयता के कारण वह दिन भर में इतना ही चल पाया कि उसका पहला पड़ाव आँगन में से निकल कर पौली (बरौठा) तक ही हो पाया।

अलंकार : -अतिशयोक्ति।

ललन चलनु सुनि पलनु मैं, अँसुवा झलके आइ।
भई लखाइन सखिनु हूँ, झूठैं हीं जमुहाइ ॥३५०॥

शब्दार्थ :—चलनु = गमन, पलनु = पलकें।

प्रसंग-भावार्थ :—सखी सखी से कहती है कि जैसे ही नायिका ने यह सुना कि उसका प्रियतम विदेश जाने वाला है तो उसकी पलकों में अश्रु छलछला उठे किन्तु उसने सखियों के बीच अपनी मनोव्यथा को प्रकट न होने देने के लिए झूठमूठ की जमुहाई लेकर ही आँसुओं को बहने दिया।

विशेष :—जमुहाई लेते समय आँसू निकलना स्वाभाविक है।

अलंकार : --युक्ति।

चाह भरीं, अति रस भरीं, बिरह भरीं सब बात।
कोरि संदेसे दुहुनु के चले, पौरि लौं जात ॥३५१॥

शब्दार्थ :—रस = प्रेम, कोरि = करोड़, पौरि लौं = पौली तक।

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि नायक परदेस जाने वाला है अत: अभिलाषा, प्रेम तथा विरह से ही नायक तथा नायिका की बातें भरी हुई हैं। इस प्रकार दोनों के परस्पर संदेश कई बार घर में से पौली तक आ-आकर लौट गए।

विशेष:—पौरि = घर के मुख्यद्वार का पार्श्वकक्ष।

अलंकार :—अनुप्रास तथा अत्युक्ति ।

ललनु-चलनु सुनि चुपु रही, बोली आपु न ईठि ।

राख्यौ गहि गाढ़ैं गरैं, मनौं गलगली डीठि ।।३५२।।

शब्दार्थ :—गलगली = गद्‌गद्‌ ।

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि जब नायिका ने प्रियतम के जाने का समाचार सुना तो वह शान्त होगई और प्यार की बातें करना भी उसने बन्द कर दिया । उसकी वाक्शक्ति इस प्रकार रुंध गई मानों आँसुओं भरी दृष्टि ने उसके कण्ठ को अवरुद्ध तथा गद्‌गद्‌ कर दिया हो ।

अलंकार :—अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा ।

बिलखी डबकौंहैं चखनु, तिय लखि गमनु बराइ ।

पिय गहबरु आयौ गरैं, राखी गरैं लगाइ ।।३५३।।

शब्दार्थ :—डबकौंहैं = सजल, बराइ = रोककर, गहबरु = गद्‌गद्‌ होना ।

प्रसंग-भावार्थ:—एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि उस नायिका ने जब देखा कि नायक यात्रा पर जा रहा है तो उसके मार्ग को रोककर उसने अश्रुमयी दृष्टि के साथ रोना बिलखना शुरू कर दिया, तभी प्रियतम ने उसे देखा । प्रेमातिरेक के कारण अपने स्वयं कंठ गद्‌गद्‌ होने के कारण (बोलने में असमर्थ होने के कारण) उसने नायिका को अपने गले से लगा लिया ।

अलंकार :—विषादन तथा प्रहर्षण (क्रमशः नायक तथा नायिका के पक्षों में) ।

चलत चलत लौं लै चले, सबु सुख संग लगाइ ।

ग्रीषम बासिर सिसिर निसि, पिय मो पास बसाइ ।।३५४।।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका अपनी सखी से कहती है कि प्रियतम अपने चलते-चलते ही मेरे सुखों को भी संग ले चले, अर्थात् नायिका का हर्षोल्लास प्रियतम की समीपता में ही है । इस शिशिर की रात्रि को भी विरह की अतिशयता के कारण वह मेरे लिए ग्रीष्म ऋतु का जलता हुआ दिन बनाकर, मेरे निकट बसा गए हैं ।

विशेष :—वियोग में शीतल वस्तु तप्त एवं तापपूर्ण वस्तु शीतल

लगती है।

अलंकार :—उत्प्रेक्षा।

तुलनात्मक--"कातिक सरदचंद उजियारी।
जगु सीतलु हौं बिरहै जारी॥"

(ज्येष्ठ-कनिष्ठा-नायिका-वर्णन)

बालमु बारें सौति कैं, सुनि परनारि बिहार।
भौ रसु, अनरसु, रिस, रली, रीझ, खीझ इक बार॥३५५॥

प्रसङ्ग-भावार्थ :—एक सखी दूसरी सखी से धृष्टनायक की स्वकीया के लिए कहती है कि जब उसे यह ज्ञात हुआ कि वह सपत्नी के यहाँ का क्रम (वारी) होने पर भी उसके साथ रमण करने नहीं गया अपितु किसी अन्य नारी से उसने बिहार किया तो उसके मन में प्रेम (सपत्नी को दुख पहुँचने से), दुःख (एक सौत और बढ़ जाने से), क्रोध (नायक की धृष्टता पर), मजाक (प्रथम सपत्नी की अपात्रता पर नायक को न पाने से), रीझ (स्वयं पर नायक का प्रेम होने से) तथा खीझ (नायक उसे भुला न दे—इस शंका से) आदि सभी भाव एक ही साथ उठने लगे।

अलंकार :—समुच्चय तथा हेतु।

बाढ़त तो उर उरज भरु भरि तरुनई-बिकास।
बोझनु सौतिनु कैं हियैं आवति रूँधि उसाँस॥३५६॥

शब्दार्थ :—रूँधि = रुद्ध हो होकर।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—एक सखी नायिका से कहती है कि तेरे वक्ष पर उरोजों के बढ़ जाने के कारण, उनमें पीनता आने के कारण तथा यौवन का पूर्ण विकास होने के कारण तेरी सौत के हृदय में से ईर्ष्यावश रुक-रुककर साँसें बाहर निकल रही हैं।

विशेष :—सौत को इसीलिए दुःख है कि अब नायक अपनी नायिका से ही रमण करेगा क्योंकि वह छोटी नहीं रही।

अलंकार :—असंगति।

बिथुर्‌यौ जावकु सौति पग, निरखि हँसी गहि गाँसु ।
सलज हँसौंहीं लखि लियौ, आधी हँसी उसाँसु ॥३५७॥

शब्दार्थ :—बिथुर्‌यौ = बिखरा हुआ, जावकु = महावर, गाँसु = ईर्ष्या ।

प्रसंग-भावार्थ:—एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि कनिष्ठा नायिका ने ज्येष्ठा सपत्नी के पैरों में बिखरे हुए महावर को देखकर ईर्ष्यावश होकर हंस दिया किन्तु जैसे ही उसने देखा कि नायक लज्जित हो रहा है तथा उसकी सपत्नी हंस रही है तो वह यह अनुमान करके कि यह उसके नायक द्वारा ही लगाया गया है, हंसी को बीच में ही रोककर निश्वास लेने लगी ।

अलंकार :—व्याघात ।

सुघर-सौतिबस पिउ सुनत दुलहिनि दुगुन हुलास ।
लखी सखी तन दीठि करि सगरब, सलज, सहास ॥३५८॥

शब्दार्थ :—सुघर = सुन्दर, तन = ओर ।

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी अन्य सखी से कहती है कि नववधू ने जैसे ही यह सुना कि उसका पति किसी सुन्दर सपत्नी पर अनुरक्त है तो उसे और दूना उत्साह हुआ (क्योंकि वह स्वयं को सपत्नी से अधिक रूप गुणवती समझती है) और उसने अभिमान, खीझ तथा मुस्कराहट के साथ अपनी सखियों की ओर दृष्टिपात किया ।

विशेष :—नायिका रूपगर्विता है ।

अलङ्कार :—विभावना ।

हठि हितु करि प्रीतमु-लियौ, कियौ जु सौति सिंगारु ।
अपनैं कर मोतिनु गुह्यौ, भयौ हरा हर-हारु ॥३५९॥

शब्दार्थ :—हरा = हरण करने वाला, हर-हारु = सर्प ।

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि नायिका ने अनुरोध तथा प्रेम के साथ स्वयं एक हार गूंथकर नायक का शृङ्गार किया जो स्वकीया के द्वारा देखे जाने पर सर्प के समान प्राणान्तक हो गया ।

विशेष :—एक ही हार एक नायिका को हर्ष तथा दूसरी को बिषाद देने वाला है ।

अलंकार :—उपमा तथा व्याघात।

पिय सौतिनु देखत दई, अपनैं हिय तैं लाल।
फिरत डहडही सबनु मैं वहै मरगजी माल ॥३६०॥

शब्दार्थ :—डहडही = हरी भरी-प्रसन्न, मरगजी = मुरझाई हुई।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—ज्येष्ठा नायिका नायक से कहती है कि उस दिन तुमने अन्य सभी सखियों के देखते-देखते उस (कनिष्ठा नायिका) को अपने कंठ से उतार कर जो माला दे दी थी, अब वह मुरझा गई है किन्तु हे लाल ! वह उसे पहन कर अब भी प्रसन्न हृदय से सभी के बीच में उठती बैठती है।

अलंकार :—विभावना।

(मद्यपानायिका-वर्णन)

हँसि हँसि हेरत नवल तिय, मद के मद उमदाति।
बलकि बलकि बोलति बचन, ललकि ललकि लपटाति ॥३६१॥

शब्दार्थ :—उमदाति = उन्मत्त हो रही है, बलकि बलकि = बहक बहक कर, ललकि = प्रेम से।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—वह नवल नायिका मदिरा के उन्माद के कारण इतनी उन्मत्त हो गई है कि नायक की ओर हंस-हंसकर निहारती है। कभी-कभी वह बहक-बहक कर टूटे-फूटे वचन बोलती है तो कभी-कभी अत्यन्त प्रेम और आलिङ्गनेच्छा के कारण उससे चिपट जाती है।

अलंकार :—वीप्सा, अनुप्रास तथा स्वभावोक्ति गर्भित समुच्चय।

निपट लजीली नवल तिय, बहकि बारुनी सेइ।
त्यौं त्यौं अति मीठी लगति, ज्यौं ज्यौं ढीठ्यौ देइ ॥३६२॥

शब्दार्थ :—निपट = पूर्णतः, बारुनी = मदिरा, सेइ = पीकर, ढीठ्यौ = धृष्ठता।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—एक सखी अन्य सखी से कहती है कि उस अत्यन्त लाजवन्ती नवोढ़ा एवं मुग्धा नायिका ने बहक कर मदिरा का सेवन कर लिया है और और जैसे जैसे वह अपनी ढीठ चेष्टाएं करती है वैसे ही वैसे अत्यन्त

मधुर लगती है।

अलंकार :—विभावना।

बाम तमासौ करि रहो, बिबस बारुनी सेइ।

झुकति, हँसति, हँसि-हँसि झुकति, झुकि झुकि हँसि हँसि देइ ॥३६३॥

प्रसङ्ग-भावार्थ :—एक सखी अन्य सखी से कहती है कि वह बामा (नायिका) नायक के अनुरोध पर विवश होकर, वारुणी पीकर तमाशा कर रही है। कभी वह झुकती है तो कभी हँसती है, फिर कभी झुका हंसी करने लगती है और मदिरा के प्रभाव में ऐसा ही करती रहती है।

विशेष : – उन्मत्तावस्था में व्यक्ति की एक ही काम को करते रहने की दशा हो जाती है।

अलंकार :—स्वभावोक्ति, वीप्सा, अनुप्रास तथा कारकदीपक।

खलित बचन, अधखुलित दृग, ललित स्वेद-कन-जोति।

अरुन बदन छबि मदन की, खरी छबीली होति ॥३६४॥

शब्दार्थ :—खलित = टूटे हुए-स्खलित।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—नायिका की सखी नायक से कहती है कि उसने मदिरा पीली है अतः उसकी वाणी में स्खलन तथा नेत्रों में अर्द्ध संकोचन एवं शरीर के ऊपर श्रमसीकर की आभा शोभित हो रही है। उस छबीली की छवि तो मदन के प्रभाव से आरक्त वदना होने पर और भी भली लगती है।

अलंकार :—स्वभावोक्ति।

(मानिनी-नायिका-वर्णन)

खरी पातरी कान की, कौन बहाऊ बानि।

आक-कली न रली करै अली, अली जिय जानि ॥३६५॥

शब्दार्थ :—पातरी कान की = हर किसी पर भरोसा करने वाली, रली= क्रीड़ा, अली = भौंरा-सखी।

प्रसंग-भावार्थ :—मानिनी नायिका को सम्बोधित करती हुई उसकी सखी कहती है कि तू कान की बहुत कच्ची है। यह बुरी आदत तुझमें कहां से आई है ? अरी सखी तू इसे भली प्रकार समझले कि भौंरा आक (मदार) की कली से

कभी क्रीड़ा नहीं करता। अर्थात् मान करने से तू प्रियतम (लायक) का प्रेम नहीं पा सकती।

अलंकार :—अनुप्रास-यमक तथा रूपकातिशयोक्ति।

लग्यौ सुमनु ह्वै है सुफलु, आतप-रोसु निबारि।
बारी, बारी आपनी, सींचि सुहृदता बारि॥३६६॥

शब्दार्थ :—सुमनु = सुन्दर मन, फूल, सुफलु = सफल-सुन्दर फलों वाला, आतप = क्रोध तथा गर्मी, बारी = बालिका-क्रम, बारि = वाटिका।

प्रसंग-भावार्थ :— मानिनी नायिका की सखी उससे कहती है कि तू क्रोध रूपी ग्रीष्मा को दूर करके अपनी वारी आने के कारण, अरी बावली बालिका, इस प्रेम रूपी वाटिका का सिंचन कर, जिससे इसके मन रूपी सुन्दर सुमन पर सफलता (प्रेम का फल, प्रेम मिलन) भी आ जाए।

अलंकार :— यमक-रूपक तथा पुनरुक्ति।

चितबनि रूखे दृगनु की, हाँसी-बिनु मुसकानि।
मानु जनायौ मानिनी, जानि लियौ पिय, जानि॥३६७॥

शब्दार्थ :—जानि = ज्ञानी-जान लिया।

प्रसंग-भावार्थ :—सखी का वचन सखी के प्रति :—रूखी आँखों की चितवन तथा हासविहीन मुस्कान के द्वारा उस मानिनी ने अपना मान प्रकट किया और चतुर ज्ञानी (नायक) ने जान लिया कि वह मानँ किए हुए है।

अलंकार :—हेतु तथा अनुमान।

राति दिवस हौंसें रहति मानु न ठिकु ठहराइ ;
जेतौ औगुनु ढूँढ़िऐ, गुनै हाथु परिजाइ॥३६८॥

प्रसंग भावार्थ :—कोई मानिनी नायिका अपनी सखी से कहती है कि हे सखी यद्यपि रात दिन मेरे मन में नायक से मान करने की इच्छा रहती है पर यह ठीक नहीं है क्योंकि मैं जितना-जितना उसमें अवगुण ढूंढ़ने की चेष्टा करती हूँ उतने ही उसमें गुण मिल जाते हैं।

अलंकार : –विषादन।

कहा लेहुगे खेल पैं, तजौ अटपटी बात।
नैंक हँसौहीं हैं भई, भौंहैं, सौंहें खात ॥३६६॥

प्रसंग-भावार्थ :—दूती नायक को आकर समझाती है कि हे लाल ! तुम इस प्रकार खेल ही खेल में कुपित होकर क्या पा सकोगे अतः इन अटपटी बातों को छोड़ दो। न जाने मैंने कितनी शपथें खिला-खिलाकर उसके नेत्रों तथा भौंहों को हंसता हुआ सा बनाया है।

अलंकार :—हेतु।

हा हा ! बदनु उघारि, दृग सफल करैं सब कोइ।
रोजु सरोजनु कैं परै, हँसी ससी की होइ ॥३७०॥

शब्दार्थ :—रोजु परैं = रो पड़ने से।

प्रसंग-भावार्थ :—उत्तमा दूती मानिनी नायिका से कहती है कि मैं तेरी हा हा करती हूं किसी प्रकार मुख को उखाड़ ले ताकि सभी अपने नेत्रों को तुझे देखकर सफल बनालैं। तेरे इस मुख को देख लेने पर कमलों के घर रोना प्रारंभ हो जाए और चन्द्रमा की हर ओर हंसी उड़ाई जाने लगे।

अलंकार :—प्रतीप, वीप्सा तथा अनुप्रास।

हम हारी कै कै हहा, पाइनु पार्‌यौ प्यौरु।
लेहु कहा अजहूँ किएं, तेह तरेर्‌यौ त्यौरु ॥३७१॥

शब्दार्थ :— प्यौरु = और प्रिय को भी।

प्रसंग-भावार्थ :—सखी मानिनी नायिका से कहती है कि हम तो हा-हा करके हार गई और प्रियतम (नायक) को भी तेरे चरणों में लाकर डाल दिया अतएव आज भी तुम मान में तेवर चढ़ाकर क्या पा सकोगी, अर्थात् मान से प्रेम में कुछ नहीं मिल पाता।

अलंकार :—विशेषोक्ति।

आए आपु, भली करी, मेटन मान-मरोर।
दूरि करौ यह, देखिहै, छला छिगुनिया-छोर ॥३७२॥

शब्दार्थ :—मान मरोर = अभिमान, छिगुनियाँ=कनिष्ठिका अंगुलि।

प्रसंग-भावार्थ :—मानिनी नायिका की मनुहार के लिए आए हुए नायक

से उसकी सखी कहती है कि आप नायिका को मनाने के लिए तथा उसके अभिमान की मरोड़ को मिटाने के लिए आए यह तो आपने बड़ा अच्छा किया। पर यह कनिष्ठिकांगुलि में पड़ा किसी अन्य नायिका का दिया हुआ छल्ला तो उतार दो। अन्यथा वह अब भी यही समझेगी कि तुम्हें किसी अन्य से भी प्रेम है।

अलंकार :—वृत्यनुप्रास।

तो रस रांच्यौ, आन-बस, कहौं कुटिल-मति, कूर।
जीभ निबौरी क्यौं लगै, बौरी चाखि अँगूर॥३७३॥

प्रसंग-भावार्थ :—मानिनी नायिका को उसकी सखी समझाती है कि वह तो तेरे ही प्रेम रूपी रस में अनुरक्त है। यह तो कुटिल मति के क्रूर व्यक्तियों का कथन है कि वह किसी और में ही अनुरक्त है। भला तू ही बतारी, बावली! जिसने अंगूर का मीठा फल चख लिया हो वह नीम की कड़वी निबौरी को क्यों चखने लगा?

अलङ्कार :—अर्थान्तिरन्यास।

तुलनात्मक :—जिन मधुकर अम्बुज रस चाख्यौ
सो करील क्यों खावै।—सूर

सोवत लखि मन मानु धरि, ढिग सोयौ प्यौ आइ।
रही, सुपन की मिलति मिलि, तिय हिय सौं लपटाइ॥३७४॥

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि मानिनी नायिका ने शैया पर आकर आँखें मूंदली और मान करने लगी। नायक मनुहार करने आया, उसे सोई हुई समझकर स्वयं भी उसके पार्श्व में जा लेटा। तनिक देर पश्चात् ही नायिका-मान करने से न बोलने के कारण-जैसे स्वप्न ही में नायक से आलिङ्गित हो ऐसा अभिनय करती हुई उसके वक्षस्थल से लिपट गई।

अलंकार :—पर्यायोक्ति।

रस की सी रुख, ससि मुखी, हँसि हँसि बोलत बैन।
गूढ़ मानु मन क्यों रहै, भए बूढ़ रँग नैन॥३७५॥

शब्दार्थ :—रस की सी रुख = प्रेम की चेष्टा, बूढ़ = वीरबधूटी।

प्रसंग-भावार्थ :—कोई सखी मानिनी नायिका से कहती है कि हे चन्द्रमुखी तुम्हारी दृष्टि में यद्यपि प्रेम की सी चेष्टा है तथा मुख पर हासयुक्त वचन हैं फिर भी तुम्हारे मन में छिपा हुआ मान कैसे रह सकता है जो कि वीरबधूटी के समान लाल-लाल नेत्रों से दिखाई पड़ रहा है।

अलङ्कार :—धर्मलुप्तोपमा।

मानु करत बरजति न हौं, उलटि दिबावति सौंह।
करो रिसौंहीं जाहिगी, सहज हँसौंहीं भौंह ॥२७६॥

प्रसंग-भावार्थ:—कोई सखी मानिनी नायिका से कहती है कि मैं मना नहीं करती वरन् तुझे शपथ खिलाती हूँ कि तू और भी मानकर किन्तु तुझसे यह पूछती हूं कि ये स्वाभाविक रूप से हंसने वाली भौंहें क्या तुझसे क्रोधमयी बनाली जाएंगी, अर्थात् नहीं।

अलङ्कार :—निषेधाक्षेप।

क्यौं हूँ सहबात न लगै, थाके भेद-उपाइ।
हठ दृढ़गढ़ गढ़वै सुचलि, लीजै सुरँग लगाइ ॥ ७७॥

शब्दार्थ :—क्यौं हूं = किसी भी प्रकार से, सहबात = उपाय की बात, भेद = रहस्य, सुरँग = सुरंग तथा प्रेम।

प्रसंग-भावार्थ :—दूती आकर नायक से मानवती नायिका के विषय में कहती है कि मैंने हर प्रकार की शह लगाई पर उसे कोई बात भी प्रभावित नहीं कर सकी। मेरे तो सभी भेद और उपाय थकित हो गए क्योंकि वह अपने हठ रूपी सुदृढ़ किले में जा बैठी है इसलिए अब तुम्हीं चलकर अपने प्रेम की सुरंग लगाकर उसके हठ रूपी किले को तोड़िए।

विशेष :—प्रायः बड़े-बड़े किलों को तोड़ने के लिए बारूद या सुरंग काम में लाते हैं।

अलंकार :—श्लेष तथा साङ्गरूपक।

तो ही कौ छुटि मानु, गौ देखत ही ब्रजराज।
रही घरिक लौं मान सी, मान करे की लाज ॥२७८॥

शब्दार्थ :—तो = तेरे, ही=हृदय, गौ=गया, घरिक लौं=घड़ी भर तक।

प्रसङ्गभावार्थ :—कोई सखी मानिनी नायिका से कहती है कि तेरे हृदय का मान तो ब्रजराज श्रीकृष्ण को देखकर ही छूट गया। अब तो केवल मान करने की बात एक औपचारिक रूप में ही मान के स्थान पर नाममात्र के लिए टिकी हुई है।

अलंकार :—उपमा।

गहिली गरबु न कीजिऐ, समै-सुहागहि पाइ।
जिय की जीवनि जेठ, सो माह न छाँइ सुहाइ ॥३७९॥

शब्दार्थ :—गहिली = मानिनी, माह = माघ।

प्रसंग-भावार्थ :—सखी मानिनी नायिका से कहती है कि तू यह सुहाग का अवसर पाकर गर्व मत कर क्योंकि स्त्री जेठ मास की दुपहरी के लिए तो छाया के समान उपयोगी है परन्तु यौवन चले जाने पर माघ मास की अवांछित छाँह बनकर रह जाती है।

अलंकार :—दृष्टान्त।

अनरस हूँ रसु पाइयतु रसिक, रसीली-पास।
जैसें साँठे की कठिन, गाँठ्यौ भरी मिठास ॥३८०॥

शब्दार्थ :—अनरस = मान, साँठे = गन्ना, गाँठ्यौ = गाँठ भी।

प्रसंग-भावार्थ :—मानिनी नायिका की सखी आकर नायक से कहती है कि तुम उस रसीली (नायिका) के निकट चलो। हे रसिक ! उसकी इस मानावस्था में भी तुम्हें आनन्द आएगा जैसे कि गन्ने की गाँठ में भी मीठा रस होता है।

अलंकार :—उदाहरण।

रुख रूखो मिस-रोष, मुख कहति रुखौहें बैन।
रूखे कैसें होत ए नेह-चीकने नैन ॥३८१॥

प्रसंग-भावार्थ :—मानिनी नायिका नायक से बातें कर रही है यह देखकर एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि यह रूक्षमुद्रा बनाकर मिथ्या रोष दिखाती हुई नायक को अपने मुख से नीरस वचन बोल रही है ; किन्तु इस प्रेम रूपी स्नेह से स्निग्ध नेत्रों वाली में रूखापन (नीरसता) होगा ही कहाँ ?

विशेष :– तेल से वस्तु में चिकनाहट आ जाती है।

अलंकार :—रूपक, श्लेष, विरोधाभास तथा काकु।

पति-रितु-औगुन-गुन बढ़तु मानु, माह कौ सीतु।

जातु कठिन ह्वै अति मृदौ, तरुनी-मनु नवनीतु॥३८२॥

प्रसंगभावार्थ :—कोई सखी मानिनी नायिका से कहती है कि पति के अवगुण करने पर मान तथा ऋतु के गुण (विपाक) से माघ मास का शीत बढ़ता है। मान के कारण स्त्री का अत्यन्त सुकुमार हृदय भी निष्ठुर हो जाता है और माघ की शीतलता से अत्यन्त मृदुल मन का नवनीत भी कठिन हो जाता है।

अलंकार :—यथाक्रम।

सौंहैं हूँ हेर्‌यौ न तैं केती द्याई सौंह।

एहौ, क्यौं बैठी किए, ऐंठी ग्वैंठी भौंह॥३८३॥

शब्दार्थ :—सौंहें = सम्मुख, द्याई = दिलाई, सौंह=शपथ, ग्वैंठी=बंकिम।

प्रसंग-भावार्थ :—मानिनी नायिका से उसकी सखी कहती है कि मैंने तुझे कितनी शपथें दिलाईं थीं पर तूने उसे सम्मुख आने पर भी नहीं देखा, अरी अब तू भौंहें टेढ़ी करके मान तथा रोष प्रकट करती हुई क्यों बैठी है?

अलंकार —विशेषोक्ति।

चलौ चलैं छुटि जाइगौ, हठु रावरैं सँकोच।

खरे चढ़ाए हे, ति अब आए लोचन लोच॥३८४॥

शब्दार्थ :—चलैं = चलने पर, खरे चढ़ाए हे = जो खूब चढ़ा रक्खे थे, ति = वे, लोच = नम्रता।

प्रसंग-भावार्थ :—दूती आकर नायक से कहती है कि तुम अब चलो। तुम्हारे चलने से तथा थोड़ा संकोच करने से उसका (मानिनी नायिका का) मान छूट जाएगा क्योंकि पहले उसने जो अपने नेत्र खूब चढ़ा रक्खे थे अब उनमें नम्रता आती जा रही है।

विशेष :—भौंहें चढ़ाना क्रोध का तथा नमित-नयन होना प्रेम का प्रतीक है।

अलंकार :—काव्यलिङ्ग।

दोऊ अधिकाई भरे एकैं गौं गहराइ।
कौनु मनावै, कौ मनै, माने मन ठहराइ ॥३८५॥

शब्दार्थ :—एकैं गौ = एक ही समान।

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि दोनों को रूप, गुण, प्रीति की गहराई (अधिकता) का एक बराबर अभिमान है। उनमें कौन मनाए और कौन माने क्योंकि मैंने तो उन्हें समझाकर यही समझा है कि वे मान को ही मन में स्थान दिए हुए हैं।

अलंकार :—काव्यलिङ्ग तथा अन्योन्य।

वाही दिन तैं ना मिट्यौ, मानु कलह कौ मूल।
भलैं पधारे, पाहुने, ह्वै गुडहर कौ फूल ॥३८६॥

शब्दार्थ :—भलैं = खूब (बुरे अर्थ में), पधारे=आए (व्यंग), पाहुने= महमान।

प्रसंग-भावार्थ:—मानिनी-नायिका की सखी 'मान' को सम्बोधित करते हुए कहती है कि कलह का मूल-मान-उसी दिन से नहीं मिटा है अर्थात् बढ़ता जा रहा है। हे मान ! तुम खूब पधारे, तुम तो गुडहर के फूल के रूप में महमान बनकर आए हो।

विशेष :—यह प्रसिद्ध है कि जिस घर में गुड़हर का लाल फूल होता है वहाँ सदा क्लेष और अशान्ति बनी रहती है।

अलंकार :—रूपक-वक्रोक्ति तथा पर्यायोक्ति।

गह्यौ अबोलौ बोलि प्यौ, आपुहिं पठै बसीठि।
दीठि चुराई दुहुनु की, लखि सकुचौंही डीठि ॥३८७॥

शब्दार्थ :—अबोलौ = मौन, पठै = भेजकर, बसीठि = दूती, दुहुनु की = नायक तथा दूती की।

प्रसंगभावार्थ :—कोई सखी दूसरी सखी से कह रही है। नायिका ने नायक को बुलाने के लिए दूती भेजी। उन दोनों ने आने से पहले सुरति की, यह देखकर उसने मौन धारण कर लिया। अपने ही द्वारा भेजी हुई दूती तथा

नायक दोनों की लज्जित दृष्टि से उसने उनके परस्पर रत होने का अनुमान कर लिया और मुंह फेरकर, मान करती हुई बैठ गई।

अलंकार :—अनुमान प्रमाण।

एरी, यह तेरी, दई, क्यों हूँ प्रकृति न जाइ।
नेह-भरैं हिय राखियै, तउ रूखियै लखाइ ॥३८८॥

शब्दार्थ :—नेह = स्नेह, तेल।

प्रसंगभावार्थ :—मानवती नायिका की सखी उससे कहती है कि मुझे आश्चर्य है कि यह तेरी रूठने की प्रवृत्ति किसी प्रकार जाती ही नहीं। यद्यपि मैं तुझे स्नेहपूर्ण मन में ही रखती हूँ फिर भी तू रूखी-रूखी सी दिखाई पड़ती है।

विशेष :—तेल में डूबी वस्तु कभी रूखी नहीं होती।

अलंकार :—विशेषोक्ति, विरोधाभास, श्लेष तथा अतद्गुण।

बिधि, बिधि कौन करै, टरै नहीं परैं हूँ पानु।
चितै, कितै तैं लैं धर्‌यौ, इतौ इतैं तन मानु ॥३८९॥

शब्दार्थ :—कौन = प्रार्थना, चितै = समझ, मन में।

प्रसंगभावार्थ :—मानिनी नायिका से उसकी सखी कहती है कि वह (नायक) अनेक प्रकार से तेरी प्रार्थना कर रहा है किन्तु तेरा मान, उसके द्वारा तेरे चरणों में प्रणिपात करने से भी नहीं छूटता। अरी ! तू तनिक मन में विचार कर तो देख कि इतने छोटे से शरीर में इतना अधिक मान कहाँ से आगया है ?

अलंकार :—विशेषोक्ति, अधिक तथा श्लेष।

बिलखी लखै खरी खरी, भरी अनखु बैरागु।
मृगनैनी सैन न भजै, लखि बैंनी कें दागु ॥३९०॥

शब्दार्थ :—अनखु = बेमन, बैरागु = उदासीनता, दागु = चिह्न।

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि मानिनी नायिका मन में उदासी और अन्यमनस्कता लिए हुए खड़ी-खड़ी विकल हो रही है। वह मृगनैनी, शैया पर शयन करने के लिए नहीं जाती क्योंकि वहाँ उसे किसी अन्य

स्त्री की वेणी के चिह्न दिखाई पड़ रहे हैं।

अलंकार :—छेकानुप्रास तथा काव्यलिङ्ग।

मुंह मिठास दृग चीकने, भौंहें सरल सुभाइ।
तऊ खरे आदरु खरौ खिनु खिनु हियौ सकाइ ॥३६१॥

प्रसंग-भावार्थ :—नायक नायिका से कहता है कि तेरे मुख से मीठे वचन निकल रहे हैं, नेत्रों से स्निग्धता प्रकट हो रही है तथा भौंहों में सरलता (प्रेम का प्रतीक) दिखाई पड़ रही है फिर भी तू वार-बार अकारण ही जो इतना आदर दे रही है उससे मेरा मन क्षण-क्षण में शंकित होता जा रहा है कि कहीं तू मान तो नहीं कर रही है ? इसीलिए मुझे तू लज्जित करना चाहती है।

अलंकार :—विभावना।

कपट सतर भौंहें करीं, मुख सतरौंहें बैन।
सहज हँसौंहें जानि कैं, सौंहें करति न मैन ॥३६२॥

प्रसंग-भावार्थ :—कोई सखी दूसरी सखी से मानिनी-मुग्धा नायिका का वर्णन करती है कि मेरे सिखाने पर उसने कपटपूर्वक भौंहें भी टेढ़ी करलीं, मुख से भी रोषपूर्ण शब्द कह दिए परन्तु वह अपने नेत्रों को नायक के सम्मुख इसी-लिए नहीं करती है कि वे स्वभावतः हंसने वाले हैं।

अलंकार :—अनुप्रास-हेतु तथा यमक।

सकुचि न रहियै स्यामु, सुनि ये सतरौंहें बैनु।
देत रचौंहै चित कहे, नेह नचौंहें नैंनु ॥३६३॥

प्रसङ्ग-भावार्थ:—सखी नायक से कहती है कि हे श्याम ! तुम उसके (नायिका के) क्रोध भरे वचनों को सुनकर संकुचित मत बनिए क्योंकि प्रेम के कारण चंचल होते हुए उसके नेत्र मन के भीतर का अनुराग भी प्रकट कर रहे हैं।

विशेष :—सतरौंहें (व्यापक तथा उठे हुए) वचन सुनकर संकुचित होने की उक्ति से कवि का वाग्वैदग्ध्य प्रमाणित होता है।

अलंकार :—विरोधाभास तथा काव्यलिङ्ग।

(खण्डितानायिका-वर्णन)

दुरैं न निघरघट्यौ, दिऐं ए रावरी कुचाल ।
बिषु सी लागति है बुरी, हँसी खिसी की, लाल ॥३६४॥

शब्दार्थ :—निघरघट्यौ = बात को साफ़ छिपा जाना-धृष्टता, रावरी = आपकी ।

प्रसंग-भावार्थ :—खण्डिता नायिका नायक से कहती है कि इस प्रकार धृष्टतापूर्वक प्रसंग बदल देने से तो आपकी बुरी आदतें (परकीया से प्रेम) छिपती नहीं हैं । हे लाल ! यह खिसियाई हुई सी आपकी हंसी मुझे विष से भी बुरी लगती है ।

अलंकार :—उपमा ।

ससि बदनी मो कौं कहत, हौं समुझी निजु बात ।
नैन नलिन प्यौ रावरे, न्याय निरखि नै जात ॥३६५॥

शब्दार्थ :—निजु = निश्चय पूर्वक, नलिन = कमल, नै जात = झुक जाते हैं ।

प्रसंग-भावार्थ :—खण्डिता नायिका नायक से कहती है कि जो आप मुझे चन्द्रमुखी कहा करते हैं वह निश्चय ही उचित है । मैं यह समझ गई हूं क्योंकि मेरी ओर देखकर हे प्रिया ! आपके नयन कमलों का लज्जा से नमित हो जाना न्याय संगत ही है ।

अलंकार :—परिकर ।

कत लपटैयतु मो गरैं, सो न, जुही निसि सैन ।
जिहिं चंपक-बरनी किए, गुल्लाला-रँग नैन ॥३६६॥

शब्दार्थ :—लपटैयतु = चिपकाते हो, सो न = वह नहीं, जुही जो थी, बरनी = रंगवाली ।

प्रसंग-भावार्थ :—खण्डिता नायिका, नायक से कहती है कि तुम मुझे गले से क्यों लगाते हो ? मैं तो वह नहीं हूँ जो आपके साथ कल रात के शयन में थी और नहीं वह चम्पकवर्णी हूँ जिसने आपके नेत्रों को गुल्लाला के फूल के समान बना दिया है ।

अलंकार :—मुद्रा तथा श्लेष ।

कत कहियत दुख दैन कौं, रचि रचि बचन अलीक ।
सबै कहाउ रह्यौ लखैं, लाल, महावर-लीक ।।३६७।।

शब्दार्थ :—अलीक = अनुचित, कहाउ = कथन, लीक = लकीर ।

प्रसंग-भावार्थ :—खण्डिता नायिका नायक से कहती है कि मेरे मन को और अधिक दु:खी बनाने के लिए तुम क्यों इन मिथ्या बातों को गढ़-गढ़कर मुझसे कह रहे हो ? हे लाल ! आपके शरीर पर यह जो महावर की लकीर झलक रही है वह तुम्हारे कथन को व्यर्थ किए दे रही है ।

विशेष :—महावर की लकीर परकीया नायिका के सहशयन के द्वारा बन गई है जिसे नायिका तुरन्त पहचान लेती है ।

अलङ्कार :—प्रत्यक्ष प्रमाण ।

फिरत जु अटकत कटनि-बिनु, रसिक, सु रस न, खियाल ।
अनत अनत नित नित हितनु चित सकुचत कत, लाल ।।३६८।।

शब्दार्थ :—अटकत = उलझते रहते हो, कटनि = प्रेमासक्ति, खियाल = क्रीड़ा ।

प्रसंग-भावार्थ :—खण्डिता नायिका नायक से कहती है कि हे प्रियतम, हे रसिकवर ! आप जो बिना प्रेम की कटन या आसक्ति के (आपही के कथनानुसार) इधर-उधर अन्य स्त्रियों की ओर फेरी लगाते रहते हो वह प्रेम नहीं है, किन्तु एक क्रीड़ा भी है। इस प्रकार अन्याय स्त्रियों की ओर नित्य प्रति अपना चित्त आकर्षित करके तुम क्यों प्रेम को व्यर्थ ही संकुचित बना रहे हो ?

विशेष :—'संकुचित' शब्द का प्रयोग नायिका ने प्रेम तथा नायक दोनों ही के अर्थ में लगाया है ।

अलंकार :— श्लेष, विरोधाभास, विभावना तथा पर्यायोक्ति ।

कत बेकाज चलाइयति, चतुराई की चाल ।
कहे देति यह राबरे, सब गुन निरगुन माल ।।३६९।।

शब्दार्थ :—निर्गुण = दोष, गुण (डोर) हीन ।

प्रसंग-भावार्थ :—खण्डिता नायिका, नायक से कहती है कि तुम व्यर्थ ही ये चतुराई से भरी हुई चालें क्यों चला रहे हो ? तुम्हारे गुण अवगुणों का

परिचय तो यह (परकीया के आलिङ्गन से) टूटी हुई माला ही दे रही है।

अलंकार :—विरोधाभास तथा श्लेष।

रह्यौ चकितु चहुँधा चितै चितु मेरौ मति भूलि।
सूर उएँ आये, रही, दृगनु साँझ सी फूलि ॥४००॥

शब्दार्थ :—चकित = अचंभित, चहुँधा = चारों ओर, मति = बुद्धि, उएँ = उगने पर।

प्रसंग-भावार्थ :—खण्डिता नायिका नायक से कहती है कि तुम मेरे निकट तो सूर्य के उगने पर अर्थात् सवेरा होने पर आए हो परन्तु तुम्हारे नेत्रों में सांझ सी फूल रही है अर्थात् ये प्रेम तथा रात भर के जगने से लाल हो गये हैं। यही कारण है कि मेरा चित्त चारों ओर चकित होकर देख रहा है तथा मति भूली सी हो गई है।

अलंकार :—अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा।

बैसीयैं जानी परति, झगा ऊजरे माँह।
मृगनैनी लपटत जु, यह बेनी उपटी बाँह ॥४०१॥

शब्दार्थ :—झगा = वस्त्र, उपटी = उभर आई है।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—खण्डिता नायिका नायक से कहती है कि तुम्हारे इस उजले झंगे के ऊपर मृगनैनी (परकीया नायिका) के आलिङ्गन के प्रमाण रूप में यह वेणी उभर आई है।

अलंकार :— अनुप्रास।

प्रान प्रिया हिय मैं बसै, नख रेखा-ससि भाल।
भलौ दिखायौ आइ यह, हरि-हर-रूप, रसाल ॥४०२॥

शब्दार्थ :—भलौ = अच्छा (विपरीत लक्षणा से बुरा), हरि = विष्णु, हर = शंकर।

प्रसंगभावार्थ :—खण्डिता नायिका नायक से कहती है कि तुम्हारे हृदय में तो प्राणप्रिया बसी हुई है तथा भाल के ऊपर नखरेखा रूपी चन्द्रमा सुशोभित हो रहा है इसलिए हे लाल ! तुमने आकर विष्णु तथा शंकर का यह रूप भला दिखाया है।

अलङ्कार :—रूपक तथा काकुवक्रोक्ति ।

कत सकुचत, निधरक फिरौ, रतियौ खोरि तुम्हैं न ।
कहा करौ जौ जाइ ए, लगैं लगौंहें नैन ॥४०३॥

शब्दार्थ :--निधरक = बेधड़क, रतियौ = रत्ती भर भी, खोरि = दोष, लगौंहें = लगने वाले ।

प्रसंग-भावार्थ :—खण्डिता नायिका नायक से कहती है कि तुम संकुचित क्यों हो रहे हो ? जहाँ जी चाहे वहाँ बेधड़क घूमो फिरो, तुम्हें रत्ती भर भी दोष नहीं दे सकती । इन झट से लग जाने वाले तुम्हारे नेत्रों के लिए मैं क्या करूं जो जहाँ जाते हैं वहीं लग जाते हैं ।

अलंकार :—आक्षेप ।

अनत बसे निसि की, रिसनु उरबरि रही बिसेखि ।
तऊ लाज आई झुकत, खरे लजौंहैं देखि ॥४०४॥

शब्दार्थ : - अनत = अन्यत्र, रिसनु = क्रोध से, बरि रही = जल रही, लजौंहें = लज्जायुक्त ।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—सवेरा होने पर नायक खण्डिता नायिका के समीप आया है । यह देखकर एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि यद्यपि वह नायक के रात्रि में अन्यत्रवास करने के कारण मन में विशेष रूप से जल रही है फिर भी वह उत्तम स्वभाव की है क्योंकि नायक को अत्यन्त लज्जित होकर झुकते हुए देखकर वह स्वयं लजा उठी है ।

अलङ्कार :—विभवना तथा हेतु ।

भए बटाऊ नेहु तजि, बादि बकति बेकाज ।
अब, अलि, देत उराहनौ, अति उपजति उर लाज । ४०५॥

शब्दार्थ :— बटाऊ = पथिक, बादि = विवाद, बेकाज = व्यर्थ ।

प्रसंग-भावार्थ :—खण्डिता नायिका अपनी सखी से कहती है कि वे तो अब पथिक जैसे हो गए हैं (पथिक को भी मार्ग की तरुराजि अथवा सहचर से प्रीति नहीं होती क्योंकि वह बिना रुके आगे चला जाता है) । उन्होंने पहले प्रेम को छोड़ दिया है । हे अलि ! अब तू व्यर्थ ही उनसे विवाद मत कर । अब

तो उन्हें (परकीया प्रेम का) उलाहना देते भी मन संकुचित हो जाता है।

अलंकार :—आक्षेप तथा अनुप्रास।

पट सों पोंछि परी करौ, खरी भयानक-भेष।
नागिनि ह्वै लागति दृगन, नागवेलि-रँग-रेख ॥४०६॥

शब्दार्थ :—खरी = अत्यन्त, नागबेलि = पान।

प्रसंग-भावार्थ :—खण्डिका नायिका परकीया द्वारा दिए गए पान की लगी हुई पीक को देखकर नायक से कहती है कि इसे अपने वस्त्र से पोंछकर हटा दो क्योंकि यह मुझे अत्यन्त भयानक वेष वाली नागिन बनकर दृगों में ही डसे जा रही है।

विशेष :—लाल रंग की सर्पिणी अत्यन्त भयङ्कर मानी जाती है। उसके तीव्र विष से आहत व्यक्ति कभी बच नहीं पाता।

अलंकार :—उपमा, देहरीदीपक तथा अनुप्रास।

सुभर भर्‌यौ तवगुन-कननु, पकयौ कपट-कुचाल।
क्यौं धौं, दार्‌यौ ज्यौं, हियौ दरकतु नाहिं न, लाल ॥४०७॥

शब्दार्थ :– सुभर भर्‌यौ = भली भाँति भरा हुआ, कननु = कणों से, पकयौ = पका दिया है, दार्‌यौ = दाड़िम (अनार), ज्यौं = समान, दरकतु नाहिंन = फटता नहीं।

प्रसंग-भावार्थ :—प्रौढ़ा खण्डिता नायक से कहती है कि मेरा मन रूपी अनार का फल तुम्हारे गुणावगुण रूपी दानों से भली भाँति भर गया है और जिसे तुम्हारे कपट कुचाल ने पका दिया है; फिर भी हे लाल ! यह दरकता (फटता) क्यों नहीं है ?

विशेष : -अनार का फल जब बीज के भार से झुकने लगता है तब उसे पकाने के लिए उस पर कपड़े की थैली बाँधी जाती है। पकने पर फल फट जाता है।

अलंकार :- उपमा तथा रूपक।

जो तिय तुम मनभावती, राखी हियैं बसाइ।
मोहिं झुकावति दृगनु ह्वै वहई उझकति आइ ॥४०८॥

शब्दार्थ :—मनभावती = मन पसन्द, झुकावति = खिझाती है ।

प्रसंग-भावार्थ :—नायक भूल से परकीया का नाम लेकर नायिका को सम्बोधित करता है अतः वह कहती है कि तुमने जिस स्त्री को मन मनभावती होने के कारण हृदय में बसा रक्खा है वही मानों तुम्हारी आँखों में से झाँक-झाँककर मुझे खिझाती है ।

विशेष : –जो व्यक्ति अधिक प्रिय होता है प्रायः असावधानता में उसी का नाम मुँह से निकल जाता है और वही उसे प्रायः दिखाई भी देता है ।

अलकार—भ्रान्तिमान ।

सदन सदन के फिरन की सद न छुटै, हरिराइ ।
रुचैं, तितै बिहरत फिरौ, कत बिहरत उर आइ ॥४०६॥

शब्दार्थ :—सदन = घर, सद = आदत ।

प्रसंग-भावार्थ :—प्रौढ़ा खण्डिता नायिका नायक से कहती है कि हे हरिराय ! आपकी घर-घर फिरने की आदत तो नहीं छूट पाती अब जहाँ तुम्हें अच्छा लगे वहाँ फिरो किन्तु मेरे मन में क्यों विहार करने के लिए चले आते हो ?

अलंकार :—आक्षेप तथा रूपक ।

रही पकरि पाटी सु रिस भरे भौंह चितु नैन ।
लखि सपनौं तिय आन रत, जगतहु लगत हियैं न ॥४१०॥

शब्दार्थ :—तिय आन रत = अन्य स्त्रीं में रत ।

प्रसंग-भावार्थ :—खण्डिता नायिका ने स्वप्न में नायक को सखी से प्रेम करते देखा जिसके कारण उसके मन में स्वाभाविक प्रतिक्रिया हुई । एक सखी दूसरी सखी से यही कहती है कि उसने स्वप्न में किसी अन्य स्त्री से रत होते हुए नायक को देखा था और अब वह जागने पर भी उसका आलिङ्गन नहीं करती । वह तो शैया की पाटी पकड़ कर, भौंह तथा चित्त और नेत्रों के द्वारा अपना क्रोध प्रकट कर रही है ।

अलंकार :—भ्रान्तिमान ।

केसरि केसरि-कुसुम के रहे अंग लपटाइ ।
लगे जानि नख अनखुली कत बोलति अनखाइ ।।४११।।

शब्दार्थ :—केसर = किंजल्क, अनखुली = भीतर ही भीतर, अनखाइ = बुरा मानकर ।

प्रसंग-भावार्थ :—खण्डिता नायिका को सम्बोधित करते हुए उसकी सखी कहती है कि यह तो उसने (नायक ने) कनेर के फूल के किंजल्क अपने अंगों पर लिपटा रक्खे हैं । तू इन्हें किसी अन्य नायिका के नखों का चिह्न समझ कर भीतर ही भीतर (मन ही मन) बुरा मानकर ऐसे (कटु) वचन क्यों बोल रही है ?

अलंकार :—भ्रान्तिमान तथा अपह्नुति ।

मरकत-भाजन-सलिल-गत इन्दुकला कैं भेख ।
झीन झंगा में झलमलति स्यामगात नखरेख ।।४१२।।

शब्दार्थ :—मरकत = नीलम मणि, भाजन = पात्र ।

प्रसंग-भावार्थ :—खण्डिता नायिका नायक के नखक्षत को देखकर कहती है कि झीने झंगा के भीतर तुम्हारे श्यामल शरीर के ऊपर जो (परकीया सम्भोग के कारण बनी) नखरेखा झिलमिला रही है वह लगती है मानों नीलम मणि के पात्र के जल में चन्द्रमा की कला ही प्रतिबिम्बित हो रही हो ।

विशेष :—किसी पात्र में जल पर प्रतिबिम्वत चन्द्रमा को देखना अनिष्ट माना गया है ।

अलंकार :—उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा ।

लाल न लहि पाएँ दुरै, चोरी सौंह करैं न ।
सीस-चढ़े पनिहा प्रगट, कहैं पुकारैं नैन ।।४१३।।

शब्दार्थ :—पनिहा = प्रणिधा-गुप्तचर ।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—खण्डिता नायिका नायक से कहती है कि हे लाल ! शपथ लेने से तो पकड़ लिए जाने पर की चोरी भी नहीं छिप सकती है; क्योंकि तुम कुछ भी कहो पर ये सिरचढ़े तुम्हारे नेत्र रूपी गुप्तचर प्रत्येक रहस्य को प्रत्यक्ष रूप में पुकार पुकार कर रहे हैं ।

विशेष :—प्रणिधा का कार्य ही रहस्यमय बातों को प्रत्यक्ष तक लाना है।

अलंकार :—अनुप्रास तथा रूपक।

तरुन कोकनद-बरनबर भए अरुन निसि जागि।

वाही कैं अनुराग दृग, रहे मनौं अनुरागि ॥४१४॥

शब्दार्थ :—तरुन = सुविकसित, कोकनद = कमल, बरनबर = श्रेष्ठ रंग, अरुन = लाल (प्रेम का रंग)।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—खण्डिता नायिका नायक से कहती है कि रात भर जागने के कारण तुम्हारे नेत्र पूर्ण विकसित कमल के से (लाल) रंग के हो गए हैं, मानो ये उसी के अनुराग में अनुरक्त (प्रेमी-लाल) हो गए हों जिसके निकट तुम रात भर रहे थे।

अलंकार :—श्लेष-यमक तथा सिद्धास्पद हेतूत्प्रेक्षा।

बाल, कहा लाली भई, लोइन-कोइनु माँह।

लाल, तुम्हारे दृगनु की, परी दृगनु में छाँह ॥४१५॥

शब्दार्थ :—लोइनु कोइनु = नेत्रों के कोंए, माँह = में।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—नायक परकीया का संग छोड़कर नायिका (स्वकीया) के पास आया है और इस भय से कि कहीं वह कुछ पूछ न बैठे, स्वयं ही प्रश्न करने लगता है कि हे बाले ! तुम्हारे नेत्रों के कोयों में यह लाली कहाँ से आ गई है ? क्या तुम रात भर जागती रही हो ? यह प्रश्न सुनकर नायिका उत्तर देती है कि हे लाल ! इनमें तो आपके नेत्रों की परछाईं पड़ गई है (अर्थात् मैं नहीं तुम्हीं कहीं जागते रहे हो)।

अलंकार :—गूढ़ोत्तर।

तेह-तरेरौ त्यौरु करि, कत करियत दृग लोल।

लीक नहीं यह पीक की, श्रुति-मनि-झलक कपोल ॥४१६॥

शब्दार्थ :—तेह = क्रोध, तरेरौ = तरेरना, त्यौरु = तेवर, श्रुति मनि = कुण्डल।

प्रसंग-भावार्थ :—खण्डिता नायिका की सखी नायक के विषय में उसके (नायिका के) भ्रम को दूर करने के लिए कहती है कि तू व्यर्थ ही क्यों क्रोध

से अपने तेवर तरेर (चढ़ा) रही है ? क्यों तेरी आँखें चंचल हो उठी हैं ? अरी ! यह (परकीया के) पान की लीक नहीं है; यह तो उसके कपोलों के ऊपर कुण्डलों की आभा विम्बित हो रही है ।

अलंकार :—भ्रान्ति-अनुप्रास तथा अपह्नुति ।

जिहिं भामिनि भूषनु रच्यौ, चरन-महावर भाल ।
उहीं मनौं अँखियाँ रँगीं, ओठनु कै रँग, लाल ॥४१७॥

प्रसङ्ग-भावार्थ :—खण्डिता नायिका, नायक को सवेरे घर आते हुए देखकर कहती है कि जिस भामिनी के चरणों का महावर तुम्हारे भाल का भूषण बन गया है अर्थात् जिसके चरणों पर गिरकर तुम ने रतिदान के लिए प्रार्थना की थी उसी ने मानों अधरों के रंग के समान (लाल) ही ये आँखें भी लाल (अनुरुक्त) कर दी हैं ।

विशेष :—नायिका तुरन्त ही पता लगा लेती है कि वह रात में किसी मानिनी नायिका के पास रहा है जिसके पैरों में रात भर माथा रगड़कर नायक ने स्वयं को जगाए रखा है ।

अलंकार :—अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा ।

मोहि करत कत बावरी, करैं दुराउ दुरैं न ।
कहे देत रँग राति के, रँग निचुरत से नैन ॥४१८॥

शब्दार्थ :—कत = क्यों, दुराउ = छिपाव, निचुरत = निचुड़ते हुए ।

प्रसंग-भावार्थ :—खण्डिता नायिका नायक से कहता है कि यों बहाने करके मुझे क्यों बावली बनाए दे रहे हो ? रहस्य तो छिपाए भी नहीं छिप सकता । ये नेत्र जो कि (रात भर जगने से) लाल सुर्ख हो गए हैं, रात के सब हाल कहे दे रहे हैं कि तुम किसी और के साथ रहे हो ।

अलंकार :—अनुमान तथा अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा ।

मोहूँ सौं बातनु लगैं, लगी जीभ जिहिं नाइ ।
सोई लै उर लाइयै, लाल लागियतु पाइ ॥४१९॥

प्रसंग-भावार्थ :—नायक नायिका से बातें कर रहा है । असावधानी मे किसी और का नाम निकल गया है । यह सुनकर खण्डिता नायिका कहती है

कि मुझसे बातों में लगे हुए होकर भी जीभ से जिसका नाम निकाल रहे हो उसी के हृदय से जाकर लग जाइए। हे लाल ! मैं तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ।

विशेष :—जिससे अधिक प्रेम होता है उसका नाम प्रायः निकल ही जाता है।

अलंकार :—आक्षेप।

तुलनात्मक :—

वलम पीठि तरिवन भुजनि उर कुच कुंकुम आप।
तितै जाहु मनभाँवते जितै बिकाने आप॥

—मतिराम

तुरत सुरत कैंसे दुरत, मुरति नैन, जुरि नीठि।
डौड़ी दै गुन रावरे, कहति कनौड़ी डीठि॥४२०॥

शब्दार्थ :—तुरत = शीघ्र, मुरति = मोड़, डौड़ी दै = डौड़ी पीट पीट कर, गुन = अवगुण, रावरे = आपके, कनौड़ी = निगोड़ी।

प्रसंग-भावार्थ :—खण्डिता नायिका नायक से कहती है कि शीघ्र ही हुई रति को भला कैसे छिपाया जा सकता है क्योंकि तुम प्रयत्नपूर्वक मिलाई हुई आँखों को लज्जा से मोड़ जो लेते हो। यह लजीली दृष्टि ही तुम्हारे चरित्र का डौड़ी पीट-पीटकर बखान कर रही है।

अलंकार :—अनुप्रास, वक्रोक्ति तथा लोकोक्ति।

वेई गड़ि गाड़ैं परीं, उपठ्यौ हारु हियैं न।
आन्यौ मोरि मतंगु मनु, मारि गुरेरनु मैन॥४२१॥

शब्दार्थ :—गाड़ = गड्ढा, उपठ्यौ = उछला, मैन = कामदेव।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—यह तुम्हारे कण्ठ में परकीया का दिया हुआ हार नहीं उछल रहा है अपितु कामदेव ही तुम्हारे मन रूपी उन्मत्त हाथी को गुलेलों से मारता हुआ इधर मोड़ लाया है। उन्हीं गुलेल की गोलियों की चोट से ये गड्ढे पड़ गए हैं।

विशेष :—नायिका के समीप नायक तभी आता है जबकि वह कामपीड़ित होता है।

अलंकार :—रूपक तथा अपह्नुति !

पावक सो नयननु लगै, जावकु लाग्यौ भाल ।

मुकुरु होहुगे नैंक मैं, मुकुरु बिलोकौ, लाल ॥४२२॥

शब्दार्थ :--पावक = आग, जावकु = महावर, मुकुर = मुकरना तथा दर्पण ।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—खण्डिता नायिका घर लौटे हुए नायक से कहती है कि तुम्हारे माथे पर जो महावर (परकीया के पैरों में पड़ने से) लग गया है वह इन आँखों में आग की तरह लग रहा है । हे लाल ! तुम इसे दर्पण में देख लो नहीं तो अपनी आदत के अनुसार थोड़ी देर में ही वास्तविकता से, कि रात भर किसी के साथ रमण करते रहे हो, मुकर जाओगे ।

अलंकार :—उपमा तथा यमक ।

गहकि, गाँसु और गहैं, रहे अधकहे बैन ।

देखि खिसौंहैं पिय-नयन किए रिसौंहैं नैन ॥४२३॥

शब्दार्थ :—गहकि = गर्व से, गाँस = वैमनस्य ।

प्रसंग-भावार्थ :—नायक रात बिताकर परकीया के पास से लौटा है और वहाँ रहने के बहाने बना रहा है किन्तु इसी बीच में वह लज्जित हो जाता है । खण्डिता नायिका ने पहले तो उसे गर्वपूर्वक अनखते हुए (बे मन से) समझाया कि रात में बाहर मत रहा करो किन्तु जब नायक बीच ही में लज्जित होने लगा तो उसे वास्तविक बात का पता चल गया, और वह उस बात को आधी छोड़कर प्रियतम के खिसियाते हुए नेत्रों की ओर देखकर कुपित होने लगी ।

अलंकार :—अनुमान ।

वाही की चित चटपटी, धरत अटपटे पाइ ।

लपट बुझावत बिरह की, कपट-भरेऊ आइ ॥४२४॥

शब्दार्थ :—चटपटी = आकर्षण, अटपटे = लड़खड़ाते हुए, लपट=ज्वाला-उत्ताप ।

प्रसंग -भावार्थ :—परकीया-रत-नायक को घर आया देखकर खण्डिता नायिका कहती है कि यद्यपि तुम कपट भरे होकर आते हो फिर भी तुम्हें देखकर मेरे विरह की ज्वाला शान्त हो जाती है । तुम्हारे मन में तो किसी और के लिए

ही आकर्षण है जिसके कारण तुम्हारे पैर (मुझ तक) आने में भी लड़खड़ा रहे हैं।

अलंकार :—अनुमान तथा विभावना।

पलनु पीक, अंजनु अधर, धरे महावरु भाल।
आजु मिले सु भली, करी भले बने हौ लाल ।।४२५।।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—खण्डिता नायिका नायक को परस्त्रीसहवास से लौटता हुआ देखकर कहती है कि तुम्हारी पलकें रात भर जागने से अथवा नायिका द्वारा चूमे जाने से लाल हो रही हैं। तुम्हारे अधरों पर काजल लगा है अर्थात् तुमने उसकी आँखों को चूमा होगा। तुम्हारे माथे का महावर स्पष्ट कह रहा है कि तुमने उसके चरणों में सिर रखकर (रतिदान के लिए) प्रार्थना की होगी। आज जो तुमसे उसका मिलन हुआ है सो तो ठीक है परन्तु हे लाल ! यह तुमने रूप कैसा भला (बुरा) धारण कर रखा है।

अलंकार :—वक्रोक्ति तथा असंगति।

तुलनात्मक :—

लाक्षालक्ष्म ललाटपट्टमभितः केयूरमुद्रा गले
वक्त्रे कज्जलकालिमा नयनयोस्ताम्बूलरागोऽपरः।
दृष्ट्वा कोपविधायिमण्डनमिदं प्रातश्चिरं प्रेयसो
लीलातामरसोदरे मृगदृशः श्वासाः समाप्तिं गताः॥

—अमरुकशतक

तथा :— देत बताए प्रगट जो, जावक लाग्यौ भाल।
नव नागरि के नेह सौं, भले बने हौ लाल॥

—रतनहजारा

पट के ढिग कत ढाँपियत सोभित सुभग सुवेष।
हद रदछद छबि देत यहि सर रदछद की रेख ।।४२६।।

शब्दार्थ :—हद = ओर, रदछद = ओठ तथा दन्तक्षत।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—खण्डिता नायिका नायक को देखकर कहती है कि तुम उस सुन्दर, सुकुमार तथा सुशोभित दन्तक्षत को जो कि परकीया नायिका ने विपरीत रति के कारण कर दिया है बार-बार क्यों वस्त्र सें ढांपते हो ? यह

तुम्हारे अधर पर बना सद्यः नखक्षत का चिह्न अत्यन्त छविमय दिखाई पड़ रहा है।

अलंकार :—अनुप्रास तथा यमक।

सुरँग महाबरु सौति पग, निरखि रही अनखाइ।
पिय अँगुरिन लाली लखें, खरी उठी लगि जाइ ॥४२७॥

शब्दार्थ :—सौति = सपत्नी, अनखाइ = बुरा मानना, लाइ = लपट।

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि खण्डिता नायिका ने अपनी सपत्नी के पैरों में लगा हुआ महावर देखा जिससे उसे बुरा लगा और फिर जब उसने नायक की उँगलियों में लाल रंग देखा तो क्रोध की सीमा न रही मानों वह क्रोध से जलने लगी।

अलंकार :—हेतूत्प्रेक्षा।

आजु कछू औरे भए, ठए नए ठिक ठैन।
चित के हित के चुगल ए, नित कें होंहि न नैन ॥४२८॥

शब्दार्थ :—ठए नए ठिक ठैन = कुछ नए रूप में सजे हुए, हित = प्रेम।

प्रसंग-भावार्थ :—खण्डिता नायिका नायक के नेत्रों को देखकर कहती है कि आज तो ये कुछ और ही प्रकार के लग रहे हैं क्योंकि इनमें कुछ नई ही सजावट है। तुम्हारे ये नेत्र मन की प्रीति का परिचय दे रहे हैं। ये नेत्र नित्य के से नहीं मालूम पड़ते हैं अर्थात् आज तो तुम उस (परकीया) से अवश्य ही मिल कर आए हो।

अलंकार :—भेदकातिशयोक्ति।

पल सौहैं पगि पीक रँगु छलु सोहैं सबु बैन।
बलु सोहैं कत कीजियतु, ए अलसौंहें नैन ॥४२९॥

शब्दार्थ :—पल = पलक, सौहैं = शोभित, सौंहें = सम्मुख, अलसौंहें = आलस्यपूर्ण।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—खण्डिता नायिका नायक से कहती है कि तुम्हारी ये पलकें पीक से (जो कि नायिका के अधर चुम्बन से आई है) शोभित हो रही हैं और तुम्हारे वचन छल से शोभित हो रहे हैं (नायक भाँति-भाँति के वचन

इसीलिए बोल रहा है कि नायिका को सन्देह न हो जाए)। फिर तुम बलपूर्वक इन अलसाए हुए (रात्रि जागरण के कारण) नेत्रों को मेरे सम्मुख क्यों करते हो ?

अलंकार :—अनुप्रास तथा यमक।

लाल सलौने अरु रहे, अति सनेहु सों पागि।
तनकु कचाई देत दुःखु सूनु लौं मुंहु लागि ॥४३०॥

शब्दार्थ :—सलौने = सुन्दर-नमकीन, सनेहु = प्रेम, तेल, कचाई=छल-कच्चापन, सूरन लौं = सूरन के समान, मुंह लागि = मुंह लगकर-मुख में तेज होकर।

प्रसंग-भावार्थ :—खण्डिता नायिका नायक से कहती है कि हे लाल ! तुम अत्यन्त सुन्दर तथा प्रेमी तो अवश्य हो परन्तु तनिक सा कपट तथा बहाने करने की आदत के कारण तेल से भूने हुए और नमकीन परन्तु कुछ कच्चे सूरन की भाँति मुख को काटने वाले हो गए हो।

अलंकार :– श्लेष तथा पूर्णोपमा।

नख रेखा सोहैं नई, अरसौंहें सबु गात।
सौंहें होत न नैन ए तुम, सौंहैं कत खात ॥४३१॥

शब्दार्थ :—सोहैं = शोभित, अरसौंहें = आलस्ययुक्त, सोंहें = सम्मुख, सौंहें = शपथ ;

प्रसंग-भावार्थ :—खण्डिता नायिका नायक से कहती है कि तुम शपथ क्यों खाते हो ? तुम्हारे वक्ष पर नई (परकीया द्वारा दी गई) नख रेखा, सम्पूर्ण शरीर की अलसता तथा नेत्रों का लज्जा के कारण सामने न करना आदि ही अनेक प्रमाण तुम्हारे परकीयागमन की सूचना दे रहे हैं।

अलंकार :—यमक तथा प्रत्यक्ष प्रमाण।

तुलनात्मक :—इन झूठी सौंहनि कियें नहिं ह्वै हौ अकलंक।
किया इधर अंजन प्रभा बदन चंद सकलंक ॥—मतिराम

ह्यां न चलै बलि राबरी चतुराई की चाल।
सनख हिए खिन खिन, नटत अनख बढ़ावत लाल ॥४३२॥

शब्दार्थ :—बलि = बलिहारी हूं, रावरी = आपकी, सनख हिए = नख क्षत से युक्त हृदय, नटत = मना करते हो, अनख = वैमनस्य ।

प्रसंग-भावार्थ :—हे लाल ! मैं तुम्हारी वलिहारी हूं परन्तु यहाँ ये चतुराई की चालें नहीं चल सकतीं (कि मैं परकीया के पास नहीं गया)। एक ओर तो तुम्हारे वक्ष पर उसके द्वारा किया हुआ नखक्षत का चिह्न है दूसरी ओर तुम बार-बार मना करके मेरे वैमनस्य को और बढ़ाते जा रहे हो ।

अलंकार :—हेतु ।

तुलनात्मक :—नवनखपमङ्गं गोपयस्यंशुकेन
स्थगयसि पुनरोष्ठं पाणिना दन्तदष्टम् ।
प्रतिदिशमपरस्त्रीसङ्गशंसी विसर्पन्
नवपरिमलगन्धः केन शक्यो वरीतुम् ॥
—शिशुपालवधम्

न करु न ढरु सबु जगु कहतु कत बेकाज लजात ।
सौंहैं कीजै नैन जौ, साँची सौंहैं खात ॥४३३॥

शब्दार्थ :—सौंहें = सम्मुख, कीजै = करली जिए, जौ = यदि, सौंहें = शपथ ।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—सारी दुनियाँ जब यही कहती है कि 'न करो न डरो' तो फिर तुम व्यर्थ हो लज्जित क्यों हो ? यदि तुम मेरी (खण्डिता नायिका की) सच्ची शपथ खाते हो तो नेत्रों को मेरे सम्मुख कर दीजिए ।

विशेष :—वस्तुतः नायक रात भर किसी अन्य नायिका के पास रह कर जागा है इसलिए उसके नेत्र लाल पड़ गए हैं और जिन्हें यदि वह संकोच त्याग कर नायिका के सम्मुख कर दे तो सम्पूर्ण रहस्य उस पर प्रकट हो जाएगा ।

अलंकार :—लोकोक्ति तथा यमक ।

हँसि हँसाइ, उर लाइ उठि, कहि न रुखौंहे बैन ।
जकित थकित ह्वै तकि रहे तकत तिलौंछे नैन ॥४३४॥

शब्दार्थ :—रुखौंहे = रूखे, तिलौंचे = तिरछे ।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—सखी खण्डिता नायिका को समझाती है कि अब तू

नायक से रूखे वचन मत बोल बल्कि स्वयं हंस और उसे भी हंसाकर छाती से लगाले क्योंकि तेरे कोप के कारण तिरछे हुए नेत्रों को देखकर नायक स्तम्भित तथा थकित हो गया है।

अलंकार :—अनुप्रास।

(स्वकीयानायिका-वर्णन)

निरखि नबोढ़ा नारितन, छुटत लरिकई-लेस।
भौ प्यारौ प्रीतमु तियनु, मनहुँ चलत परदेस ॥४३५॥

शब्दार्थ :– नवोढ़ा = नव विवाहिता, लरिकई लेस = लड़कपन के चिह्न, तियनु = सपत्नियों को।

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी दूसरी सखी से कह रही है—नव विवाहिता स्वकीया नायिका के शरीर से लड़कपन के चिह्नों को छूटते हुए देखकर सपत्नियों को प्रियतम इतना प्रिय लगने लगा मानों वह परदेस जाना चाहता हो।

अलंकार :—हेतूत्प्रेक्षा।

विशेष :—प्रिय के परदेश जाने के समय।

डीठ्यौ दै बोलति, हँसति, पोढ़ बिलास अपोढ़।
त्यौं त्यौं चलत न पिय-नयन, छकए छकी नबोढ़ ॥४३६॥

शब्दार्थ :—डीठ्यौ दैं = दृष्टियाँ देकर, पोढ़ विलास = शयन विलास, अपोढ़ = अप्रौढ़ा।

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि वह (नायिका) नेत्रों से कटाक्ष करती हुई ज्यों-ज्यों बोलती-मुस्कराती है तथा शयन विलास की बातें करती है वैसे ही वैसे नायक उस नवोढ़ा की छवि पर आसक्त होकर उसे अचंचल दृष्टि से देखता रह जाता है।

अलंकार :—गम्योत्प्रेक्षा तथा यमक।

मानहुँ मुख दिखरावनी, दुलहिहिं करि अनुराग।
सासु सदनु, मनु ललन हूँ, सौतिनु दियौ सुहागु ॥४३७॥

शब्दार्थ :—मुख दिखरावनी = नव वधू के प्रथम दर्शन में उसे जो कुछ दी जाए वह वस्तु।

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि उस नववधू (स्वकीया) की मुख दिखाई की प्रथा में मानों सास ने घर (का उत्तरदायित्व) पति ने हृदय तथा सपत्नियों ने अपना सुहाग उसे दे डाला है।

अलंकार :—सिद्धास्पद हेतूत्प्रेक्षा तथा तुल्ययोगिता।

स्वेद-सलिलु रोमांच-कुसु, गहि दुलही अरु नाथ।
दियौ हियौ सँगु हाथ कैं, हथलेयैं हीं हाथ ॥४३८॥

शब्दार्थ :—हथलेयैं = पाणिग्रहण के अवसर पर।

प्रसंग भावार्थ :– एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि नायक तथा नायिका दोनों ने स्वेद रूपी जल तथा रोमांच रूपी कुशों को लेकर पाणिग्रहण के अवसर पर एक दूसरे के हाथ के साथ मानों हृदय भी संकल्पित कर दिया।

अलंकार :— रूपक-उत्प्रेक्षा तथा सहोक्ति।

(परकीया नायिका-वर्णन)

सनि-कज्जल चख-झख-लगन उपज्यौ सुदिन सनेहु।
क्यों न नृपति ह्वै भोगवै लहि सुदेसु सब देहु ॥४३९॥

शब्दार्थ :—सनि = शनैश्चर नामक ग्रह, चख = चक्षु, झख = मीन, लगन = लग्न-लगी हुई, सुदिन = सुन्दर घड़ी, सुदेसु = रम्य-सुन्दर देश।

प्रसंग-भावार्थ :—दूती नायिका से कहती है कि तेरे चक्षु रूपी मीन लग्न में कज्जल रूपी शनिश्चर नामक ग्रह की स्थिति पड़ जाने से, इस शुभ अवसर में नायक के प्रति स्नेह सम्बन्ध स्थापित हो गया है तो तू अब सम्पूर्ण देह रूपी सुन्दर देश पर अधिकार करके एक राजा के समान उसका उपभोग क्यों नहीं करती है ?

विशेष :—१—शनैश्चर नामक ग्रह का रंग ज्योतिष के अनुसार काला है।

२—यदि किसी व्यक्ति के उत्पन्न होते समय मीन तथा शनि नामक ग्रहों की स्थिति हो तो उसके राजा होने का योग ज्योतिष में कहा गया है।

तुलनात्मक :—तुलाकोदण्डमीनस्थो लग्नस्थोऽपि शनैश्चरः।
करोति भूपतेर्जन्म वंशे च नृपतिर्भवेत् ॥

—जातक संग्रह, राजयोग प्रकरण

अलंकार :—सम अभेद रूपक।

चितई ललचौंहैं चखनु, डटि घूँघट-पट मांह।
छल सौं छली छुवाइ कै, छिनकु छबीली छाँह ॥४४०॥

शब्दार्थ :—चितई = देखने लगी, ललचौंहैं चखनु = साभिलाष दृष्टियों से, छिनकु = एक क्षण को।

प्रसंगभावार्थ :—एक सखी दूसरी सखी से परकीया नायिका की (नायक के प्रति की गई) चेष्टाओं का वर्णन करती है कि उसने घर में प्रवेश करने से पूर्व घूंघट की ओर देखा। वह छवीली क्षण भर के लिए छलपूर्वक अपनी छाया के द्वारा उसको स्पर्श करती हुई घर के भीतर चली गई।

विशेष :—नायिका क्रिया-विदग्धा है।

अलंकार :- पर्यायोक्ति तथा अनुप्रास।

(मध्या नायिका-वर्णन)

उरु उरझ्यौ चितचोर सौं, गुरु गुरुजन की लाज।
चढ़ैं हिंढोरे से हियैं, किए बनैं गृह काज ॥४४१॥

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी दूसरी सखी से मध्या नायिका के विषय में कह रही है कि उसका मन तो चितचोर नायक से जाकर उलझ गया है। उसके ऊपर घर के बड़े बूढ़ों की मर्यादा की अधिकता है अत: हिन्दोल (हिंडोले) के समान चंचल चित्त होने के कारण उसके द्वारा (नायिका से) घर के कार्य किस प्रकार किए जा सकते हैं ?

अलङ्कार :—यमक तथा उपमा।

समरस समर सँकोचबस, बिबस न ठिकु ठहराइ।
फिरि फिरि उझकति, फिरि दुरति, दुरि दुरि झमकति जाइ ॥४४२॥

प्रसंग-भावार्थ :-- एक सखी दूसरी सखी से नायिका की आकुल व्यथा का वर्णन करती है कि कामदेव तथा सङ्कोच दोनों ने समान रूप से उसे अपने वश में करके विवश बना दिया है अत: उसकी स्थिति ठीक ही नहीं रह पाती। कभी वह मुड़कर प्रियतम की ओर देखती है तो कभी छिप जाती है और कभी छिप-छिपकर उसकी ओर झाँकती रहती है।

अलंकार :— दीपक-यमक तथा अनुप्रास ।

सखी लिखावति मान बिधि सैननु बरजति बाल ।
हरे कहै मो हीय मैं, बसतु बिहारी लाल ।।४४३।।

शब्दार्थ :—बिधि = ढंग, सैननु = नेत्रों के संकेत से, बरजति = निषेध करती है, बाल = बाला, हरे = धीरे-धीरे ।

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि उसकी (नायिका की) मित्र नायक से मान करने की उसे सीख देती है तो वह (नायिका) नेत्रों के संकेत से ही ऐसा करने के लिए मना करती है कि तू धीरे से बोल क्योंकि मेरे मन में बिहारीलाल (नायक) निवास करते हैं; कहीं वे सुनकर मुझसे अप्रसन्न नहीं हो जाएं ।

अलंकार :—अनुप्रास तथा काव्यलिङ्ग ।

जो तब होत दिखादिखी भई अमी इक आँकु ।
लगै तिरीछी डीठि अब, ह्वै बीछी कौ डाँकु ।।४४४।।

शब्दार्थ :—दिखादिखी = परस्पर दर्शन, अमी = अमृत, इक आंकु = निश्चयपूर्वक, डाँकु = डंक ।

प्रसंग-भावार्थ :— मध्या नायिका अपनी सखी से कहती है कि जब प्रेम होने के प्रारंभ में यह परस्पर की देखा देखी निश्चय ही अमृत तुल्य हो गई थी किन्तु अब तो (प्रिय बिछोह के कारण) वही तिरछी दृष्टियाँ (याद करने पर) बिच्छू के डंक की सी पीड़ा पहुँचती हैं ।

अलंकार :— रूपक तथा पर्याय ।

अपनी गरजनि बोलियति कहा निहोरौं तोहि ।
तू प्यारौ मो जीव कौं मो जिय प्यारौ मोहि ।।४४५।।

शब्दार्थ :—गरजनि = प्रयोजन से, निहोरौं = प्रार्थना करती हूं ।

प्रसंग-भावार्थ :—कलहान्तरिता मध्या नायिका नायक से कहती है कि मैं कोई तुम्हारी मनुहार थोड़े ही करती हूं । मैं तो अपने प्रयोजन के ही कारण तुमसे बोलती हूं क्योंकि तुम मेरे जीव के लिए प्रिय हो और मुझे अपना जीव (जीवन) प्रिय लगता है ।

अलंकार :—अपह्नुति-काव्यलिङ्ग तथा एकावली ।

उर लीने अति चटपटी सुनि मुरली धुनि धाइ।
हौं हुलसी निकसी सुतौ, गयौ हूल सी लाइ ॥४४६॥

शब्दार्थ :—चटपटी = आतुरी, हूल = बरछी की नौंक, लाइ = लगाकर।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका अपनी सखी से कहती है कि मैं अत्यन्त आतुर-हृदया होकर उसकी (नायिका की) मुरली की ध्वनि को सुनकर तथा उसे उल्लासदायक समझ कर घर से बाहर निकली थी परन्तु वह तो मेरे मन में बरछी की नौंक की भाँति चुभकर पीड़ा दे गया।

अलंकार :—यमक तथा उपमा से पुष्ट विषम।

लाल तिहारे रूप की, कहौ रीति यह कौन।
जासौं लागें पलकु दृग, लागैं पलकु पलौंन ॥४४७॥

प्रसङ्ग-भावार्थ :—मध्या नायिका नायक से कहती है कि हे लाल ! तुम्हारे रूप की यह कौनसी रीति है कि जिससे नेत्रों के पलक लगकर (सम्बन्धित होकर) एक पल भर के लिए भी नहीं लग पाते, अर्थात् देखते के देखते रह जाते हैं।

अलंकार :—यमक, विरोधाभास तथा व्याजस्तुति।

(अभिसारिका-नायिका-वर्णन)

गोप अथाइनु तैं उठे, गोरज छाई गैल।
चलि, बलि, अलि अभिसार की, भली सझौंखैं सैल ॥४४८॥

शब्दार्थ :—गोप = ग्वाले, अथाइनुतैं = चौपलों से, गोरज = धूलि, सझौंखें = सन्ध्याकालिक, सैल = सैर।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—दूती नायिका को नायक के समीप चलने के लिए प्रेरित करती है कि अब ग्वाले चौपालों को छोड़-छोड़कर घरों की ओर चले गए हैं तथा मार्ग में गायों के पगों से उड़ाई हुई धूल फैल रही है—जिसकी सघनता में तुझे कोई देख नहीं सकेगा—अतः हे सखी ! मैं तेरी बलि जाती हूँ, तू अभिसार के लिए चल क्योंकि यह संध्याकाल अभिसार-यात्रा (सैल) के लिए बहुत अनुकूल है।

अलंकार :—अनुप्रास तथा काव्यलिङ्ग।

अरी, खरी, सटपट परी, बिधु आधैं मग हेरि ।
संग लगैं मधुपन लई, भागनु गली अँधेरि ॥४४६॥

शब्दार्थ :—सटपट = सटपटाती हुई-घबराई हुई, बिधु = चन्द्रमा, भागनु= भाग्यवश ।

प्रसंग-भावार्थ :—कृष्णाभिसारिका नायिका अपनी अन्तरंग सखी से कहती है कि हे सखी जब मैं उस (नायक) के पास से लौट रही थी तब बीच मार्ग में ही चन्द्रमा का प्रकाश देखकर मैं घबराने लगी कि अब कोई मुझे देख न ले परन्तु भाग्यवश भ्रमरों ने, जो कि मेरे अंगराग की गंध के कारण संग उड़े आ रहे थे, मार्ग को सब ओर से घेरकर अपनी कृष्णिमा से तमोमय कर दिया ।

विशेष :—नायिका रूपगर्विता है ।

अलंकार :—समाधि, प्रहर्षण तथा भ्रान्तिमान (भ्रमरों के द्वारा सुगन्ध-पूर्णकालिका समझ कर घेर लिए जाने के कारण ।)

तुलनात्मक :—"स्याम बसन में स्याम निसि दुरै तिय की देह ।
पहुँचाई चहुँ ओर घिरि भौंर भीर पिय गेह ॥"
—मतिराम

जुवति जौन्ह मैं मिलि, गई नैंकु न परति लखाइ ।
सौंधें कैं डोरनु लगी, अली चली सँग जाइ ॥४५०॥

शब्दार्थ :—जुवति = युवती-अभिसारिका, जौन्ह = ज्योत्स्ना, सौंधे = सुगन्धित, अली = सखी-भ्रमर ।

प्रसंग-भावार्थ :—दूती अपनी सखी से नायिका का रूप वर्णन करती है कि वह गौराङ्गना शुभ्र चाँदनी में मिलकर ऐसी एकाएक हो गई कि दोनों का अन्तर नहीं दिखाई पड़ता था केवल उसके अंगों की सुगन्ध के सहारे-सहारे ही भंवरे तथा उसकी सखी साथ-साथ चल रहे थे ।

अलंकार :- उन्मीलित तथा भ्रान्तिमान ।

छिपैं छिपाकर किति छवैं, तम ससिहरि न संभारि ।
हँसति हँसति चलि, ससिमुखी, मुख तैं आँचरु टारि ॥४५१॥

शब्दार्थ :—छिपैं = छिपने पर, छिपाकर = चन्द्रमा, छिति = धरती,

टारि = हटाकर ।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका अभिसार करके लौट रही है। चन्द्रमा अस्त हो गया है। धरती पर अन्धकार फैल गया है। यह देखकर उसकी सखी कहती है कि तू स्वयं को संभाल ले। घबराने की आवश्यकता नहीं है। अपने मुख से घूंघट उठाकर हे चन्द्रमुखी ! तू मुस्कराती हुई चल जिससे स्वयं ही चंद्रमा का सा प्रकाश मार्ग पर होने लगेगा।

अलङ्कार :—परिकरांकुर-काव्यलिङ्ग तथा रूपकपरिपुष्ट अनुप्रास।

निसि अँधियारी, नील पटु पहिरि, चली पिय-गेह।

कहौ दुराई क्यों दुरै, दीपसिखा सी देह ॥४५२॥

शब्दार्थ :—पटु = वस्त्र, गेह = घर।

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी कृष्णाभिसारिका को देखकर दूसरी सखी से कहती है कि वह इस अंधेरी रात में नीली साड़ी पहन कर अभिसार के लिए प्रियतम के घर की ओर चली जा रही है; किन्तु तू ही बता, भला उसकी दीपशिखा के समान प्रकाशवती देह इस अंधकार में छिपाने से कहीं छिप सकती है ?

अलङ्कार :—उपमा तथा विशेषोक्ति।

फूलीफालो फूल सो, फिरति जु विमल-विकास।

भोरतरैया होहु ते, चलत तोहिं पिय-पास ॥४५३॥

शब्दार्थ :—भोरतरैया = सवेरे की तारिका, तोहिं = तेरे।

प्रसंग-भावार्थ :—दूती नायिका से कहती है कि हे सखी ! तेरी जो अन्य सपत्नियाँ इस समय प्रसन्नता के कारण पुष्पों के समान विकसित होकर इधर उधर विमल प्रकाश कर रही है वे सब तेरे प्रियतम के निकट–अभिसार के लिए जाने पर प्रभात काल की तारिकाओं के समान ही निष्प्रभ हो जाएंगी।

विशेष :—प्रभात के समय तारों का प्रकाश मन्द हो जाता है।

अलंकार :—उपमा तथा अनुप्रास से युक्त व्यतिरेक।

ज्यौं ज्यौं आवति निकट, निसि त्यौं-त्यौं खरी उताल।

झमकि-झमकि टहलैं करैं लगी रहँचटे बाल ॥४५४॥

शब्दार्थ :—खरी अत्यंत, उताल = उतावली, झमकि-झमकि = शीघ्रता-

पूर्वक, रहंचटे लगी = अभिलाषा से भरी ।

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी दूसरी से कहती है कि जैसे-जैसे निशा निकट आती जाती है वैसे ही वैसे वह अधिक उतावली होती जाती है तथा प्रिय (नायक) से मिलने की अभिलाषा से भरी हुई वह इधर से उधर शीघ्रता में चलती फिरती है।

अलंकार :—स्वभावोक्ति ।

झुकि झुकि झपकौंहै पलनु, फिरि फिरु मुरि जम्हुआइ ।
बीदि पियागमु नींद मिस, दी सब सखीं उठाइ ।।४५५।।

शब्दार्थ :—झपकौंहें = उन्निद्र, पलनु = पलकों को, जम्हुआइ = विजृंभित (जम्हुआई लेकर) बीदि = जानकर, पियागमु = प्रियागमन ।

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी का दूसरी सखी से कथन है कि उसने (नायिका ने) प्रियतम के आने का समय जानकर अपनी पलकों को उनींदी बनाते हुए बार-बार झुकना-झूमना प्रारम्भ कर दिया और वह रह-रह के जमुहाई लेने लगी तथा नींद का बहाना करके उसने अपनी सभी सखियों को हटा दिया ।

अलंकार :—अनुप्रास, पुनरुक्ति तथा पर्यायोक्ति तथा अपह्नुति ।

उयौ सरद-राका-ससी, करति क्यों न चित चेतु ।
मनौ मदनु छितिपाल कौ, छाँहगीरु छबि देतु ।।४५६।।

शब्दार्थ :—उयौ = उग आया, राका = पूर्णिमा, चेतु = विचार, मदनु = कामदेव, छितिपाल = नृप ।

प्रसंग-भावार्थ :—दूती नायिका से कहती है कि देख तो पूर्णिमा का चंद्रमा उग आया है तनिक मन में अपने अभिसार के वचन का विचार तो करले । यह चंद्रमा तो इस प्रकार शोभा दे रहा है मानों कामदेव रूपी राजा के शिर पर छत्र सुशोभित हो रहा हो ।

अलंकार :—अनुप्रास, रूपक तथा उत्प्रेक्षा ।

सघन कुंज, घन घन तिमिरु, अधिक अँधेरी राति ।
तऊ न दुरिहै, स्याम, वह, दीपसिखा-सी जाति ।।४५७।।

शब्दार्थ : सघन = घना, घन = मेघ, नदुरिहै = नहीं छिपती ।

प्रसंग-भावार्थ :—दूती नायक से नायिका के रूप की प्रशंसा में कहती है कि यद्यपि अभिसार के कुंज में सघनता है तथा बादलों में भी आज सघन नीलिमा (अंधकार) है तथा रात्रि भी अधिक अंधकारमय है किन्तु हे श्याम ! वह इतना होने पर भी छिप नहीं सकेगी; अपितु दीपशिखा के समान ही अभिसार के लिए जाती हुई दिखाई पड़ेगी।

अलंकार : --यमक तथा उपमा-परिपुष्ट-विशेषोक्ति।

तुलनात्मक :—"तेरी औरै भांति की 'दीपसिखा से देह'।
ज्यौं ज्यौं दीपति जगमगै त्यौं त्यौं बाढ़त नेह ॥"

—मतिराम

अँगुरिनु उचि भरु भीत दै उलमि चितै चख लोल।
रुचि सौं दुहूँ दुहूँनु कै, चूमे चारु कपोल ॥४५८॥

शब्दार्थ :—अंगुरिनु उचि = पैरों की उंगलियों के वल खड़े होकर, उलमि = उल्लम्बित होकर, चख = चक्षु।

प्रसंग-भावार्थ:—एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि उन दोनों (नायक तथा नायिका) ने पैर के पंजों के बल खड़े होकर अपने शरीर के भार को दीवार का सहारा देते हुए तथा चंचल दृष्टि से इधर उधर देखते हूए तनिक उल्लम्बित होकर (आगे बढ़कर) एक दूसरे के सुन्दर कपोलों को अत्यंत प्रेम से चूम लिया।

अलंकार : - अन्योन्य तथा अनुप्रास।

(संभोग-शृङ्गार-वर्णन)

मिसि हीं मिसि आतप, दुसह दई और बहराइ।
चले ललन मन भावतिहि तन की छाँह छिपाइ ॥४५९॥

शब्दार्थ :—मिसि हीं मिसि = बहाने कर करके, बहराइ = बहलाकर।

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि नायक ने गर्मी की अधिकता के कारण अपने न चलने का बहाना दूसरी नायिकाओं से कर दिया। उनके जाने पर बह ललन (प्रियतम) मन भावती नायिका को अपने शरीर की छाया में छिपा कर रमण करने के लिए चल दिया।

अलंकार :—पर्यायोक्ति तथा अपह्नुति ।

दोऊ चाह भरे कछु चाहत, कह्यौ, कहै न ।

नहिं, जाँचकु सुनि, सूम लौं, बाहिर निकसत बैन ॥४६०॥

शब्दार्थ :—सूम =लोभी ।

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि दोनों ही के (नायक तथा नायिका के) मन में प्रेम है। दोनों ही कुछ कहना चाहते हैं। उनके वचन इसी प्रकार मुख से बाहर नहीं निकल पाते जिस प्रकार द्वार पर खड़े याचक की प्रार्थना सुनकर कोई कृपण व्यक्ति भीतर से नहीं निकलता ।

अलंकार :—पूर्णोपमा ।

लहि सूनैं घर करु गहत दिठादिठी की ईठि ।

गड़ी सु चित नाहीं करति करि ललचौंहीं डीठि ॥४६१॥

शब्दार्थ :—ईठि = प्रेम, गड़ी = घुस गई, ललचौंही = चाह भरी ।

प्रसंग-भावार्थ :—नायक अपने अंतरंग सखा से कहता है कि मेरी उसकी देखादेखी की प्रीति थी। एक दिन सूने घर में पाकर मैंने उसका हाथ पकड़ कर रमण करने की प्रार्थना की। उसने ललचाई दृष्टि से अर्थात् चाह कर भी 'नहीं' कह दिया। तभी से उसकी 'नाहीं' मेरे मन में भली प्रकार बैठ गई है ।

अलंकार :—स्मृति ।

तनक झूठ न सवादिली कौन बात परि जाइ ।

तिय-मुख रति-आरंभ की नहिं झूठियै मिठाइ ॥४६२॥

शब्दार्थ :—सवादिली = स्वादिष्ट, जाइ = व्यर्थ ।

प्रसंग-भावार्थ :—यहाँ नायक तथा दूती का परस्पर प्रश्नोत्तर है—झूठ तनिक सी भी स्वादिष्ट नहीं होती है। ऐसी कौन सी बात है, नायक पूछता है, जहाँ यह कथन सिद्ध होता हो ? इसका उत्तर है कि नायिका के मुख से रति की झूठी अस्वीकृति भी मीठी लगती है ।

अलंकार :—गूढ़ोत्तर ।

चाले की बातैं चलीं, सुनत सखिनु कैं टोल ।

गोएँ हूँ लोइन हँसति, विहँसत जात कपोल ॥४६३॥

शब्दार्थ :—चाले की = गौने की, टोल = समूह, गोएं = छिपाने पर, लोइन = नेत्र ।

प्रसंग-भावार्थ:—एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि जैसे ही उसने अपनी सखियों के समूह में बैठकर यह सुना कि उसका गौना होने जा रहा है तो इन वातों के चलते ही उसके नेत्र छिपाने पर भी हंसने लगे तथा कपोलों के ऊपर एक स्वाभाविक सी हंसी उभर आई।

अलंकार :—विभावना तथा प्रहर्षण।

नहिं हरि लौं हियरा धरौ, नहिं हर लौं अरधंग।
एकत ही कर राखियै अंग अंग प्रति अंग ॥४६४॥

शब्दार्थ :—हरि लौं = विष्णु के समान, हर = शंकर।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका की दूती नायक से उसी के सम्मुख कहती है कि न तो इसे तुम विष्णु के समान हृदय से ही लगाओ और न शंकर बनकर इसके अर्धाङ्ग को अपने अर्धाङ्ग से सम्पृक्त करो, अपितु इसके एक अंग को अपने एक-एक अंग से दृढ़ता पूर्वक मिलाकर एकाकार कर दीजिए।

विशेष :—नायिका आलिङ्गन की ही नहीं प्रत्युत रति की आभिलाषिणी भी है।

अलंकार :—उपमा।

रही, पैज कीनी जु मैं, दीनी तुमहिं मिलाइ।
राखहु चंपकमाल लौं, लाल, हियैं लपटाइ ॥४६५॥

शब्दार्थ :—पैज = प्रतिज्ञा, चंपकमाल = चम्पे के पुष्पों की माला।

प्रसंगभावार्थ :—नायिका की सखी नायक से कहती है कि मैंने जो प्रतिज्ञा की थी उसे अब पूरा कर दिया है अर्थात् तुम्हें नायिका से मिलवा दिया है; अतः हे लाल ! उसे चम्पक पुष्पों की माला के समान हृदय से चिपटा कर रक्खो।

अलंकार :—उपमा।

रहि मुँह फेरि कि हेरि इत, हित समुहौं चितु, नारि।
डीठि परस उठि पीठि के पुलके कहैं पुकारि ॥४६६॥

शब्दार्थ :—पुलके = रोमराजि ।

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी नायिका को, जो कि नायक को आया देखकर पीठ करके खड़ी हो गई है सम्बोधित करती है कि तू मुंह फेरकर क्यों बैठी है। अरी नारि सम्मुख प्रेम से देख । वैसे ऐसा करने से भी तेरे प्रेम का परिचय हो जाता है क्योंकि नायक की दृष्टि के संस्पर्श के कारण तेरी पीठ की रोमावली पुलकित होकर तेरे (नायक के प्रति) प्रेम को पुकार-पुकार कर बता रही है ।

अलंकार —अनुमान तथा अनुप्रास ।

हँसि ओठनु बिच करु, उचै कियैं निचौहैं नैन ।

खरैं अरैं प्रिय कैं प्रिया, लगी बिरी मुख दैन ॥४६७॥

शब्दार्थ :—खरैं अरैं = अधिक अनुरोध पर, बिरी = पान ।

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी अन्य सखी से कहती है कि जब नायक ने नायिका के पान खिलाने का बार-बार अनुरोध किया तो उसने होठों में मुस्करा कर, हाथ ऊंचा उठाते हुए तथा लाज से दृष्टि को झुकाते हुए नायक के मुख में पान का बीड़ा दे दिया ।

विशेष :—'रत्नाकर' ने बिरी शब्द का अर्थ बीड़ी से लिया है ।

अलंकार : —स्वभावोक्ति तथा सूक्ष्म ।

कर उठाइ घूँघटु करत, उझरत पट गुझरौट ।

सुख-मोटैं लूटीं ललन, लखि ललना की लौट ॥४६८॥

शब्दार्थ :—उझरत = हटते ही, गुझरौट = शिकन पड़ा हुआ, लौट = त्रिबली ।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि जैसे ही नायिका ने सिलबटों से भरे हुए घूंघट पट को अपने हाथों से एक ओर को हटाया वैसे ही नायक ने नायिका त्रिबली को देखकर सुख की गठरी को लूट लिया ।

अलंकार :—हेतु-स्वभावोक्ति-अनुप्रास तथा रूपक ।

सरस सुमिल चित तुरँग की, करि करि अमित उठान ।

गोइ निबाहैं, जीतियै, खेलि प्रेम-चौगान ॥४६९॥

शब्दार्थ :—सरस = पुष्ट प्रेम, तुरंग = अश्व, उठान = दौड़-अतिरेक,

गोइ = छिपकर ।

प्रसङ्ग-भावार्थ—दूती नायक से कहती है कि इस प्रेम रूपी चौगान के खेल को छिपकर तथा सावधानी के साथ प्रेम पूर्ण हृदय रूपीं सुपुष्ट अश्व पर बैठकर खेलिए जिसकी उठान (दौड़ अथवा स्नेहातिरेक) अत्यंत ही तीव्र है ।

विशेष :—असावधानी से घोड़ा दोड़ाया तो गेंद पाली तक नहीं पहुँच पाएगी ।

अलंकार :—सांगरूपक तथा श्लेष ।

नाक मोरि, नाहीं ककै, नारि निहोरैं लेइ ।
छुवत ओठ बिय आँगुरिनु बिरी बदन प्यौ देइ ॥४७०॥

शब्दार्थ :- निहोरैं लेइ = प्रार्थना करती है, बिरी = पान का बीड़ा, बदन = मुख ।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—नायक ने नायिका को पान खिलाते समय उसके अधरों पर अपनी उंगली रख दी है । इसे देखकर एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि उसने नासिका मोड़ते हुए, अस्वीकृति देते हुए बार-बार प्रार्थनाएं कीं कि वह अपनी उंगली उसके अधरों से न छुलाए ।

अलंकार :—स्वभावोक्ति ।

दीप उजेरैं हूँ पतिहिं, हरतु बसनु रति काज ।
रही लपटि छबि की छटनु, नैंकौ छुटी न लाज ॥४७१॥

शब्दार्थ- उजेरैं हूं = जलते हुए भी ।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—कोई सखी किसी अन्य सखी से कहती है कि दीपक के प्रकाश में नायक ने रति करने के लिए जैसे ही नायिका के वस्त्रों को हटाया तो उसकी दृष्टि नायिका के स्वाभाविक सौन्दर्य के चकाचौंध में भटक गई अर्थात् वह उसे नग्नावस्था में न देख सका और नायिका की लाज भी नहीं छूट सकी ।

अलंकार :—विशेषोक्ति ।

तुलनात्मक :—वसन हरत वस नहिं चल्यौ पिय बतरस बस आय ।
आँगन चिलक तिय नगन की लीनी लाज बराय ॥

लखि दौरत पिय-कर-कटकु, वास-छड़ावन-काज ।
बरुनी-बन गाढ़ैं दृगनु, रही गुढ़ौ करि लाज ॥४७२॥

शब्दार्थ :—कटकु = सोना, गाढ़ें = सघन ।

प्रसंग-भावार्थ:—एक सखी ग्रन्य सखी से कहती है कि जैसे ही नायिका ने रति के समय वास (वस्त्र) रूपी वास (स्थान) को छुड़ाने के लिए नायक के हाथ रूपी सैन्यदल को दौड़ते हुए (ग्रंगों की ग्रोर बढ़ते हुए) देखा तो लज्जा नेत्रों की बरौनियों के सघन बन में जाकर छिप गई, ग्रर्थात् नायिका ने रत्यानंद एवं लाज के कारण ग्रपनी पलकें मूंद लीं ।

ग्रलंकार :—साङ्गरूपक तथा समासोक्ति ।

चमक, तमक, हांसी, ससक, मसक, झपट, लपटानि ।
ए जिंहि रति, सो रति मुकुति, ग्रौर मुकुति रति हानि ।।४७३।।

शब्दार्थ :—मुकुति = मुक्ति (मोती) मोक्ष ।

प्रसंग-भावार्थ :—कोई विलासी व्यक्ति दार्शनिक की मुक्ति का उपहास करते हुए कहता है कि जिस रति में चमक (छवि के कारण), तमक (मान) हँसी, सिसकी, मसक (ग्रंग मर्दन), झपट (ग्रालिङ्गन) तथा लिपटना ग्रादि क्रियाएं होती हैं वही वास्तविक मुक्ति है ग्रौर शेष जितनी भी मुक्तियाँ हैं वे रति की छवि मात्र हैं ।

विशेष:—मुक्ति तथा रति दोनों में ही व्यक्ति लौकिक ग्रनुभूतियों से छूट जाता है ।

ग्रलंकार :—व्यतिरेक ।

जदपि नांहि नाहीं नहीं, बदन लगी जक जाति ।
तदपि भौंह हाँसी भरिनु हाँसीयै ठहराति ।।४७४।।

शब्दार्थ :—बदन = मुख, जक = रटन ।

प्रसंग-भावार्थ :—नायक किसी मित्र से कहता है कि यद्यपि उसके मुख से निरंतर 'नहीं, नहीं', की रट निकलती रहती है तथापि वह (रट) उसकी सस्मित भौंहों के कारण स्वीकारोक्ति सी जान पड़ती है ।

ग्रलंकार : –ग्रनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा ।

भौंहनु त्रासति, मुंह नटति, ग्राँखिनु सौं लपटाति ।
ऐंचि छुड़ावति करु, इंची, ग्रागैं ग्रावत जाति ।।४७५।।

शब्दार्थ : -त्रासति = डराती है, नटति = मना करती करती है, इंची = खिंची।

प्रसंग भावार्थ :--कोई सखी किसी दूसरी सखी से कहती है कि वह (नायिका) नायक को देखकर तथा उसके रति निवेदन को सुनकर भौंहों से उसे डराती है, मुख से अस्वीकार करती जाती है परन्तु नेत्रों से जैसे उससे आलिंगन कर रही हो। वह नायक के हाथों से अपने हाथ को खींचकर स्वयं आगे खिंची चली जाती है।

अलंकार :—स्वभावोक्ति।

सकुचि सुरति-आरंभ हीं बिछुरी लाज लजाइ।
ढरकि ढार ढुरि ढिग भई, डीठि डिठाई आइ ॥४७६॥

शब्दार्थ :—ढरकि = अभिलाषिणी होकर, ढार = मुद्रा, ढुरि = खिचकर, डिठाई = धृष्टता ।

प्रसंग-भावार्थ :—नायक दूती से कहता है कि पहले तो रति के आरम्भ में वह (नायिका) संकुचित हो गई फिर धीरे-धीरे उसकीलज्जा स्वयं लजाकर दूर हो गई। जैसे ही उसके मन में भी रति की चाह जगी वैसे ही वह खिचकर मेरे समीप आ गई और उसकी दृष्टियों में भी (सामान्या नायिका जैसी धृष्ठता) आ गई।

अलंकार :—अनुप्रास तथा अत्युक्ति।

पति रति की बतियाँ कहीं, सखी लगी मुसकाइ।
कै कै सबै टलाटली, अलीं चलीं सुखु पाइ ॥४७७॥

शब्दार्थ :—वतियाँ = बातें, टलाटली = चल जाना।

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि जैसे ही नायक नायिका के पास आया और उसने रति की बातें करना प्रारम्भ कर दिया वैसे ही उसने (नायिका ने) सखियों की ओर मुस्कराकर देखा। सखियाँ भी मुस्कराती हुईं, मन में हर्षित होकर वहाँ से एक-एक करके चली गईं।

अलंकार :—पर्यायोक्ति।

सकुचि सरकि पिय निकट तैं मुलकि कछुक, तन तोरि।
कर आँचर की ओट करि जमुहानी मुहुँ मोरि ॥४७८॥

शब्दार्थ :—मुलकि = मुस्कराकर, तन तोरि = अंगड़ाई लेकर।

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि प्रौढ़ा नायिका ने रति की इच्छा प्रकट करने के लिए तनिक संकुचित होकर, प्रिय के निकट से थोड़ा सरक कर, मुसकराते हुए हाथ और अंचल की ओट करके मुंह मोड़ते हुए जमुहाई ली।

अलंकार—स्वभावोक्ति-समुच्चय तथा अनुप्रास।

हरषि न बोली, लखि ललनु, निरखि अमिलु सँग साथु।
आँखिनु हीं मैं हँसि, धर्यौ, सीस हियैं धरि हाथु ॥४७९॥

प्रसङ्ग-भावार्थ :—नायक नायिका के पास आया है। उसकी सखी किसी अन्य सखी से कहती है कि वह उससे हर्षित होकर नहीं बोली क्योंकि उसके साथ बेमेल संगी साथी थे। अतः उसने फिर मिलने के लिए संकेत करने को आँखों ही आँखों में मुस्करा दिया फिर हाथ को हृदय पर रखने के बाद सिर पर रख लिया।

विशेष :—इस संकेत के द्वारा नायिका स्पष्ट कर देती हैं कि उसे अपनी प्रतिज्ञा, समय तथा अभिसार का स्थान स्मरण है, वह अवश्य आएगी। नायिका क्रिया विदग्धा है।

अलंकार :—सूक्ष्म।

कोरि जतनु कोऊ करौ, तनु की तपन न जाइ।
जौ लौं भीजैं चीरु लौं, रहै न प्यौ लपटाइ ॥४८०॥

शब्दार्थ :—कोरि = करोड़, चीरु = वस्त्र, लौं = समान।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—कोई प्रेमी नायिका अपनी किसी मित्र से कहती है कि करोड़ों यत्न कर लो किन्तु शरीर का ताप फिर भी नहीं जाएगा। जब तक कि भीगे वस्त्र के समान स्वयं प्रियतम ही अपने दृढ़ आलिंगन से उसे दूर न करे। [दृढ़ आलिंगन से स्वेदसलिल निकलता ही है जिससे वस्त्र सिक्त हो जाते हैं]।

अलंकार :—विशेषोक्ति तथा पूर्णोपमा।

भैंटत बनै न भावतौ, चितु तरसतु अति प्यार।
धरति लगाइ लगाइ उर, भूषन, बसन, हथ्यार ॥४८१॥

प्रसङ्ग-भावार्थ :—कोई सखी दूसरी किसी सखी से कहती है कि वह (नायिका) प्रियतम से भेंट नहीं कर पाती इसलिए मन में प्यार करने की तीव्रता के कारण तरसती रहती है और अपने नायक के भूषण, परिधान तथा आयुधों (अस्त्र) को ले लेकर ही छाती से लगाकर नायक के आलिंगन का सुख लाभ करती है।

अलंकार :—प्रत्यनीक।

गली अँधेरी, साँकरी, भौ भटभेरा आनि।
परे पिछाने परसपर, दोऊ परस पिछानि ॥४८२॥

शब्दार्थ :—भटभेरा = मेल।

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी किसी अन्य सखी से कहती है कि नायक-नायिका दोनों ही अंधेरे में किसी संकरी गली से होकर विपरीत दिशाओं की ओर जा रहे थे अतः उनमें परस्पर मुठभेड़ हो गई किन्तु दोनों ने ही एक दूसरे के शरीर को अंधकार में पहचान कर परस्पर एक दूसरे को भी पहचान लिया।

विशेष :—यह दोहा नायक तथा नायिका के प्रेम की गूढ़ता का प्रतीक है।

अलंकार :—उन्मीलित।

तुलनात्मक :—खेलत चोर मिहीचिनी परे प्रेम पहिचानि।
"जानी प्रगटत परस तैं तियलोचन पिय आनि ॥"

—मतिराम

बिनती रति बिपरीति की, करी परसि पिय पाइ।
हँसि, अनबोलैं हीं दियौ, ऊतरु, दियौ बताइ ॥४८३॥

प्रसङ्ग-भावार्थ :—एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि नायक ने नायिका के पैरों को छूकर उससे बिपरीत रति करने के लिए निवेदन किया। नायिका ने भी बिना बोले ही मुस्कराकर उसे स्वीकारात्मक उत्तर दे दिया।

विशेष :—'अनबोले ही दियौ' का अर्थ संकोचवश नायिका के द्वारा दीपक बुझा लेने से भी किया जा सकता है।

अलंकार :—अनुप्रास, सूक्ष्म तथा श्लेष ।

पर्‌यौ जोरु, बिपरीत रति, रुपी सुरत-रन-धीर ।

करत कुलाहल किंकिनी, गह्यौ मौनु मंजीर ॥४८४॥

शब्दार्थ :—रुपी = उठी हुई, रन = युद्ध ।

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि आज नायक तथा नायिका दोनों ही के बीच विपरीत रति रूपी युद्ध छिड़ रहा है, जिसमें नायिका धैर्यपूर्वक डटी हुई है । उसकी किंकिणियां शब्द रूपी कोलाहल कर रही हैं जिसके सम्मुख मंजीरों ने अपने मौन धारण कर लिया है ।

अलंकार :—रूपक, मानवीकरण, अनुप्रास तथा अनुमान ।

तुलनात्मक :—"रति विपरीत प्रस्वेद कन पिय कौं सींचति वाम ।
मनौं प्रौढ़ पुन्नाग कैं मुकुलति पूजति काम ।"

—मतिराम

रमन कह्यौ हठि रमन कौं, रति बिपरीत बिलास ।

चितई करि लोचन सतर, सलज, सरोस, सहास ॥४८५॥

शब्दार्थ :—रमन = प्रियतम, रमन = रति, सतर = तिरछे, सरोस = क्रोध सहित ।

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी का दूसरी सखी के प्रति कथन है कि नायक ने नायिका से विपरीत रति विलास में रमण करने के लिए जैसे ही कहा वैसे ही वह उसकी ओर तिरछी दृष्टि करके, लाज, क्रोध तथा मुस्कराहट के साथ देखने लगी ।

अलंकार :—अनुप्रास-यमक तथा स्वभावोक्ति ।

तुलनात्मक :—"वैठि रहै रोवै हंसै आतुर उतरि उताल ।
प्रथम सुरति विपरीत की रीति न जानति वाल ॥"

—मतिराम

मेरे बूझत बात तू कत, बहरावति, बाल ।

जग जानी विपरीत रति, लखि बिंदुली पिय भाल ॥४८६॥

शब्दार्थ :—विन्दुली = विन्दी ।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—कोई सखी नायिका से कहती है कि मेरे द्वारा प्रश्न किए जाने पर हे बाला ! तू मुझे क्यों बहला रही है ? मैंने ही नहीं अपितु सारे संसार ने तेरे प्रियतम के मस्तक पर बिन्दी का चिह्न लगा देखकर यह अनुमान कर लिया है कि तुमने विपरीत-रति की है ।

अलंकार :—अनुप्रास तथा अनुमान ।

राधा हरि हरि राधिका, बनि आए संकेत ।
दंपति रति विपरीत सुख, सहज सुरत हूँ लेत ॥४८७॥

शब्दार्थ :—संकेत = मिलन स्थल, दंपति = राधा कृष्ण ।

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी अन्य सखी से कहती है कि राधा ने हरि का तथा हरि ने राधिका का वेष धारण कर लिया । इस प्रकार मिलनस्थल पर आकर सहज क्रीड़ा में भी (वेष परिवर्त्तन के कारण) वे दोनों विपरीत रति का आनंद ले रहे हैं ।

अलंकार :—अनुप्रास तथा विभावना ।

लहि रति-सुख लगियै हियैं, लखी लजौंहीं नीठि ।
खुलति न, मो मन बँधि रही, वहै अधखुली डीठि ॥४८८॥

शब्दार्थ :—हियैं = छाती से, नीठि = प्रयत्नपूर्वक ।

प्रसंग-भावार्थ—नायक किसी सखी से नायिका की सुरतान्तमुद्रा का वर्णन करता है कि उसने रति सुख प्राप्त करने के वाद मेरे वक्ष से स्वयं को लगाकर अत्यंत लाज भरी दृष्टि से मेरी ओर प्रयत्न करते हुए देखा था । उस समय की वह अर्द्धनिद्रित नेत्रों की अधखुली दृष्टि मेरे मन से आकर इस प्रकार वंध गई है कि अब खुल भी नहीं पाती ।

अलंकार :—विरोधाभास तथा स्मरण ।

रँगी सुरत-रँग, पिय हियैं, लगी जगी सब राति ।
पैंड़ पैंड़ पर ठठुकि कैं, ऐंड़ भरी ऐंड़ाति ॥४८९॥

शब्दार्थ :—रंगी = अनुरक्त, पैंड़ पैंड़ पर = पग पग पर, ठठुकि कैं = ठिठकते हुए, ऐंड़ = अंगड़ाई, ऐंड़ाति = अभिमान करती है ।

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी दूसरी सखी से नायिका की सुरतांत मुद्रा का

वर्णन करते हुए कहती है कि वह सुरति के विलास में पूर्णतः अनुरक्त होकर, सारी रात प्रियतम के कण्ठ से लगी रही है, यही कारण है कि अब वह दिन में पग पग पर चलने में ठिठकती है तथा रतिश्रम एवं नैश जागरण के कारण अंगड़ाई लेती हुई अभिमान प्रदर्शन कर रही है।

विशेष :—कवि ने आलस्य तथा गर्व-दोंनों ही संचारी भावों की सुन्दर अन्विति की है।

अलङ्कार :—रूपक, वीप्सा तथा अनुमान से पुष्ट स्वभावोक्ति।

नटि न, सीस साबित भई, लुटी सुखनु की मोट।
चुप करि ए चारी करति, सारी परी सलोट ॥४६०॥

शब्दार्थ :—नटि न = अस्वीकार मत कर, लुटी = लूटती, मोट = गठरी, चारी करति = बताती हैं, सलोट = सिलवटें, शिकन।

प्रसंग-भावार्थ:—कोई सखी नायिका से कहती है कि तुम अस्वीकार मत करो। यह तो तुम्हारे शिर से ही (वेणी खुल जाने से) सिद्ध हो रहा है कि तुमने सुख रूपी गठरी को लूट लिया है। तुम चुप भले ही बनी रहो परन्तु तुम्हारी साड़ी की ये सिकुड़नें मुझे चर की भाँति सब कुछ बताए दे रही हैं (कि तुमने नायक के साथ रमण किया है)।

अलङ्कार :—रूपक-अनुप्रास और अनुमान।

सही रँगीली रति-जगैं, जगी पगी सुख चैन।
अलसौंहैं सौंहैं किऐं कहैं हँसौंहैं नैन ॥४६१॥

शब्दार्थ :—रंगीलीं = रंगीली-प्रेम भरी, अलसौंहैं = अलस, सौंहैं किऐं = सम्मुख किए-शपथ लेकर, हंसौंहें = हास्ययुक्त।

प्रसंग-भावार्थ :—सखी नायिका से कहती है कि हे रंगीली तू बिलकुल ठीक कह रही है कि कल रात भर तू जागती रही है (रतजगे में) इसीलिए तो तेरे मुख पर सुख और संतोष के चिह्न दिखाई पड़ रहे हैं। तेरे, सामने किए हुए ये अलस नेत्र मुस्करा मुस्करा कर, तुम्हारे द्वारा शपथ ले लेने पर भी सब कुछ बताए दे रहे हैं।

अलंकार :—यमक तथा काकुवक्रोक्ति।

यौं दलमलियतु निरदई, दई, कुसुम सौ गातु ।
करु धरि देखौ, धरधरा, उर कौ अजौं न जातु ॥४९२॥

शब्दार्थ :—दलमलियतु = दबाता है, निरदई = निर्भय, दई = दैव, धरधरा = स्पंदन ।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका की सखी उसके सम्मुख ही किसी अन्य सखी से कह रही है कि हा दैव ! उस निर्दयी प्रियतम ने जिस प्रकार इसके (नायिका के) कुसुम से सुकुमार गात्रों को दबाया है वैसे कोई और भी दबाता है, अर्थात् नहीं । अरी इसके वक्षस्थलों पर तनिक हाथ धर कर के तो देखो, अभी भी इसकी धड़कनें वैसी ही तीव्रता से चल रही हैं ।

अलंकार :—भाविक तथा यमक ।

तुलनात्मक :—"यों मींजत कोऊ लला अबलन अंग बनाय ।
मलें पुहुप की वास लौं सांस न जानी जाय ॥"

—रसलीन

कियौ जु चिबुक उठाइ कैं, कंपित कर भरतार ।
टेढ़ीयै टेढ़ी फिरति, टेढ़ैं तिलक लिलार ॥४९३॥

शब्दार्थ :—चिबुक = ठोढ़ी, भरतार = भर्त्ता-पति, लिलार = ललाट ।

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि जो स्वामी ने (नायक ने) अपने कंपित कर से इसकी ठोढ़ी को उठाकर चूम लिया है सो यह टेढ़ी ही टेढ़ी फिरती है तथा ललाट पर तिलक भी टेढ़ा ही लगाए हुए है ।

विशेष :— रूपगर्विता नायिका का वर्णन किया गया है ।

अलंकार :—विभावना तथा लोकोक्ति ।

छिनकु उघारति, छिनु छुवति; राखति छिनकु छिपाइ ।
सब दिनु पिय-खण्डित-अधर दरपन देखत जाइ ॥४९४॥

शब्दार्थ :—छिनकु एक क्षण, उघारति = खोलती है, खण्डित = दन्तक्षत ।

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी दूसरी से कहती है कि वह (नायिका) तो दिन भर दर्पण के सम्मुख जाकर अपने प्रियतम के द्वारा क्षत किए हुए

अधर चुम्बन के चिह्न को देखती रहती है। कभी उसे खोलती है तो कभी छरण भर को छू लेती है और कभी एक क्षरण के लिए उसे छिपा लेती है।

अलंकार :—अनुप्रास तथा कारक दीपक।

मो सौं मिलवति चातुरी, तू नहिं भानति भेउ।

कहे देत यह प्रगट हीं, प्रगट्यौ पूस पसेउ ॥४६५॥

शब्दार्थ :—भानति = कहती, भेउ = रहस्य, प्रगट = स्पष्ट, पूस = पौष, पसेउ = पसीना-श्रमजल।

प्रसंग-भावार्थ :—कोई सखी नायिका को देखकर कहती है कि तू मुझसे क्यों यह चतुराई भरी वातें कह कर वास्तविकता को छिपा रही है ? तू रहस्य को खोलती क्यों नहीं है ? इस पौषमास में आने वाला पसीना तेरी प्रत्येक वात को कह देगा, जो कि प्रगट रूप से बह रहा है।

विशेष :—पौषमास शरत्काल का महीना होता है। अतः उन दिनों में किसी व्यक्ति के, बिना श्रम के, माथे पर पसीना आना स्वाभाविक नहीं।

अलंकार :—विभावना तथा अनुप्रास।

तुलनात्मक :—मतिराम की नायिका ने भी अपनी सखियों से रति के प्रसंग को छिपाया है—

"कहा छिपावति मुगध तिय बोलि चातुरी बोल।
कहे देति अनुराग की कीरति कलित कपोल ॥"

—मतिराम

नीठि नीठि उठि बैठि, हूँ प्यौ प्यारी परभात।

दोऊ नींद भरैं खरैं, गरै, गरै लागि, गिरि जात ॥४६६॥

शब्दार्थ :—नीठि नीठि = प्रयत्न कर-करके, गरै = कण्ठ से।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि प्रभात काल हो गया है। नायक तथा नायिका दोनों ही रति शैया से प्रयत्न कर-कर के उठकर बैठने लगते हैं किन्तु दोनों ही निशा जागरण के कारण नेत्रों में पर्याप्त नींद भरे हुए हैं, अतः एक दूसरे के कण्ठ से लगकर फिर शैया में ही गिर जाते हैं।

अलंकार :—वीप्सा, अनुप्रास तथा स्वभावोक्ति।

लाज-गरब-आलस-उमग-भरे नैन मुसकात।
राति-रमी रति देति कहि, औरै प्रभा प्रभात ॥४९७॥

शब्दार्थ :—प्रभा = चमक।

प्रसंगभावार्थ:—एक सखी दूसरी से सखी कहती है कि नायिका के मुख की प्रभातकालीन छवि ही यह बता रही है कि वह रात में नायक के साथ रमण करती रही है क्योंकि उसके नेत्र लज्जा, गर्व, अलसता तथा उमंग से पूर्ण होकर मुस्करा रहे हैं।

अलंकार :—भेदकातिशयोक्ति, अनुप्रास, यमक तथा अनुमान।

लखि लखि अँखियनु अधखुलिनु, आँगु मोरि अँगराइ।
आधिक उठि, लेटति लटकि, आलस भरी जम्हाइ ॥४९८॥

प्रसंगभावार्थ :—कोई सखी किसी अन्य सखी से कह रही है कि वह (नायिका) अधखुली अँगड़ाइयाँ लेकर शैया पर से आधी सी उठती है फिर रतिश्रान्ति के कारण सेज पर ही लटक कर लेट जाती है और आलस्य के कारण बार-बार जमुहाइयाँ लेने लगती हैं।

अलंकार :—कारक दीपक, वीप्सा तथा स्वभावोक्ति।

(आँख-मिचौनी-वर्णन)

दोऊ चोर मिहीचनी, खेलु न खेल अघात।
दुरत हियैं लपटाइ कै, छुवत हियैं लपटात ॥४९९॥

शब्दार्थ :—चोर मिहीचनी = आँख मिचौनी Hide and Seek.

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी अन्य सखी से कहती है कि नायक तथा नायिका दोनों ही इस आँख मिचौनी के खेल को खेलते-खेलते तृप्त नहीं हो पाते हैं। वे एक दूसरे के हृदय से चिपट कर छिप जाते हैं और फिर परस्पर लिपट कर ही एक दूसरे को छू लेते हैं।

अलङ्कार :—पर्यायोक्ति, विशेषोक्ति तथा रूपक।

प्रीतम-दृग-मिहचत प्रिया, पानि-परस-सुखु पाइ।
जानि पिछानि अजान लौं, नैंकु न होति जनाइ ॥५००॥

शब्दार्थ :—पानिपरस = कर स्पर्श।

प्रसंग-भावार्थ :—कोई सखी किसी अन्य सखी से कहती है कि नायिका ने नायक के नेत्रों को वन्दकर दिया है तथा नायक उसके कर स्पर्श रूपी आनन्द को पाकर परिचित होकर भी अनजान की भाँति अभिनय करने लगता है अर्थात् पूछता है कि ये हाथ किसके हैं ?

विशेष :—आँख मिचौनी में, खेलने वाले को मुंदे नेत्रों से ही यह बताना पड़ता है कि किसका स्पर्श है। जब तक ठीक नहीं वताया जाता तब तक उसकी आँखें बन्द ही रखी जाती है। नायक नायिका के करस्पर्श का लोभी है इसीलिए बताने में विलम्ब कर रहा है।

अलंकार :—उपमा और पर्यायोक्ति।

दृग मिहचत मृगलोचनी भर्‌यौ, उलटि भुज, बाथ।
जानि गई तिय नाथ के, हाथ परस हीं हाथ ॥५०१॥

शब्दार्थ :—बाथ = अंक।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—एक सखी अन्य सखी से कहती है कि नायक ने आकर पीछे से नायिका की आँखों को मूँद लिया। उधर नायिका ने भी बिना देखे झटपट अपनी भुजाएं उलट कर नायक को घेरे में कर लिया। जैसे ही नायिका ने नायक के हाथों का स्पर्शानुभुव किया उसे यह अनुमान हो गया कि वे हाथ नायक के ही हैं।

विशेष :—आँख मिचौनी में पीछे से ही प्राय: अनदेखे में नेत्र बन्दकर दिए जाते हैं। नायिका ने बिना सम्मुख हुए, केवल करस्पर्श के द्वारा नायक को पहचान कर अपने प्रेम की दृढ़ता का परिचय दिया है।

अलङ्कार :—अनुमान।

(झूला-वर्णन)

बरजैं दूनी हठ चढ़ैं, न सकुचै, न सकाइ।
टूटत कटि दुमची-मचक, लचकि लचकि बचि जाइ।५०२॥

शब्दार्थ :—बरजैं = वर्जन करने पर भी, सकाइ = शंका करना, दुमची = प्रतनु शाखा, मचक = लचक।

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि वह बिना

संकोच एवं शंका किए हुए, बार-बार वरजने पर भी हठ करके झूले पर चढ़ जाती है। उसकी कटि रूपी पतली शाखा मचकने से लगता है कि वह कहीं टूट न जाए किन्तु वह मानों लचक-लचक कर ही रह जाती है, अर्थात् टूटती नहीं।

विशेष :—यहाँ कवि झूले को माध्यम बनाकर नायिका की कटि का वर्णन करता है।

अलंकार :—रूपक, वीप्सा, विभावना तथा गम्योत्प्रेक्षा। नादसौन्दर्यपूर्ण शब्दावली द्रष्टव्य है।

हेरि हिंडोरैं गगन तैं, परी परी सी टूटि।
धरी धाइ पिइ बीच हीं, करी खरी रस लूटि ॥५०३॥

शब्दार्थ :—परी = अप्सरा, टूट = गिरती हुई।

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी अन्य सखी से कहती है कि हिंदोल रूपी आकाशपथ पर से नीचे की ओर टूटकर गिरती हुई अप्सरा के सामान उस नायिका को नायक ने देखकर बीच में ही दौड़कर उसे अपने आलिङ्गन में बाँध लिया तथा उसे प्रखर आनन्द लेने के पश्चात् खड़ी कर दिया।

विशेष :—अप्सराओं का गगनपथ से उतरना (पंख लगाकर) एक लोकश्रुत विश्वास है ?

अलंकार :—अनुप्रास, रूपक, यमक, वीप्सा तथा उपमा।

(हाव-वर्णन)

रहौ, गुनी बेनी, लखे, गुहिबे के त्यौनार।
लागे नीर चुचान जे, नीठि सुकाए बार ॥५०४॥

शब्दार्थ :—रहौ = रुको, चुचान = चूने लगा, त्यौनार = चातुरी।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—नायिका नायक से कहती है कि अब रुक जाओ, तुमने तो गूँथ दी वेणी और मैंने भी तुम्हारे वेणी-संहार की चतुराई देख ली। जिन केशों को मैंने इतने परिश्रम से सुखाया था उनमें से पानी (श्रमजल) चूने लगा।

अलंकार :—वक्रोक्ति तथा विभावना।

देख्यौ अनदेख्यौ कियैं, अँगु अँगु सबै दिखाइ ।
पैंठति सी तन मैं सकुचि, बैठी चितै लजाइ ।।५०५।।

शब्दार्थ :—चितै = मन में-देखकर ।

प्रसंग-भावार्थ :—कोई सखी किसी अन्य सखी से कहती है कि उसने नायक को देख लेने पर भी अनधेखा करके उसे एक-एक करके अपने सभी अंग दिखा दिए । फिर जैसे वह मन ही मन संकोच से यह देखकर (लमझ कर) कि उसने कहीं देख तो नहीं लिया तो अपनी देह के भीतर ही भीतर कह संकुचित-सी होने लगी ।

अलंकार :—स्वभावोक्ति ।

त्रिबली, नाभि दिखाइ कर, सिर ढकि, सकुचि, समाहि ।
गली, अली की ओट कै, चली भली बिधि चाहि ।।५०६।।

शब्दार्थ :—समाहि = समाहित होकर ।

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी, दूसरी सखी से कहती है कि नायिका ने पहले तो नायक को त्रिबली तथा नाभि दिखलादी, फिर तनिक संकोच से समाहित होकर उसने अपना सिर ढाँक लिया और अपनी सखी की ओट में से नायक को भली प्रकार स्नेह दृष्टि से देखकर वह गली की ओर चलदी ।

विशेष :--नायिका क्रिया विदग्धा है ।

अलंकार :—स्वभावोक्ति ।

बिहँसि बुलाइ, बिलोकि उत प्रौढ़ तिया रस घूमि ।
पुलकि पसीजति, पूत कौ, पिय-चूम्यौ मुंहु चूमि ।।५०७।।

प्रसंग-भावार्थ :--एक सखी अन्य सखी से कहती है कि मुस्कराते हुए, नायक को बुलाकर उस प्रौढ़ नायिका ने रस भरी दृष्टि से उसकी ओर देखा। फिर अपनी सपत्नी के पुत्र के उस मुंह को, जो कि नायक के द्वारा चूमा हुआ था, चूम लिया और वह पुलक-प्रस्वेद से युक्त हो उठी ।

विशेष :—यह प्रौढ़ा नायिका परकीया है । यहाँ पर शृङ्गरोचित हावों का वर्णन अत्यन्त सुन्दर ढंग से किया गया है ।

अलंकार :—असंगति तथा अनुप्रास ।

(प्रेम-परक-उक्तियाँ)

खल-बढ़ई बलु करि थके, करै न कुबत-कुठार।
आलबाल उर झालरी, खरी प्रेम-तरु-डार ॥५०८॥

शब्दार्थ :—खल =दुष्ट, कुवत कुठार = बुरी बात रूपी कुल्हाड़ी, आल-वाल = स्थाल, झालरी = हरी भरी।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—कवि का कथन है कि अब तक दुष्ट व्यक्ति रूपी बढ़इयों ने अपने दुर्वचन रूपी कुठार के द्वारा इस प्रेम रूपी तरु को काटा है पर वे बल कर करके थक गए और यह तरु आज भी अपनी शाखाओं सहित हृदय रूपी स्थाली में विकसित होकर फूल-फल रहा है।

अलंकार :—साङ्गरूपक, विशेषोक्ति तथा अत्युक्ति।

उनकौ हितु उनहीं बनै, कोऊ करौ अनेकु।
फिरतु काक गोलकु भयौ, दुहूँ देह ज्यौं एकु ॥५०९॥

शब्दार्थ :—हितु = प्रेम, गोलक = नेत्र की पुतली।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि कहता है कि भले ही संसार मिथ्याप्रेम की स्थापना के लिए जो जी चाहे प्रयत्न करले परन्तु वास्तविक प्रेम तो सच्चे प्रेमी प्रेमिका ही कर सकते हैं जो प्रत्यक्षतः देखने पर तो काक नेत्रों के समान ही हैं परन्तु सूक्ष्म रूप से वे काकचक्षु की पुतली के समान एक ही होकर रहते हैं।

विशेष : -कौए के दोनों नेत्रों में एक ही पुतली होती है।

अलंकार—विशेषोक्ति और उपमा।

तुलनात्मक :—"अद्वैतं सुख दुःखयो"–-भवभूति (प्रेम में सदा अद्वैत रहता है)।

करतु जातु जेती कटनि बढ़ि रस-सरिता-सोतु।
आलबाल-उर प्रेम-तरु, तितौ तितौ दृढ़ होतु ॥५१०॥

शब्दार्थ—जेती = जितनी, कटनि = काट छाँट--खिझाना, तितौ तितौ = उतना उतना ही।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि कहता है कि शृंगार रूपी सरिता का स्रोत बढ़ कर जितना-जितना तटवर्ती भूमि को काटता जाता है उतना ही उतना प्रेम रूपी

तरु का आलबाल (स्थालक) निरन्तर दृढ़तर होता जाता है ।

अलंकार :– विशेषोक्ति तथा रूपक ।

छूटत न पैयतु छिनकु बसि, नेह-नगर यह चाल ।
मार्यौ फिरि फिर मारियै, खूनी फिरै खुस्याल ॥५११॥

शब्दार्थ :— खुस्यालु = खुशहाल ।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि कहता है कि इस प्रेम रूपी नगर का विचित्र ही संविधान है । कोई यहाँ एक क्षण बस लेने पर फिर कहीं अन्यत्र नहीं जा सकता है । यहाँ एक बार (नेत्रों के) मारे हुए व्यक्ति को ही फिर-फिर दण्ड मिलता है किन्तु मारने वाला (प्रिय) सदा खुशहाल होकर विचरण करता है ।

विशेष :—प्रेमी का मन और प्रिय के नेत्रों से यहाँ कवि का विशेष तात्पर्य है ।

अलंकार :—रूपक तथा रूपकातिशयोक्ति ।

बढ़ति निकसि कुच कोर रुचि कढ़त गौर भुजमूल ।
मनु लुटिगौ लोटनु चढ़तु, चौंटत ऊँचे फूल ॥५१२॥

शब्दार्थ :—कुचकोर रुचि = स्तनों के घेर की नौकों की शोभा, भुजमूल = पखौरा, लोटन = त्रिबली, चौंटत = तोड़ना-चुनना ।

प्रसंग-भावार्थ :—नायक नायिका की यौवन छवि का वर्णन अपने अंतरंग मित्र से करता है कि जब वह ऊँची डाली पर लगे पुष्पों का अवचयन कर रही थी तब तनिक उचकने के कारण उसके कुचों के घेर की नौकों की छवि बाहर निकल आई तथा उसके गोरे-गोरे पखौरे दिखाई पड़ने लगे । चोली ऊँची होते हुए उसकी त्रिबली भी दिखाई पड़ने लगी जिस पर मेरी दृष्टि चढ़ी की चढ़ी रह गई और मन ने मानो स्वयं को लुटा दिया ।

अलंकार :—विभावना-श्लेष तथा उत्प्रेक्षा ।

अपनैं कर गुहि, आपु हठि, हिय पहिराई लाल ।
नौल सिरी औरै चढ़ी, बौलसिरी की माल ॥५१३॥

शब्दार्थ :—नौलसिरी = नवल श्री, बौलसिरी = मौल श्री ।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—एक सखी अन्य सखी से कहती है कि हे लाल !

(नायक) अपने हाथों से गुहकर, हठ कर के, मौलश्री के पुष्पों की माला को नायिका के कण्ठ में पहना दिया जो कि उसके रूप की शुभ्रता के कारण एक नवीन ही श्री वाली हो गई।

अलंकार :—भेदकातिशयोक्ति।

तुलनात्मक :—

रामसहाय का नायक भी परकीया की वेणी बाँधने में चतुर है।—

"तिय पिय की बेनी गुही"

--रामसतसई

घाम घरीकु निवारियै, कलित ललित अलि-पुंज।
जमुना-तीर तमाल-तरु, मिलित मालती-कुंज ॥५१४॥

शब्दार्थ :—घरीकु=एक घड़ी, निवारियै=निवारण कर लीजिए, कलित = सुन्दर।

प्रसंगभावार्थ :—स्वयं नायिका वन विहार के समय नायक से कहती है कि तनिक रुककर एक घड़ी धूप से विश्राम कर लिया जाए। यमुना के तट पर तमाल तरुओं के साथ ये मालती पुष्पों के सघन कुंज सुन्दर भ्रमरों के समूह से ध्वनित होकर अत्यन्त प्रीति कर रहे हैं।

विशेष :—यहाँ एकान्त, रमणीय स्थल तथा भ्रमर मालती संकेत से नायिका रमणेच्छा प्रकट करती है।

अलंकार :—पर्यायोक्ति तथा अनुप्रास।

चलित ललित, श्रम-स्वेदकन-कलित, अरुन मुख ऐन।
बन बिहार थाकी-तरुनि, खरे थकाए नैन ॥५१५॥

शब्दार्थ :—ऐन = अत्यन्त।

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी अन्य सखी से कहती है कि नीचे गिरते हुए श्रम कणों के कारण नायिका का लाज-श्रम तथा प्रेम से युक्त मुख आरक्त हो उठा जिसके कारण वन विहार-विथकित उस नायिका ने नायक के नेत्रों को अपनी (मुख छवि की) ओर अत्यन्त अधिक आकर्षित कर लिया।

अलंकार :—विभावना।

तुलनात्मक :—"छूट जाऊँ गम के हाथों से जो निकले दम कहीं"
--ज़ौक़

(विप्रलम्भ-शृंगार-वर्णन)

मरिबे कौ साहसु ककै बढ़ैं बिरह की पीर।
दौरति ह्वै समुही ससी, सरसिज, सुरभि समीर ॥४१६॥

शब्दार्थ :—ककै = कर कर के, समुही = सम्मुख।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—दूती नायक से कहती है कि वह (नायिका) विरह की पीड़ा के निरंतर वढ़ते रहने के कारण मरने का साहस करती हुई कभी चन्द्रमा के सम्मुख जाती है तो कभी कमल के तो कभी सुरभित समीर के।

विशेष :—चन्द्रमा, कमल तथा सुरभित गन्ध संयोग तथा वियोग दोनों में समान रूप से उद्दीपन का कार्य करते हैं।

अलंकार :—अनुप्रास तथा अद्भुत।

प्रजर्‌यौ आगि बियोग की, बह्यौ बिलोचन-नीर।
आठौं जाम हियै रहै, उड़यौं उसांस-समीर ॥५१७॥

शब्दार्थ :--प्रजर्‌यौ = प्रज्वलित, जाम = याम।

प्रसंग-भावार्थ :—दूती नायक से कहती है कि हमारी सखी (नायिका) का हृदय भीतर ही भीतर वियोग रूपी ज्वाला से जलता रहता है। बाहर से जलता रहता है। बाहर से नयनों का नीर (अश्रुपात) उसे गलाए दे रहा है और इस प्रकार आठों पहर उसका हृदय दीर्घ निश्वास रूपी समीर के साथ उड़ता रहता है।

अलंकार :—रूपक तथा अतिशयोक्ति।

दुसह बिरह दारुन दसा, रहै न और उपाइ।
जात जात ज्यौं राखियतु प्यौ कौ नांउ सुनाइ ॥५१८॥

शब्दार्थ :—प्यौ = प्रियतम।

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि हमारी सखी की,

दारुण विरह के कारण अत्यन्त दुस्सह दशा होगई है। अब कोई उपाय भी शेष नहीं रहा। उसके निकलते हुए प्राणों को केवल प्रियतम के आगमन का नाम सुनाकर ही रक्खा जाता है।

अलंकार :—पर्यायोक्ति।

करि राख्यौ निरधार यह, मैं लखि नारी ज्ञानु।
बहै बैदु औषधि बहै, बहै जु रोगु निदानु ॥५१६॥

शब्दार्थ :—नारी = स्त्री-नाड़ी।

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि मैंने उस नारी (नायिका) के नाड़ी ज्ञान से यही निश्चय किया है कि केवल प्रियतम ही उसका वैद्य, औषधि, रोग तथा निदान है।

अलंकार :—हेतु श्लेष तथा रूपक।

पलनु प्रगटि, बरुनीनि बढ़ि, नहिं कपोल ठहरात।
अँसुवा परि छतिया, छिनकु छनछनाइ, छिपि जात ॥५२०॥

शब्दार्थ :—पलनु = पलकों में, बढ़ि = बहकर।

प्रसंग-भावार्थ :—कोई सखी नायक से कहती है कि तुम्हारे वियोग में नायिका के अश्रु पलकों में प्रकट होकर, बरौनियों से बहते हुए, कपोलों पर ठहरते हुए, क्षण भर के लिए उरोजों पर रुक नीचे की ओर छनकर छिप जाते हैं।

अलंकार :—अत्युक्ति।

तुलनात्मक :—स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः
पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः ।
वलीषु तस्या स्खलिताः प्रपेदिरे
चिरेण नाभिं प्रथमोदबिन्दवः ॥
— कुमारसम्भव, ५ सर्ग कालिदास

पिय-प्राननु की पाहरू, करति जतन अति आपु।
जाकी दुसह दसा पर्‌यौ, सौतिनिहूँ संतापु ॥५२१॥

शब्दार्थ :—पाहरू = रक्षक।

प्रसंग-भावार्थ :—ज्येष्ठा नायिका को नायक अधिक चाहता है क्योंकि

वह उसके प्राणों की रक्षा का यत्न कर सकती है, अर्थात् ज्येष्ठा के मरने पर नायक भी जीवित नहीं रह सकता। यह सब सोचकर ज्येष्ठा विरहिणी के प्राणों की रक्षा करने के लिए अन्य सभी कनिष्ठा नायिकाएँ ईर्ष्या द्वेष भुलाकर उसके प्राणों की रक्षा का यत्न कर रही हैं।

विशेष :—ज्येष्ठा नायिका की विरह व्यथा का उत्कृष्ट वर्णन है।

अलंकार :—सम्बन्धातिशयोक्ति।

कहे जु बचन वियोगिनी, विरह विकल बिललाइ।
किए न को अँसुवा-सहित, सुवा तिबोल सुनाइ ॥५२२॥

शब्दार्थ :—बिललाइ = विलाप करके, सुवा = प्राणों का प्रतीक सुआ।

प्रसंग-भावार्थ :—कोई सखी नायक से कहती है कि जिन शब्दों को विलाप करती हुई वियोग में विरहिणी बार-बार पुकारती है उन्हें जब उसका सुआ दुहराता है तो उसके शब्दों को सुनकर किसकी आँखें आँसुओं से नहीं भीग उठतीं ?

विशेष :—शुक-सारिका-पालन प्रेमियों के लिए, आवश्यक तथा उपयोगी बताया गया है। रत्नावली का शुक श्रीहर्ष के नाटक तथा जायसी के पद्मावत का हीरामन इसके उदाहरण हैं।

अलंकार :—यमक तथा अत्युक्ति।

ककै सताइ न बिरह तमु, निसदिनु सरस सनेह।
रहै वहै लागी दृगनु दीपसिखा सी देह ॥५२३॥

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी दूसरी से कहती है कि रात दिन प्रेम तथा अनुराग से युक्त (तेल से भरे हुए) विरहिणी की देह रूपी दीपशिखा को नायक अपनी आँखों में बसाए हुए है अत: विरह रूपी अन्धकार उसे संतप्त नहीं कर सकता।

विशेष :—कालिदास ने देह के लिए दीपशिखा का प्रयोग अनेक स्थलों पर किया है।

अलंकार :—रूपक; श्लेष तथा उपमा।

ध्यान आनि ढिग प्रानपति, रहति मुदित दिन राति।
पलकु कँपति, पुलकित पलकु, पलकु पसीजति जाति ॥५२४॥

शब्दार्थ :—आनि = लाकर, ढिग = समीप।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—सखी अपनी सहेली से कहती है कि वह अपने प्रियतम की स्मृति को रात दिन मन में बसाए हुए प्रसन्न रहती है। कभी तो वह पलभर के लिए काँप जाती है। कभी उसको पुलक होने लगता है तो कभी प्रस्वेद के कारण उसका सम्पूर्ण शरीर भीग जाता है।

विशेष :—स्मरण, स्वेद, रोमांच आदि श्रृङ्गार रस की निष्पत्ति के कुछ आवश्यक उपकरण हैं।

अलंकार :—दीपक तथा अनुप्रास।

अरी परे न करै हियौ, खरे जरे पर जारु।
लावति घोरि गुलाब सों, मिलै मिलै घनसारु ॥५२५॥

शब्दार्थ :—परे न करै = हटाती नहीं, घनसारु = कपूर।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—नायिका स्वयं अपनीसखी से कहती है कि हे सखी ! तू इसे एक ओर क्यों नहीं हटाती हैं ? यह तो जले पर फिर ज्वाला सुलगाना चाहती है। तू इस नाइन को क्यों नहीं मना करती जो गुलाब के जल में कपूर की, हर वार घोल-घोलकर मेरे पास ले आती है ?

विशेष :—नायिका की व्याधिदशा का वर्णन किया है।

अलंकार :—विषम।

तुलनात्मक—"प्राप्ता तथा तानवमंगयष्टि
स्त्वद्विप्रयोगेण कुरंगदृष्टे:
धत्ते गृहस्तम्भ निर्वर्त्तितेन
कम्पं यथा श्वाससमीरणेन"
—विल्हण (विक्रमाङ्कदेव चरित)

इत आवति चलि जाति उत, चली छसातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरैं सी रहै, लगी उसांसनु साथ ॥५२६॥

प्रसङ्ग-भावार्थ :—एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि हमारी सखी

(नायिका) निरन्तर दीर्घ निश्वास लेती रहती है। वह इतनी अधिक दुर्बल हो गई है कि उछ्वास लेते समय इधर से उधर तक छह सात हाथ चली जाती है मानों वह हिंडोले में बैठी हो।

विशेष :—बिहारी की इन ऊहोक्तियों में स्वाभाविकता का सर्वथा अभाव है तथा एक ऊब उत्पन्न करने वाला हास्य अवश्य मिलता है।

अलंकार :—अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा तथा ऊहा।

तुलनात्मक--शुक्ल जी ने तो हिंडोले की अपेक्षा दीवार घड़ी के पैंगडुलम से उपमा दी है।

बिरह सुकाई देह, नेहु कियौ अति डहडहौ।
जैसें बरसैं मेह जरैं जवासौ जौ जमैं ॥५२७॥

शब्दार्थ :—सुकाई = जला दी है, डहडहौ = हरा भारा।

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि विरह ने उसकी देह को सुखा दिया है परन्तु प्रेम की अधिकता ने उसे और भी हराभराकर दिया है जैसे पानी बरसने पर जवासे के फूल-पत्ते तो गिर जाते हैं किन्तु जल के मूल द्वारा ग्रहण किए जाने पर वह और भी अधिक हराभरा होकर अंकुरित होता है!

विशेष :—विरह-वेदना की तीव्रता से प्रेमातिरेक भी उतना ही बढ़ता है, घटता नहीं।

अलंकार :—प्रतिवस्तूपमा।

स्यौं बिजुरी जनु मेह, आनि यहाँ बिरहा धरयौ।
आठहुँ जाम अछेह, दृग जुबरत बरसत रहत ॥५२८॥

शब्दार्थ :--अछेह = अनवरत, स्यों = सहित।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—एक सखी दूसरी सखी से नायिका को विरह की तीव्रता का संकेत देती है कि निरन्तर आठों पहर जो उसके नेत्र जलते (विरह ज्वाला से) तथा बरसते रहते हैं उससे ऐसा प्रतीत होता है मानों स्वयं विरह ने विद्युत के साथ मेघ को यहाँ लाकर स्थापित कर दिया है।

अलंकार :—विषम, प्रतीति, यथासंख्य तथा उत्प्रेक्षा से परिपुष्ट मानवीकरण।

करके मीड़े कुसुम लौं, गई बिरह कुम्हिलाइ ।
सदा समीपिनि सखिनु हूँ नीठि पिछानी जाइ ।।५२९।।

शब्दार्थ :—मीड़े = मसले हुए, लौं = समान, नीठि = कष्ट के साथ ।

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि हाथ के मसले हुए फूल के समान ही नायिका भी मुरझा गई है। विरह की इस तीव्रता के कारण निरन्तर समीप रहने पर भी वह कठिनता से ही पहचानी जा सकती है ।

अलंकार :—उपमा तथा अतिशयोक्ति ।

छतौ नेहु कागर हियैं, भई लखाइ न टांकु ।
बिरह-तचैं उघर्‌यौ सु, अब सेंहुड़ कै सौआँकु ।।५३०।।

शब्दार्थ :—छतौ = टंकित था, कागर = पत्र, सैंहुड़ = एक वृक्ष विशेष ।

प्रसंग-भावार्थ :—हृदय रूपी पत्र के ऊपर नायक का प्रेम अंकित था किंतु उसकी लिपि दिखाई नहीं पड़ती थी परन्तु वही अब नायिका के विरह ज्वलित होने पर सैंहड़ के दूध से लिखे हुए अक्षर के समान ही प्रकाश में आ रहा है ।

विशेष :—सैंहड़ एक कांटेदार पेड़ होता है जिसके दूध से यदि कागज पर कुछ लिखा जाए तो वह बिना उसे गरम किए नहीं दीख पड़ता ।

अलंकार :—पूर्णोपमा ।

नयैं बिरह बढ़ती व्यथा, करी बिकल जिय बाल ।
बिलखी देखि परौसिन्यौ, हरखि हँसी तिहि काल ।।५३१।।

शब्दार्थ :—नयैं बिरह = नवीन वियोग में, बाल = बाला-मुग्धा ।

प्रसंगभावार्थ :—एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि वह मुग्धा-बाला नवीन विरह के कारण निरन्तर विकल रहती थी परन्तु उसने जैसे ही अपनी पड़ौसिनि (ज्येष्ठा नायिका) को रहस्य प्रेमिका होने के कारण भीतर ही भीतर अपने से भी अधिक व्यथित होती हुई देखा तो तत्क्षण ही ईर्ष्यामय हर्ष के कारण उसको हँसी आ गई ।

अलंकार :—अतिशयोक्ति तथा विभावना ।

बिरह-बिपति-दिनु परत हीं, तजे सुखनु सब अंग ।
रहि अब लौं डब दुखौ, भए चलाचलै जिय-संग ।।५३२।।

शब्दार्थ :—परत हीं = आते ही, सब अंग = सर्वांग रूप से ।

प्रसंग-भावार्थ :—सुखों ने विरह रूपी विपत्ति के दिन पड़ते ही सर्वांग रूप से सम्बन्ध विच्छेद कर दिया था किन्तु दुःख तो अब तक संग देते रहे। आज ये दुःख भी मेरे प्राणों के चिरसहचर होकर साथ-साथ ही जा रहे हैं।

विशेष :—दुःख का वर्णन अत्यन्त ही मार्मिक रूप से किया गया है।

अलंकार :—चपल तथा अक्रम अतिशयोक्ति।

लाल तिहारे बिरह की, अगनि अनूप, अपार।
सरसै बरसैं नीर हूँ, झर हूँ मिटै न झार ॥५३३॥

शब्दार्थ :—झर = झड़ी, झार = प्रज्वलन।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका की सखी आकर नायक से आकर कहती है कि हे लाल ! तुम्हारे विरह की तो अत्यन्त विचित्र तथा अनन्त ही ज्वाला है जो कि नीर बरसने पर और अधिक बढ़ती है (प्रेम दृढ़ होता है) और अविरत अश्रुओं के प्रवाह की झड़ी से भी जो कि शान्त नहीं हो पाती है।

अलंकार :—विभावना, विशेषोक्ति तथा अद्भुत्।

तुलनात्मक :—"इश्क वह आतिश है ऐ 'ग़ालिब' जो लगाए न लगे बुझाए न बुझे"

याकैं उर औरै कछु, लगी बिरह की लाइ।
पजरै नीर गुलाब कै, पिय की बात बुझाइ ॥५३४॥

शब्दार्थ: —लाइ = ज्वाला, बात = बातचीत तथा पवन।

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि इस (नायिका) के हृदय में तो कोई और ही अद्भुत् प्रकार की विरहरूपी ज्वाला प्रज्वलित हो रही है जो कि गुलाबजल के छींटे देने से तो और अधिक जलती है किन्तु प्रियतम की वार्त्ता रूपी पवन के चलने पर शान्त हो जाती हैं।

विशेष :—साधारण आग पानी से बुझती तथा हवा से जलती है।

अलंकार :—भेदकातिशयोक्ति, विभवना तथा व्यतिरेक।

जब जब वै सुधि कीजियै तब तब सब सुधि जाँहि।
आँखिनु आँखि लगी रहैं, आँखैं लागति नाँहि ॥५३५॥

शब्दार्थ :—आँख लगाना = नेत्रों का नेत्रों से मिलना, आँखें लगना = नींद आना।

प्रसंग-भावार्थ :—वियोगिनि नायिका कहती है कि जब-जब उनके (नायक के) नेत्रों की स्मृति आ जाती है तब मेरी सारी चेतनाएँ खो जाती हैं। मेरे नेत्र उनके नेत्रों से ही जाकर उलझते हैं और पल भर के लिए भी आँख नहीं लग पाती।

अलंकार :—यमक, विरोधाभास तथा अनुप्रास।

तुलनात्मक :—"आँख लगने को लोग कहते हैं सो जाना।
जब से आँख लगी है तड़पते हैं हम सोने को॥"

कौन सुनै कासौं कहौं, सुरति बिसारी नाह।
बदाबदी ज्यों लेत हैं, ए बदरा बबराह॥५३६॥

शब्दार्थ :—सुरति = प्रेम, स्मृति, बदरा = बादल, बदराह = कुमार्गगामी।

प्रसंग-भावार्थ :—विरहिणी नायिका स्वगत कहती है कि कौन मेरी पीड़ा को सुने और किससे मैं जाकर कहूँ? नाथ ने तो सभी प्रेम की स्मृतियों को भुला दिया है। ये बादल भी कुपंथ की ओर चलकर अर्थात् गरज-गरजकर जैसे प्रियतम की निष्ठुरता के साथ प्रतिद्विन्द्विता कर रहे हैं।

अलङ्कार :—परिकर, श्लेष और यमक।

तुलनात्मक :—इक तौ मदन विसिख लगे मुरछि परी सुधि नाहिं।
दूजे बद बदरा अरी घिरि घिरि विष बरषाहिं॥
—शृंगार सप्तशती

मरी डरी कि टरी बिथा, कहा खरी, चलि चाहि।
रही कराहि कराहि अति, अब मुँह आहि न आहि॥५३७॥

शब्दार्थ :—टरी = टल गई, चाहि = देखने की अभिलाषा कर।

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी दूसरी सखी से आकर कहती है कि तू यहाँ खड़ी खड़ी कर क्या रही है? चल उसे (नायिका को) देख वह मर गई कि उसकी व्यथा ही टल गई है जो वह बात नहीं करती? कहाँ तो वह कुछ देर पहले अत्यन्त तीव्रता से कराह रही थी और अब उसके मुख में से आह तक भी नहीं निकल रही है।

अलंकार :—सन्देह, यमक तथा अनुप्रास।

औरै भाँति भए डब ए, चौसरु, चंदनु, चंदु ।
पति बिनु अति पारतु बिपति, मारतु मारुतु मंदु ॥५३८॥

प्रसङ्गभावार्थ :—विरहिणी नायिका कहती है कि ये चौसर (एक मनोरंजक खेल) चन्दन तथा चन्द्रमा अब कुछ और ही प्रकार के हो गए हैं। पति के विना तो यह मन्द-मन्द मारुत मारे डाल रहा है और मेरे ऊपर विपत्ति भी डाल रहा है।

विशेष :—जो वस्तुएं संयोग के समय आनन्द देती हैं वही वियोग के क्षणों में दृष्टि अथवा स्मृति पथ पर आकर कष्ट देने लगती हैं।

अलंकार :—अनुप्रास, भेदकातिशयोक्ति।

मरनु भलौ बरु बिरह तैं, यह निहचय करि जोइ ।
मरन मिटै दुखु एक कौ, बिरह दुहूँ दुख होइ ॥५३९॥

शब्दार्थ :—जोइ = समझ।

प्रसंग-भावार्थ :—इस विरह से तो मरण ही भला है ऐसा निश्चय करके कोई विरहिणी अपनी सखी से कहती है कि मरण से तो केवल एक व्यक्तिको ही कष्ट होता है जो जीवित रह जाता है किन्तु बिरह में तो जीते जी दोनों को ही न मिल सकने का दुःख बना रहता है।

विशेष :—यह भी अर्थ हो सकता है कि मरने वाले को तनिक कष्ट होता है पर इससे अधिक सुन्दर अर्थ ऊपर वाला ही है।

अलंकार :—काव्यलिङ्ग तथा लेश।

विकसित नव मल्ली कुसुम, निकसित परिमल पाइ ।
परसि पजारति विरहि-हिय, बरसि रहे की बाइ ॥५४०॥

शब्दार्थ :—मल्ली = मल्लिका, बाइ = वायु।

प्रसंग-भावार्थ—विरहिणी नायिका अपनी सखी से कहती है कि वर्षाकाल की वायु जो कि नवीन विकसित मल्लिका पुष्पों का नवीन पराग लेकर आती है वियोग के क्षण में शरीर को स्पर्श करते ही प्रज्वलित कर देती है।

अलंकार :—विभावना पाँचवी तथा अनुप्रास।

करो बिरह ऐसी, तऊ गैल न छाड़तु नीचु।
दीनैं हूँ चसमा-चखनु, चाहै लहै न मीचु ॥५४१॥

शब्दार्थ :—गैल = मार्ग, चखनु = नेत्रों में, मीचु = मृत्यु।

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी अन्य सखी से कहती है कि नायिका इतनी अधिक दुर्बल हो गई है कि यदि मृत्यु भी अपने नेत्रों पर चश्मा लगाकर उसे खोजे तो वह नहीं मिल सकती फिर भी यह निष्ठुर विरह उसे ऐसी होने पर भी नहीं छोड़ता अर्थात् अपनी नीचता के कारण और अधिक कष्ट पहुँचाता रहता है।

अलंकार :—अत्युक्ति तथा अनुप्रास।

यह बिनसतु नगु राखि कै, जगत बड़ौ जसु लेहु।
जरी बिषम जुर जाइयें, आइ सुदरसन देहु ॥५४२॥

शब्दार्थ :—बिनसतु = विनश्यत्, नगु = लायिका, जाइयें = जीवित कर दो, सुदरसन = सुन्दर दर्शन तथा सुदर्शन चूर्ण।

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी नायक से आकर कहती है कि इस नष्ट होते हुए रत्न (नायिका) की रक्षा करके तुम संसार में एक महान् यश ले लो। उस विषम ज्वर से पीड़ित नारी को सुन्दर दर्शन रूपी सुदर्शन चूर्ण देकर जीवित कर दो।

विशेष :—विषम ज्वर से पीड़ित व्यक्ति के निदान के लिए सुदर्शन का चूर्ण वैद्यकशास्त्र में निर्धारित किया गया है।

अलंकार :—श्लेष-रूपक।

तुलनात्मक :—"रस के प्रयोगनि के"

—उद्धवशतक (रत्नाकर)

नित संसौ हंसौ बचतु, मनौं सु इहिं अनुमानु।
बिरह-अगिनि-लपटनु सकतु, झपटि न मीचु सचानु ॥५४३॥

शब्दार्थ :—संसौ = संशय, हंसौ = प्राण-पछी विशेष, सचानु = बाज।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका की सखी नायक से कहती है कि हमें नित्य यही संशय बना रहता है कि इसके प्राण रूपी हंस कल तक बचेंगे अथवा नहीं

किन्तु वह नित्य ही सुरक्षित बनी रहती है अतः हमारा तो यही अनुमान है कि मरण रूपी शचान उसके पास विरह रूपी ज्वाला की लपटों से झुलस जाने के भय से नहीं आ पाता है ।

अलंकार :—श्लेष तथा रूपक परिपुष्ट अनुमान ।

तुलनात्मक :—चन्दन कीच चढ़ाय हूँ बीच परै नहिं राँच ।
मीच नगीच न आ सकै लहि विरहानल आँच ।।

—शृङ्गार सप्तशती

नैंकु न झुरसी बिरह-झर, नेह लता कुम्हिलाति ।
नित नित होति हरी हरी, खरी झालरति जाति ।।५४४।।

शब्दार्थ :—झर = लपट, झालरति = झिलमिलाती-डहडहाती ।

प्रसंग-भावार्थ :—कोई सखी नायक से आकर कहती है कि विरह रूपी ज्वाला की लपटों से उसकी स्नेहरूपी लता तनिक भी नहीं मुरझाई है अपितु वह इस ज्वाला के बढ़ते-बढ़ते स्वयं भी हरी भरी होकर और अधिकता के साथ लहराती है ।

अलंकार :—रूपक, विशेषोक्ति तथा विभावना ।

तुलनात्मक :—सूरदास का "मधुकर हम न होंहि वे बेली ।"

औंधाई सीसी सु लखि, बिरह बरति बिललात ।
बीचहिं सूखि गुलाबु गौ, छींटौ छुयौ न गात ।।५४५।।

शब्दार्थ :—औंधाई = उलट दी, बरति = जलती हुई, बिललात = विलाप करती हुई ।

प्रसंग-भावार्थ :—विरहिणी नायिका की सखी नायक से आकर कहती है कि जब मैंने उसे विरह की लपटों में विलाप करते हुए और प्रज्वलित होते हुए देखा तो उसकी रक्षा करने के लिए उसके ऊपर शीतल गुलाबजल की शीशी उलट दी परन्तु उसके बिरह की लपटों में इतनी तीव्रता थी कि वह बीच में ही सूख गया तथा उसकी एक बूंद भी नायिका के शरीर का स्पर्श नहीं कर सकी ।

अलंकार :—अत्युक्ति ।

तुलनात्मक :—विरह आँच नहिं सहि सकी सखी भई बेताब ।
चनकि गई सीसी गयौ छिरकत छतकि गुलाब ॥
—शृङ्गार सप्तशती

सोबत, जागत, सुपन-बस, रस, रिस, चैन, कुचैन ।
सुरति स्यामधन की, सु रति बिसरैं हू बिसरै न ॥५४६॥

प्रसंग-भावार्थ :--एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि सोते, जागते, स्वप्नावस्था में, प्रेम अथवा क्रोध में मन की समस्थिति अथवा अवस्थिति में उसके (नायिका के) हृदय से घनश्याम (नायक) के सुन्दर प्रेम की स्मृति विसारने पर भी विस्मृत नहीं की जा सकती ।

अलंकार :—यमक तथा विशेषोक्ति ।

कौड़ा आँसू-बूँद, कसि साँकर बरुनी सजल ।
कीने बदन निमूंद, दृग मलिंग डारे रहत ॥५४७॥

शब्दार्थ :—कौड़ा = कौड़ी, सांकर = शृङ्खला, मलिंग = फ़क़ीर ।

प्रसंग-भावार्थ :--सखी नायक से आकर कहती है कि उसके (नायिका के) नेत्र रूपी मलिंग अश्रुबिन्दु रूपी कौड़ियों को धारण किए हैं तथा सजल बरौनियों की मेखला भी पहने हुए हैं तथा निरन्तर कुछ न कुछ बड़बड़ाने के कारण मुख भी खोले हुए रहते हैं ।

विशेष :—(१) मलिंग मुसलमानों के फकीर विशेषों की एक शाखा है। बम्बई के समीप हाजी मलिंग की दरगाह पर अब भी व्यक्ति श्रद्धाभाव से जाते हैं ।

(२) नायिका की मरणदशा की ओर संकेत किया गया है ।

(३) मलिंग सम्प्रदाय कौड़िया (कपर्दी) होने के कारण शैव सम्प्रदाय से मिलता है ।

अलंकार :—साङ्गरूपक ।

स्याम सुरति करि राधिका, तकति तरनिजा-तीरु ।
अँसुवनु करति तरौं सकौ, खिवकु खरौंहौ नीरु ॥५४८॥

शब्दार्थ : -तरनिजा = यमुना, तरौंस कों = तटवर्त्ती, खिनुक = क्षण भर के लिए ।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—उद्धव ब्रज की यात्रा से लौटने पर कृष्ण के पास आकर कहते हैं कि हे श्याम ! तुम्हारी स्मृति करके राधा रानी यमुना के तीर की ओर निरन्तर देखती रहती हैं और क्षण भर के लिए अपने आँसुओं के जल से यमुना के तटवर्त्ती नीर को भी खारी बना देती हैं ।

अलंकार :—अत्युक्ति ।

गोपिनु कैं अँसुवनु भरी, सदा असोस, अपार ।
डगर डगर नै ह्वै रही, बगर बगर कै बार ॥५४९॥

शब्दार्थ :—असोस = न सूखने वाली, बार = द्वार ।

प्रसंग-भावार्थ :—उद्धव ने आकर श्रीकृष्ण से कहा कि गोपियों के निरन्तर प्रवहमान आंसुओं से भरी हुई कभी न सूखने वाली अपार सरिता गली गली में प्रत्येक घर के द्वारों पर बह रही है ।

विशेष :—श्रीकृष्ण के प्रेम का व्यापक प्रभाव दिखाया गया है ।

अलंकार :—पुनरुक्ति, अप्रस्तुत प्रशंसा तथा रूपक ।

ही औरै सी ह्वै गई टरी, औधि कैं नाम ।
दूजैं कै डारी खरी, बौरी बौरें आम ॥५५०॥

शब्दार्थ :—ही =हृदय, खरी बौरी = अत्यन्त बावली, बौरें = मुकुलित ।

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी अन्य सखी से कहती है कि एक तो वह (नायिका) प्रियतम के आने की अवधि का क्षण बीता हुआ सुनकर ही मन में कुछ और ही और हो गई दूसरे अब इन मंजरित आमों को देखकर तो वह अत्यन्त बावली हो उठी है ।

विशेष :—आम्रमंजरी मधुमास में विकसित होती है तथा वे दिन ही रतिसुख के लिए श्रेष्ठ कहे गए हैं ।

अलंकार :—भेदकातिशयोक्ति ।

भौ यहु ऐसौई समौ, जहाँ सुखदु दुखु देतु ।
चैत चाँद की चाँदनी, डारति कियैं अचेतु ॥५५१॥

शब्दार्थ :—भौ = हो गया, समौ = समय ।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका अपनी सखी से कहती है कि यह ऐसा ही समय

हो गया है जब कि प्रत्येक सुखद वस्तु व्यथा देने वाली हो गई है क्योंकि चैत के महीने में सदा सुन्दर लगने वाली चाँदनी भी मन को निश्चेष्ट किए दे रही है।

अलंकार :– विभावना, अर्थान्तिरन्यास।

जाति मरी बिछुरति घरी, जल साफरी की रीति।
छिन छिन होति खरी खरी, अरी जरी यह प्रीति ॥५५२॥

शब्दार्थ :—सफरी =शफरी-मछली।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका अपनी अन्तरङ्ग सखी से कहती है कि यह जला देने योग्य प्रेम तो पल-पल पर बढ़ता ही जा रहा है। विना जल के व्याकुल मीन की भाँति मैं भी अब एक घड़ी भर का वियोग नहीं सह सकती।

अलंकार :—अनुप्रास-लोकोक्ति तथा उपमा।

मार-सु-मार करी डरी मरी, मरीहिं न मारि।
सींचि गुलाब घरी, अरी, बरीहिं न बारि ॥५५३॥

शब्दार्थ :—मार = कामदेव, मार = पीड़ा।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका अपनी सखी से कहती है कि मुझे तो कामदेव ने ही पर्याप्त मात्रा में मारकर पीड़ा पहुँचाई है अब तू मुझ मरी को और मत मार। अरी तू पल-पल पर गुलाब जल के छींटे दे-देकर मुझ जली हुई को और अधिक मत जला।

अलंकार :—यमक, अनुप्रास, वीप्सा तथा विभावना।

रह्यौ ऐंचि, अंतु न लहै अवधि दुसासनु बीरु।
आली बाढ़तु बिरहु ज्यौं, पंचाली कौं चीरु ॥५५४॥

शब्दार्थ :—अवधि = अन्तिम सीमा, पंचाली = द्रोपदी।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—विरहिणी नायिका अपनी सखी से कहती है कि अवधि रूपी वीर दु:शासन इस बढ़ते हुए विरह रूपी पांचली के चीर को निरन्तर खींचने का प्रयास कर रहा है फिर भी इसका छोर नहीं आ पाता।

अलंकार :—उपमित रूपक।

तुलनात्मक :—सब सिंगार सुन्दर सजैं बैठी सेज बिछाइ ।
भयौ द्रोपदी कौ बसनु बासरु नाहिन जाइ ।।
—'मतिराम सतसई'

बिरह-बिथा-जल-परस-बिन, बसियतु मो-मन-ताल ।
कछु जानत जलथंभ बिधि, दुर्जोधन लौं लाल ।।५५५।।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—नायिका नायक के लिए पत्र भेजती है कि हे लाल ! क्या तुम भी दुर्योधन के समान कोई जल स्तम्भन की क्रीड़ा जानते हो क्योंकि तुम मेरे मन रूपी सरोवर में निवास करने पर भी मेरे वियोगजन्य दु:ख रूपी जल को छू नहीं पाते हो ? अर्थात् मेरे कष्ट की तुम्हें तनिक भी अनुभूति नहीं होती ।

विशेष :—दुर्योधन को यह बरदान मिला था कि वह सरोवर में प्रवेश करेगा तो जल उसका स्पर्श नहीं करेगा । 'वेणी संहार' नाटक में इसका वर्णन अत्यन्त सुन्दर ढंग से किया गया है ।

अलंकार :—रूपक, उपमा तथा बिनोक्ति ।

पिय बिछुरन कौ दुसहु, दुखु हरषु जात प्यौसार ।
दुरजोधन लौं देखियति, तजत प्रान इहि बार ।।५५६।।

शब्दार्थ :—प्यौसार = पितृशाला या पीहर ।

प्रसंगभावार्थ :—एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि एक ओर तो इसे प्रियतम से दूर होने की अत्यन्त दु:सह व्यथा हो रही है और दूसरी ओर पिता के घर जाने का हर्ष भी हो रहा है । मुझे तो ऐसा लगता है कि कहीं यह दुर्योधन की भांति अपने प्राण त्याग न कर दे ।

विशेषः—दुर्योधन को यह वरदान मिला था कि जब उसे हर्ष और विषाद की समानुभूति होगी तभी वह अपने प्राण त्याग करेगा ।

अलंकार :—पूर्णोपमा ।

तुलनात्मक :—आए पिय परदेश तैं गए सौति के धाम ।
हरष विषाद भयौ भई दुरजोधन कैं बाम ।।

सोवत सपनैं स्यामघनु, मिलिहिलि हरत वियोगु ।
तब हीं हरि कित हूँ गई, नींदौ नींदनु जोगु ।।५५७।।

शब्दार्थ :—नींदनु जोग = निद्रा करने के योग्य ।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका अपनी सखी से कहती है कि सोते समय जैसे ही उसने स्वप्न में घनश्याम (नायक) से वियोग को दूर करने के हेतुआलिंगन के लिए हाथ बढ़ाए वैसे ही नींद कहीं टल गई, अत: यह नींद भी निंदा करने के योग्य है।

विशेष :—स्वप्नवासवदत्ता, मेघदूत आदि का प्रभाव उपर्युक्त दोहे में स्पष्ट है।

अलंकार :—विषादन।

(प्रणय-पत्रिका-वर्णन)

कागद पर पर लिखत न बनत, कहत सँदेसु लजात।
कहिहैं सबु तेरौ हियौ, मेरे हिय की बात ॥५५८॥

शब्दार्थ :—कहिहै = कह देगा।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका नायक को सम्बोधित करती है कि मुझसे (कम्प-अश्रुपात तथा विरह की की जलन के कारण) कागज़ पर कुछ लिखा नहीं जा रहा है तथा लजा के कारण कुछ मुख से भी सन्देश नहीं दे सकती हूं। तुम स्वयं ही मेरे मन की बात अपने मन से पूछ लेना। वही सब कुछ बता देगा।

अलङ्कार :—विरोधाभास।

रँगराती रातैं हियैं, प्रियतम लिखी बनाइ।
पाती काती बिरह की, छाती रही लगाइ ॥५५९॥

शब्दार्थ :—रँगराती = लाल स्याही से लिखी, रातैं हियैं = अनुरक्त मन में, काती = कटार।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका की सखी अपनी दूसरी सखी से कहती है कि लाल रँग के अक्षरों में, प्रेम पूर्ण मन से प्रियतम ने जो पत्रिका भेजी है उसे विरह को काटने वाली (बिताने वाली) कटार समझकर वह (नायिका) अपने हृदय से लगा रही है (प्रेम प्रदर्शित कर रही है)।

अलंकार :—रूपक तथा अनुप्रास।

बिरह-बिकल बिनुही, लिखी पाती दई पठाइ ।
आँक बिहूनीयौ सुचित, सूनैं बाँचत जाइ ॥५६०॥

शब्दार्थ :—दई पठाइ = भेज दी है, बिहूनीयौ = न होने पर भी, सुचित = स्वस्थमन ।

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी अन्य सखी से कहती है कि नायिका, नायक के वियोग में इतनी व्यथित थी कि उससे पत्र में कुछ लिखा ही नहीं गया और वैसे ही अक्षरहीन पत्र को उसके पास भेज दिया; किन्तु नायक ने भी अत्यन्त स्वस्थ मन से एकान्त में उस अंकविहीन पत्र को पढ़ लिया (नायिका के मन की पीड़ा का अनुमान कर लिया) ।

अलङ्कार :—अनुप्रास, भ्रान्तिमान् तथा विभावना ।

तर झुरसी, ऊपर गरी, कज्जल-जल छिरकाइ ।
पिय पाती बिन हीं लिखी, बाँची बिरह-बलाइ ॥५६१॥

शब्दार्थ :—तर = तला, झुरसी = झुलसी, छिटकाइ = छिड़काई हुई, बलाइ = रोग ।

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि प्रियतम ने नीचे से झुलसी हुई, ऊपर से गली हुई तथा काजल के जल से भीगी हुई बिना अक्षरों की पाती को पढ़कर नायिका की विरह व्यथा को जान लिया ।

विशेष :—विरहाश्रु तथा वियोगजनित अग्नि अथवा तप्त निश्वासों के चिह्न पत्र पर अङ्कित हैं अतः नायक ने नायिका की पीड़ा का अनुमान कर लिया है।

अलंकार :- अनुमान, अनुप्रास तथा विभावना ।

कर लै, चूमि, चढ़ाइ सिर, उर लगाइ, भुज भेंटि ।
लहि पाती पिय की लखति बाँचति, धरति समेटि ॥५६२॥

शब्दार्थ- चढ़ाइ = लगाकर, सिर चढ़ाइ = अधिक प्रेम देकर, उर लगाइ= छाती से लगा लेना, लहि = लेकर, लखति = देखती ।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—नायिका के पास नायक का पत्र आया है जिसे देखकर एक सखी अपनी अन्य सखी को बताती है कि कभी वह उसे हाथों में लेकर

चूमती है, कभी सिर से लगाती है, कभी छाती से चिपटाती है तो कभी भुजाओं में लेकर उससे मिलती है। इस प्रकार वह प्रियतम के पत्र को लेकर कभी उसे देखती है, कभी पढ़ती है, कभी उसकी तह करके रख देती है।

विशेष :—पाती प्रियतम के पास से आई है अतः उसे प्रियस्पर्श का सौभाग्य अवश्य मिला होगा। नायिका यही सोचकर उस पत्र में नायक की कल्पना करके प्रेमालिङ्गन का आनन्द प्राप्त कर लेती है।

अलंकार :—कारकदीपक तथा लोकोक्ति।

(प्रेम-वर्णन)

हास-परिहास-मान—

सकत न तुव ताते बचन मो रस कौ रसु खोइ।
खिन खिन औटै खीर लौं, खरौ सवादिलु होइ ।।५६३।।

शब्दार्थ :—ताते = तप्त, रस = प्रेम, रस = जल, सवादिलु = स्वादिष्ट।

प्रसङ्ग-भावार्थ—नायक नायिका से कहता है कि तेरे ये क्रोध भरे तप्त वचन मेरे प्रेम की सरसता को नष्ट नहीं कर सकते हैं। जिस प्रकार दूध क्षण प्रतिक्षण गरम किए जाने पर और अधिक स्वादिष्ट हो जाता है, वैसे ही यह प्रेम भी और बढ़ता जाता है।

विशेष :—ताप से सजलता नष्ट हो जाती है, पर यहाँ पर ऐसा नहीं है।

अलंकार :—विशेषोक्ति, पूर्णोपमा, वीप्सा तथा अनुप्रास।

मनु न मनावन कौं करै, देतु रुठाइ रुठाइ।
कौतुक-लाग्यौ प्यौ प्रिया-खिझहूँ रिझावति जाइ ।।५६४।।

शब्दार्थ :—कौतुक लाग्यौ = परिहासरत।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि नायक नायिका की मनुहार न करने की अपेक्षा उसे बार-बार रुठाता है। कौतुकपूर्ण मन वाले नायक को प्रियतमा का यह खीझना भी आनन्द तथा आकर्षण देता है।

विशेष :—मिथ्या कोप से कोप नहीं अपितु मोह ही उत्पन्न होता है।

अलंकार :—वीप्सा तथा विभावना।

तुलनात्मक :—"उनको आता है मेरे प्यार पै गुस्सा।
मुझे उनके गुस्से पै प्यार आता है॥"

खरैं अदब, इठलाहटी, उर उपजावति त्रासु।
दुसह संक बिस कौ करै, जैसैं सौंठि मिठासु॥५६५॥

शब्दार्थ :—खरैं = अत्यन्त, इठलाहटी = मान।

प्रसंग-भावार्थ :—नायक नायिका की सखी से कह रहा है कि आज उसका अत्यन्त आदरपूर्ण व्यवहार तथा मनुहार मेरे मन में भय उत्पन्न कर रहे हैं जैसे कि सौंठ की गाँठ का मीठापन विष की असहनीय आशंका को उत्पन्न करता है।

विशेष :—मीठी गाँठ वाली सौंठ का प्रयोग करने से व्यक्ति वमन करने लग जाता है।

अलंकार :--संदेह तथा उदाहरण।

मैं मिसहा सोयौ समुझि, मुंह चूम्यौ ढिग जाइ।
हँस्यौ, खिसानी, गल गह्यौ, रही गरैं लपटाइ॥५६६॥

शब्दार्थ :—मिसहा = बहाने बाज़, खिसानी = खीझ गई।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका अपनी अन्तरंग सखी से कहती है कि जब उसने रमण की प्रार्थना की और मेरे मना करने पर वह बहाना करके शैया पर जा लेटा तब मैंने उसे सोया हुआ समझ कर, उसके निकट जाकर उसका मुख चूम लिया। इतने पर वह हंस दिया। मैं वास्तविकता समझकर खीझने लगी तो उसने मुझे गले से लगा लिया। मैं भी फिर उसके गले से रात भर लिपटी रही।

अलंकार :—पर्यायोक्ति तथा भ्रान्तिमान्।

कर- मुंदरी की आरसी, प्रतिबिंबित प्यौ पाइ।
पीठि दियैं निधरक लखै, इकटक डीठि लगाइ॥५६७॥

शब्दार्थ :-- मुंदरी = अंगूठी, आरसी = दर्पण, प्यौ = प्रिय, निधरक = बेधड़क।

प्रसंग-भावार्थ :—कोई सखी किसी दूसरी सखी से कह रही है कि नायिका अपने हाथ की अंगूठी में बनी चमकदार मणि की आरसी में प्रियतम को प्रतिबिम्बत होता हुआ पाकर, पीठ फेरकर बैठती हुए भी, बेधड़क एक दृष्टि से प्रियतम की ओर निहार रही है।

विशेष :—क्रियाविदग्धा नायिका का वर्णन किया गया है।

तुलनात्मक :—

"राम को रूप निहारति जानकी कंकन में नग की परछाँहीं।
या तैं सबै सुधि भूल गई कसेकि रही पल टारति नाहीं।"

—तुलसीदास 'कवितावली'

गनती गनिबे तैं रहे, छत हूँ अछत समान।
अलि, अब ए तिथि औम लौं, परे रहौ तन प्रान ॥५६८॥

अलंकार :—विभावना।

शब्दार्थ :—गनती =गणना, छत = रहने पर भी, अछत = न होते हुए, तिथि औम = ऐसी तिथि जो पत्रा में तो लिखी जाती हैं पर उसका अस्तित्व नहीं होता है।

प्रसंग-भावार्थ :—कोई सखी किसी अन्य सखी से कहती है कि उस (नायिका) के प्राणों को तो अब गिनना भी न गिनने जैसा है। वह जीवित प्राण होकर भी निर्जीव के समान है। हे सखि, उसके शरीर में इसी भाँति प्राण पड़े हुए रह गए हैं जिस प्रकार पत्रा में हानि होने वाली तिथि अपना अनस्तित्व बनाए रखती है।

विशेष :—नायिका की मरणदशा की ओर संकेत किया गया है।

अलंकार :—पूर्णोपमा।

कालबूत दूती बिना, जुरै न और उपाइ।
फिरि ताकैं टारैं बनै, पाकैं प्रेम-लदाइ ॥५६९॥

शब्दार्थ :—कालबूत = किसी वस्तु का भराव-खोल; टारै = टालने से, पाकैं = पकने पर।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका की एक सखी किसी दूती के विषय में कहती है कि बिना दूती रूपी कालबुद के प्रेम की लदाऊ (टिकाऊ) छत नहीं बन सकती। उसके अतिरिक्त कोई अन्य उपाय है ही नहीं परन्तु फिर उसके पकजाने पर (नायक से संयोग होने पर) तो उसे टाल देने से ही काम चल पाता है।

बिशेष :—दीवार की छत बनाते समय गाढ़ भरदी जाती है परन्तु ईंटें

ज्यों ही चूने में जम जाती हैं तो उस गाढ़ (डाट) को निकाल दिया जाता है। दो प्रेमियों के मिलन में दूती भी यही कार्य करती हैं।

अलंकार :—साङ्गरूपक।

मोहि भरोसौ, रीझिहै, उझकि झाँकि इक बार।

रूप रिझावन हारु वह, ए नैना रिझवार ॥५७०॥

शब्दार्थ :—उझकि = उठकर देखना, रिझावर = आकर्षित होने वाले।

प्रसंगभावार्थ :—कोई सखी नायिका से कहती है कि मुझे भरोसा है तू एक बार तनिक उठकर नायक की ओर झाँक तो सही उसके नेत्र आकर्षण और रूप से भरे हुए हैं, इधर तेरे नेत्र भी रूप की ओर आकर्षित हो जाने वाले हैं।

अलंकार :—सम।

तुलनात्मक :—क्यों न एक मन होत तन दोय प्रान इक बार।
ये नीकी रिझवारि हैं ये नैना रिझवार॥

—शृङ्गार सप्तशती

हितु करि तुम पठयौ, लगैं वा बिजना की बाइ।

टली तपति तन की, तऊ चली पसीना-न्हाइ ॥५७१॥

शब्दार्थ :—तपति = ताप।

प्रसंग-भावार्थ :—दूती नायक से कहती है कि तुमने प्रेमपूर्वक जिस पंखे को हवा करने के लिए भेजा था उसकी हवा से उसके शरीर का ताप (दुख) तो टल गया परन्तु फिर भी वह पसीने से नहा गई।

विशेष :—पसीने से नहाना सात्विक भाव है।

अलंकार —विभावना।

परसत, पौंछत लखि रहतु, लगि कपोल कैं ध्यान।

कर लै प्यौ पाटल, बिमल प्यारी-पठए पान ॥५७२॥

शब्दार्थ :—प्यौ = प्रियतम, पाटल = गुलाब।

प्रसंग-भावार्थ :—कोई सखी अपनी सखी से कहती है कि नायिका द्वारा भेजे गए सुन्दर गुलाब के फूल को कभी वह छूता है, कभी पौंछता है, कभी उसे प्रियतमा के कपोलों के सदृश जानकर उनका स्मरण करता रहता है। इस

प्रकार उस नायक ने पाटल को हाथों में लेकर, बदले में उसके लिए पान भेजा है।

विशेष :—पाटल और पान दोनों ही लाल है जो कि प्रेम के प्रतीक हैं।

अलंकार :—पर्यायोक्ति।

नैंकौ उहि न जुदी करी, हरषि जु दी तुम माल।
उर तैं बास छुट्यौं नहीं, बास छटैं हूँ, लाल ॥५७३॥

शब्दार्थ :—जुदी = पृथक्, वास = निवास, बास = गंध।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका से उसकी सखी कहती है कि तुमने जो प्रसन्न होकर उसके लिए माला दी थी उसे उसने क्षरण भर के लिए भी नहीं उतारी। हे लाल ! यद्यपि उस माला के फूलों की गंघ समाप्त हो गई है किन्तु वह माला अब भी उसके कण्ठ में पड़ी हुई है।

अलंकार :—यमक तथा विरोधाभास।

नाँउ सुनत हीं ह्वै गयौ तनु औरै मनु और।
दबै नहीं चित चढ़ि रह्यौ, अबै चढ़ाएँ त्यौर ॥५७४॥

शब्दार्थ :—त्यौर = तेबर।

प्रसंग-भावार्थ :—कोई सखी नायिका से कहती है कि उसका (नायक का) नाम सुनकर ही तेरे तन और मन दोनों ही कुछ और प्रकार के हो गए हैं, अब तू भले ही क्रोध से तेवर चढ़ा ले पर यह बात छिप नहीं सकती कि वह तेरे मन में चढ़ गया है।

अलंकार :—स्वभावोक्ति-अनुप्रास-विशेषोक्ति तथा भेदकातिशयोक्ति।

ठाढ़ी मंदिर पै लखै, मोहन दुति सुकुमारि।
तनु थाकैं हूँ ना थकै, चख चितु चतुरि निहारि ॥५७५॥

शब्दार्थ :—चख = चक्षु, चितु = मन।

प्रसंग-भावार्थ :—कोई सखी किसी अन्य सकी से कहती है कि नायिका मन्दिर पर खड़ी हुई नायक को देख रही है। वह मोहिनी द्युति वाली शरीर से थक जाने पर भी नेत्रों और मन से नहीं थकी है, अर्थात नेत्रों में प्रिय का रूप और मन में उसके प्रति अनन्त अनुराग है। हे चतुरे ! तू उसे देख तो सही।

अलंकार :—अनुप्रास तथा विशेषोक्ति ।

रही अचलु सी ह्वै मनौं लिखी चित्र की आहि ।
तजैं लाज, डरु लोक कौ, कहौ बिलोकति काहि ।।५७६।।

शब्दार्थ :- अचलु = जड, आहि = होकर ।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—कोई सखी नायिका से प्रश्न कर रही है कि तू इस प्रकार जड़ बन कर खड़ी है मानों तुझे किसी ने चित्र में अंकित कर दिया हो। समाज की लाज तथा लोक निन्दा का भय त्याग कर तू यों एकटक किसे देख रही है ? तनिक मुझे बता तो सही ।

अलंकार :—उपमा तथा उत्प्रेक्षा ।

पल न चलैं, जकि सी रही, थक सी रही उसास ।
अबहीं तनु रितयौ, कहौ, मनु पठयौ किहिं पास ।।५७७।।

शब्दार्थ :—जकि सी = अचम्भित सी, रितयौ = रिक्त कर दिया ।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—कोई सखी नायिका से कहती है कि तू यों निर्निमेष दृष्टि से आश्चर्य में पड़कर, थकित निश्वास वाली होकर, किसे देख रही है ? तूने तो अभी से इस शरीर को--मन को किसी के पास भेजकर-रिक्त कर दिया। बता तो वह कौन है ?

अलंकार :—अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा ।

कब की ध्यान-लगी लखौं, यह घरु लगिहै काहि ।
डरियतु भृंगी-कीट लौं, मति वहई ह्वै जाइ ।।५७८।।

प्रसङ्ग-भावार्थ:—कोई सखी किसी सखी से कहती है कि मैं उसे (नायिका को) कब से यों ही किसी के ध्यान में लगी हुई देख रही हूं। यदि उसकी यही दशा रही तो उसके घर का काम काज कौन करेगा ? मुझे तो डर है कि कहीं वह भृंगीं कीट न्याय से नायकमय ही न हो जाए ।

विशेष :—भृंगी निरन्तर मनमनाने वाला एक बड़ा-सा कीडा होता है जिसकी ध्वनि सुनकर छोटे-छोटे कीड़े भी भृंगीमय हो जाते हैं ।

अलंकार :—उपमा, लोकोक्ति तथा आशंका ।

नाक चढ़ै सीवीं करै, जितै छबीली छैल।

फिरि फिरि भूलि वहै गहै, प्यौ कँकरीली गैल ॥५७९॥

शब्दार्थ :—सीवीं करै = सीत्कार करना।

प्रसंग-भावार्थ :—कोई सखी किसी सखी से कहती है कि वह (नायिका) नाक सिकोड़-सिकोड़कर,सी-सी करते हुए अपनेप्रियतम के मनको इन छविमुद्राओं से जीत रही है अत: नायक उसके इस कार्य को देखने में इतना लीन हो गया है कि बार-बार भुलाने पर भी उसी कंटकमयी राह पर चलने लग जाता है।

विशेष :—संभवत: किसी कराटकित मार्ग से नायक तथा नायिका दोनों ही वन में बिहार करने जा रहे थे मार्ग में कांटे थे। नायक का पैर कांटे पर पड़ा। दर्द के कारण नायिका सीसी करने लगी। नायक को यह अच्छा लगा। फिर क्या था उसकी रह-रहकर सीसी सुनने के लिए ही वह कांटों के ऊपर ही चलने लगा।

अलंकार :—असंगति तथा वीप्सा।

ढोरी लाई सुनन की, कहि गोरी मुसकात।

थोरी थोरी सकुच सौं भोरी भोरी बात ॥५८०॥

शब्दार्थ :—ढोरी = आदत।

प्रसंग-भावार्थ :—कोई सखी नायक से आकर कहती है कि वह गौराङ्गी तनिक सी बात करके मुस्करा देती है तथा संकोच करके थोड़े-थोड़े शब्दों से ही अपने मन की अनुराग भरी भोली-भोली बातों को कहती रहती है जिन्हें सुनने की मेरी आदत पड़ गई है—यदि तुम सुनोगे तो तुम्हें और भी अधिक अच्छी लगेंगी।

अलंकार :—छेकानुप्रास तथा वीप्सा।

मैं यह तोही मैं लखी भगति, अपूरब, बाल।

लहि प्रसाद-माला जु भौ तनु कदंब की माल ॥५८१॥

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका की अन्तरंग सखी ने नायक की माला लाकर उसे पहनादी है जिससे वह रोमाँचित हो उठी हे। कोई दूसरी सखी इस माला को ठाकुरजी की माला समझ कर कहती है कि हे सखि! मैं ने तो यह अपूर्व

भक्ति (वृद्धा की अपेक्षा युवा स्त्री में) तुझ में ही देखी है जो तेरे कंठ की इस माला से तेरे शरीर में कदम्ब माल के समान होकर काँप उठा है ।

अलंकार :--लुप्तोपमा तथा भ्रन्तिमान् ।

वै ठाढ़े, उमदाहु उत जलन बुझै बड़वागि ।
जाही सौं लाग्यौं हियौ, ताही कैं हिय लागि ।।५८२।।

शब्दार्थ :—वै = नायक, उमदाहुउत = उधर जाकर उन्माद करो, बड़-वागि = बड़वाग्नि ।

प्रसंग-भावार्थ :—कोई सखी नायिका से कहती है तू उधर जा जहाँ पर वे (नायक) खड़े हुए हैं, उधर ही अपनी उन्मत्तता दिखा । यहाँ तो जल है जिससे यह बड़वाग्नि महीं बुझ सकती । जिससे तेरा मन जा लगा है तू उसी के हृदय से स्वयं को जा कर चिपटाले, वहीं यह शान्त हो सकती है ।

विशेष :—दावाग्नि-जठराग्नि तथा बड़वाग्नि तीन प्रकार की अग्नि होती है । दावाग्नि जैसे जंगल में लगती है, वैसे ही बड़बाग्नि, पानी में जाकर लगती है जबकि साधारण आग को पानी से बुझाया भी जा सकता है ।

अलंकार :—लोकोक्ति तथा यमक ।

तू रहि, हौं ही, सखि लखौं, चढ़ि न अटा, बलि, बाल ।
सबहिनु बिनु हीं ससि उदै दीजतु अरघु अकाल ।।५८३।।

शब्दार्थ :—उदै=उदय, अरधु = अर्घ्य ।

प्रसंग-भावार्थ :—कोई सखी नायिका से कहती है कि तू उधर ही रह, मैं ही छत पर जाकर चन्द्रमा को देखे लेती हूँ । हे बाला, मैं तेरी बलि जाऊं, तू अटारी पर मत चढ़ नहीं तो कहीं ऐसा न हो जाए कि बिना ही चन्द्रोदय के तेरे मुखचन्द्र को देखकर सभी उपवास करने वाली स्त्रियाँ असमय में ही अर्घ्य देने न लग जाएं ।

अलंकार :—पर्यायोक्ति तथा भ्रमाशंका ।

दियौ अरघु, नीचैं चलौ संकटु भानैं जाइ ।
सुचिती ह्वै औरौ सबै ससिहिं बिलोकैं आइ ।।५८४।।

शब्दार्थ :—संकटु भानैं जाइ = जाकर फलाहार करें, सुचिती = स्वस्थ-

मना, पवित्र-स्त्री।

प्रसंग-भावार्थ:— कोई सखी नायिका से कहती है कि हमने तो अर्घ्य दे दिया अब नीचे चलकर फलाहार करें तथा और स्त्रियों को भी जो कि पवित्र हैं; (उपवास के कारण) उन्हें भी सूचित करदें कि वे जाकर स्वयं अब आकाश में शकट चतुर्थी के चन्द्रमा को देख लें।

अलंकार : –श्लेष तथा पर्यायोक्ति।

बाल-बेलि सूखी सुखद इहिं रूखी रुख-घाम
फेरि डहडही कीजिए सुरस सींचि घनस्याम ॥५८५॥

शब्दार्थ :—बेलि=लता, रूखीरुख = निष्प्रेम मुद्रा, डहडही = हरीभरी, सुरस = सुन्दर जल तथा प्रेम, घनस्याम = कृष्ण तथा काले मेघ।

प्रसंग भावार्थ :—कोई सखी आकर नायक से कहती है कि हे घनश्याम रूपी घनश्याम आप चलकर अपने सजल स्नेह से उस बालिका रूपी लता को फिर से हरी भरी कर दीजिए क्योंकि वह तुम्हारी निष्प्रेम मुद्रा रूपी घाम के कारण मुरझा गई है, अतः उसे चलकर सुख दीजिए।

अलंकार :—श्लेष तथा साङ्गरूपक।

तुलनात्मक :—सूखति है वह सुन्दरी कनक बेलि अभिराम।
वाकी तपन मिटै जु रस बरसौ घन घनस्याम॥
—मतिराम सतसई

नख सिख रूप भरे खरे माँगत मुसकानि।
तजत न लोचन लालची ए ललचौंहीं बानि ॥५८६॥

शब्दार्थ :—ललचौंही = लालची, बानि = टेब।

प्रसं भावार्थ :—किसी सखी से नायिका कहती है कि यद्यपि मेरे इन नेत्रों ने इसको (नायक को) नख से शिख तक देख कर सौंदर्योपभोग किया है फिर भी ये इतने अधिक लालची हैं कि अपने लालच की टेब को न छोड़ने के कारण उसकी प्रसन्न मुस्कराहट की ही निरन्तर कामना करते रहते हैं।

अलंकार :—विशेषोक्ति तथा रूपक।

जस अपजसु देखत नहीं, देखत साँवल-गात ।
कहा करौं, लालच-भरे, चपल नैन चलि जात ।।५८७।।

शब्दार्थ :—अपजसु = अपयश ।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—नायिका अपनी अन्तरंग सखी से कहती है कि मेरे ये नेत्र लोकमर्यादा और यश अपयश की चिन्ता तो करते ही नहीं अपितु उसके श्यामल चपल चंचल नेत्र लालची बनकर उसकी (नायक के श्याम शरीर की) ओर बार-बार चले जाते हैं ।

अलंकार :—वितर्क संचारी भाव से पुष्ट अत्युक्ति अलंकार ।

जात सयान अयान ह्वै, वे ठग काहि ठगैं न ।
को ललचाइ न लाल के, लखि ललचौंहैं नैन ।।५८८।।

शब्दार्थ :—सयान = ज्ञानी, अयान = मूर्ख ।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका, नायक के नेत्रों की प्रशंसा अपनी सखी से करती है कि वे ऐसे ठग हैं जिनसे कोई भी बच नहीं पाता, अर्थात् सभी को आकर्षित करने वाले हैं । बड़े-बड़े ज्ञानी उन्हें देखकर अपना ज्ञान भूलकर अज्ञानी हो जाते हैं । अरी उस लाल के लालच भरे नेत्रों की ओर देखकर (जिनमें रूप की प्यास है) किसके मन में लालच नहीं उत्पन्न हो सकता ?

अलंकार :—अनुप्रास तथा वक्रोक्ति ।

तुलनात्मक :—लगन लगावत निपटि हठि सबैं बचावत दीठि ।
लखि ललचावत मो हियो बरबस नैन बसीठि ।।

—विक्रम सतसई

छ्वै छिगुनी पहुँचौ गिलत अति दीनता दिखाइ ।
बलि, बाँवन कौ ब्यौंतु सुनि को, बलि, तुम्हें पत्याइ ।।५८९।।

शब्दार्थ :—छिगुनी = कनिष्ठिका अंगुलि, गिलत = पकड़ते हो, बाँवन = वामनावतार, ब्यौंतु = व्यवहार, बलि = बलिहार जाऊं, पत्याइ = प्रत्यय करे ।

प्रसंग भावार्थ :—नायिका (राधा) नायक (कृष्ण) से कहती है कि पहले तो तुम किसी की कनिष्ठिका उंगली पकड़ते हो फिर धीरे-धीरे उसका हाथ भी ग्रहण कर लेते हो अर्थात् तुम्हारी सौन्दर्य तृष्णा निरन्तर बढ़ती जाती

है। हे लाल ! मैं तुम्हारे ऊपर बलिहारी हूँ पर तुम्हारी बलि के लिए वामनावतार ग्रहण करने की घटना को सुनकर कौन तुम पर विश्वास करेगा ?

विशेष :—बलि का दानी होना एक प्रसिद्ध 'पौराणिक घटना है जिसकी परीक्षा के लिए भगवान् विष्णु ने वामन का अवतार लिया था और तीन पगों में ही त्रैलोक्य को मांगकर उसे पाताल में जा रखा था।

अलंकार :—अनुप्रास, लोकोक्ति तथा काव्यलिंग।

लटकि लटकि लटकतु चलतु, डटतु मुकट की छाँह।
चटक भर्‌यौ नटु मिलि गयौ, अटक भटक-बट माँह ॥५६०॥

शब्दार्थ :—लटकतु = झूमता हुआ, डटतु = शोभित, चटक = शोभा, अटक भटक = भूलभुलैयाँ।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका नायक से मिलकर बिलम्ब करती हुई लौटती है तब अपनी सखी से उसके प्रश्न का उत्तर देती है कि मैं तो भूलभुलैयाँ वाले वट वृक्ष में ही कहीं खो गई थी; वहीं पर मुझे झूम-झूमकर चलता हुआ मुकुट मणियों की छाया से शोभित वह सुन्दर नट मिल गया जो यहाँ तक पहुँचा गया है।

अलंकार :—स्वभावोक्ति तथा अनुप्रास।

नैना नैंकु न मानहीं, कितौ कह्यौ समुझाइ।
तनु मनु हारैं हूँ हँसैं, तिन सौं कहा बसाइ ॥५६१॥

शब्दार्थ :- कितौ = किलना, बसाइ = निर्वाह करना।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका अपनी सखी से कहती है कि ये नेत्र तो तनिक भी नहीं मानते हैं। मैंने इन्हें कई बार बरजा है कि तुम उस (नायक) की ओर मत देखो किन्तु ये ऐसे ढीठ हैं कि मेरे तन मन निछावर कर देने पर भी उसे देखकर (प्रेम से) हंस देते हैं। अब तुम्हीं बताओ कि मेरा इनसे किस प्रकार निर्वाह हो ?

अलंकार :—विशेशोक्ति।

तो हीं, निरमोही लग्यौ, मो ही इहैं सुभाउ।
अनआएँ आवै नहीं, आएँ आवतु आउ ॥५६२॥

शब्दार्थ :—लग्यौ = अनुकरण करना।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका नायक के लिए सन्देश भेजते हुए लिख रही है कि मेरे मन के स्वभाव ने तुम्हारे निष्ठुर हृदय का अनुकरण करना आरम्भ कर दिया है—अर्थात् वह मुझसे दूर हो गया है। जैसे तुम नहीं आते वैसे वह भी तुम्हीं में लगा रहने के कारण नहीं आ पाता। यदि तुम आते हो तो वह भी आ जाता है; अर्थात् तुम चले आओ।

अलंकार :—यमक तथा पर्यायोक्ति।

नेहु न, नैंननु कौं कछू, उपजी बड़ी बलाइ।
नीर-भरे नित प्रति रहें तऊ न प्यास बुझाइ ।।५९३।।

शब्दार्थ :—बलाइ = कष्ट।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका अपनी सखी से कहती है कि मेरे इन नेत्रों को अब कोई ऐसी पीड़ा होने लगी है कि ये स्नेह तो भुला बैठे हैं तथा साथ ही निरन्तर अश्रुपात के कारण रात दिन सजल रहने पर भी अपनी प्यास नहीं बुझा पाते हैं।

विशेष :—कृष्ण का रूप गत्यात्मक तथा पल-प्रतिपल परिवर्त्तमान् है अतः उसका एकदेशीय दर्शन करना सम्भव नहीं है।

अलंकार :—विशेषोक्ति तथा अद्भुत।

तुलनात्मक :—"जल पूरित घनस्याम रुचि उनई अँखियन आइ"

—मतिराम सतसई

अथवा

देखैहूँ बिन देखिहूँ लगी रहै अति आस
कैसैं हूँ न बुझति है ज्यौं सपने की प्यास ॥

—मतिराम सतसई

इन दुखिया अखियानु कूँ, सुख सिरज्यौही नाँहि।
देखै बनै न देखतै, अनदेखै अकुलाँहि ।।५९४।।

शब्दार्थ :—सिरज्यौही नाँहि = उत्पन्न ही नहीं किया है।

प्रसंग-भावार्थ :—किसी सखी से नायिका कहती है कि इन दुःखिनी आँखों के भाग्य में तो सुख उत्पन्न ही नहीं हुआ है। जब वह (नायक) निकट होता

है तब ये देखने की इच्छुक होकर भी लज्जावश देख नहीं पाती हैं। और जब न देखती हैं तो सदा आकुल बनी रहती हैं।

अलंकार :—काव्यलिंग तथा विशेषोक्ति।

देखत चूर कपूर ज्यौं, उपै जाइ जनि, लाल।
छिन छिन जाति परी खरी, छीन-छबीली-बाल ॥५९५॥

शब्दार्थ :—उपै जाइ जनि = ऊपर न चला जाए।

प्रसंग-भावार्थ :—दूती आकर नायक से कहती है कि हे लाल ! कहीं वह (नायिका) कपूर के गंधचूर्ण की भाँति उड़ न जाए क्योंकि वह सुन्दर बाला तुम्हारे बिछोह में नित्यप्रति क्षण-क्षण क्षीण होती जा रही है।

अलंकार :—अनुप्रास, काव्यलिंग, उपमा तथा वीप्सा।

देखत कछु कौतिगु इतै, देखौ नैंक निहारि।
कब की इक टक डटि रही, टटिया अँगुरिनु मारि ॥५९६॥

शब्दार्थ :—कौतिगु कौतुक, डटि रही = स्थिर बनी है।

प्रसंग-भावार्थ :—दूती नायक से कहती है कि यदि तुम्हें कोई कौतुक देखना हो तो थोड़ा सा उसकी (नायिका की) ओर चलकर देख लीजिए वह अपनी उंगलियों की टटिया बनकर कितनी देर से तुम्हारी प्रतीक्षा में एकटक होकर खड़ी रही है।

अलंकार :—रूपक तथा स्वभावोक्ति।

कहा कहौं बाकी दसा, हरि ! प्राननु के ईसु।
बिरह ज्वाल जरिबौ लखैं, मरिबौ भयौ असीसु ॥५९७॥

शब्दार्थ :—ईसु = स्वामी, असीसु = आशीर्वाद।

प्रसंग-भावार्थ :—नायक के पास आकर दूती नायिका के विरह का वर्णन करती है कि हे उसके प्राणों के स्वामी हरि ! मैं उसकी दशा का कैसे वर्णन करूं। उसको इस प्रकार विरह की ज्वाला में जलती हुई देखकर ऐसा लगता है कि मरना ही उसके लिए अब आशीर्वाद हो गया है।

अलंकार :—लेश तथा रूपक।

तुलनात्मक :—कहा कहौं वाकी दसा सुनौ साँवरे बात ।
देखे बिनु कैसे जिए देखत दृग न अघात ॥
—मतिराम सतसई

लाज लगाम न मानहीं, नैना मो बस नाहिं ।
ए मुँहजोर तुरंग ज्यों, ऐंचत हूँ चलि जाहिं ॥५९८॥

शब्दार्थ :—लगाम = वल्गा, मुँहजोर = शक्तिशाली मुख वाले-अधिक बोलने वाले ।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका अपनी सखी से कहती है कि मेरे नेत्र अब मेरे वश में नहीं रहे हैं, इन्होंने संकोच की लगाम को तोड़ दिया है । ये जोर से मुँह के बल लगाम को खींचने से तोड़ने वाले अश्व की भाँति रह-रहकर निषेध किए जाने पर भी वहीं चले जाते हैं ।

विशेष :—मुँहजोर घोड़ा लगाम खींचने पर भी नहीं रुकता है ।

अलंकार :—रूपक-उपमा तथा विशेषोक्ति ।

तुलनात्मक :—

एक स्थान पर 'रसनिधि ने भी घोड़े को नेत्रों का उपमान बनाया है ।

"बदन-बहल कुण्डल-चका भौंह-जुवा हय नैन ।
फेरत चित मैदान में बहलवान बर मैन ॥
—रसनिधि सतसई

तथा :—

मानत लाज लगाम नहिंनैकु न गहत मरोर ।
होत तोहिं लखि बाल के दृग तुरंग मुँह जोर ॥
—मतिराम सतसई

बहके-सब जिय की कहत, ठौरु कुठौरु लखैं न ।
छिन औरै, छिन और से, ए छबि छाके नैन ॥५९९॥

शब्दार्थ :—बहके = भ्रान्त हुए, ठौरु-कुठौरु = स्थान का औचित्य तथा अनौचित्य ।

प्रसंग-भावार्थ :—कोई नायिका अपनी सखी से कह रही है कि ये नेत्र तो उस नायक की रूप मदिरा पीकर छक गए हैं इसलिए उचित अनुचित का

विचार छोड़कर बहक रहे हैं। पल-पल पर उसी की ओर देखने लग जाते हैं। ये क्षण में किसी और प्रकार के हैं तो क्षण भर बाद ही कुछ और प्रकार के हो जाते हैं।

विशेष :--मदिरा के उन्माद में व्यक्ति लोक मर्यादा को छोड़कर कैसी भी बात कह सकता है।

अलंकार :—भेदकातिशयोक्ति तथा रूपक।

फिरि फिरि बूझति कहि कहा कह्यौ साँवरे गात।
कहा करत देखे कहाँ, अली चली क्यौं बात ॥६००॥

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका अपनी सखी से पूछती है (हर बार) कि तू बता तो सही उन श्यामल शरीर वाले कृष्ण ने तुझसे क्या-क्या कहा था ? जब तू वहाँ गई थी तब वे क्या कर रहे थे और हे सखी यह भी बता कि इस प्रेम सन्देश का आरम्भ तुम्हारे द्वारा कैसे किया गया ?

अलंकार :—स्वभावोक्ति (प्रेमिका के अर्थ में) अत्युक्ति, प्रेम के अर्थ में।

दुखहाइनु चरचा नहीं, आनन आनन आन।
लगी फिरैं ढूका दिए, कानन कानन कान ॥६०१॥

शब्दार्थ :—दुखहाइनु = दुःख देने वाली, आनन आन = औरों की शपथ लेकर, ढूंका दिए = देखते हुए, कानन = वन।

प्रसंग-भावार्थ :—कोई नायिका अपनी सखी से कहती है मैं अन्य अन्यों की शपथ लेकर कहती हूँ कि उन चुगलखोर सखियों की चर्चा ही नहीं करती परन्तु वे एक टक देखते-देखते सदा उपवन-वनों में भी कान लगाकर हमारी बातों को सुनती रहती हैं।

अलङ्कार :—वीप्सा तथा यमक।

नैंकु न जानी परति यौं, पर्‌यौ बिरह तनु छामु।
उठति दिया लौं नादि हरि ! लियैं तिहारौ नामु ॥६०२॥

शब्दार्थ :—नादि = पुकार कर।

प्रसंग-भावार्थ:—कोई सखी नायक से आकर कहती है कि वियोग के

कारण उसका (नायिका का) शरीर इतना क्षीण हो गया है कि अब वह पहचानी भी नहीं जा सकती। हे हरि! जब वह तुम्हारा नाम पुकार-पुकार कर शैया पर उठने लगती है तभी उसे देखा जा सकता है।

अलंकार :—उपमा तथा उन्मीलित।

जौ वाकें तनु की दसा, देख्यौ चाहतु आपु।
तौ, बलि, नैंकु बिलोकियै चलि अचकाँ चुपचापु ॥६०३॥

शब्दार्थ :—अचकाँ = अचानक।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—दूती नायक से आकर कहती है कि हे लाल यदि आप उसके (नायिका के) विरह व्यथित की करुण दशा को देखना चाहते हैं तो मैं आप पर अपना सर्वस्व न्यौछावर करूं, आप उसे अकस्मात् ही चुपचाप चलकर देख लीजिए।

अलङ्कार :—अत्युक्ति तथा सम्भावना।

रही दहेंड़ी ढिग धरी, भरी मथनिया बारि।
फेरति करि उलटी रई, नई बिलोवनि हारि ॥६०४॥

शब्दार्थ :—दहेंड़ी = दही वाली, मथनिया = पात्र, बारि = जल, बिलोवनिहारि = मक्खन निकालने वाली।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—कोई सखी किसी सखी से कहती है कि जैसे ही नायक उसे नई-नई दही मथने वाली नायिका के पास आया तो वह ऐसी भ्रन्ति में पड़ गई कि दही से भरी मटकी तो समीप ही रखी रही और वह किसी भरे हुए जलपात्र में उल्टी रई (मथानी) डालकर उसमें से मक्खन निकालने लगी।

अलंकार—भ्रान्मिान।

मैं तोसौं कैबा कह्यौ, तू जनि इन्हैं पत्याइ।
लगालगी करि लोइननि, उर में लाई लाइ ॥६०५॥

शब्दार्थ :—कैबा = कितनी बार, पत्याइ = विश्वास कर, लगालगी = मिलन, लाइ = अग्नि।

प्रसंग-भावार्थ :— कोई सखी नायिका से कहती है कि देख मैंने तुझे कितनी बार प्रतिषिद्ध नहीं किया है कि तू इन पर भरोसा मत कर। ये नेत्र तो करते हैं

परस्पर में लगालगी और प्रेम तथा विरह की ज्वाला लगती है तुम्हारे हृदय में !

अलंकार :—अनुप्रास तथा असंगति।

रह्यौं मोहु, मिलनौ रह्यौ, यौ कहि गहैं मरोर।
उत दै सखिहिं उराहनौ, इत चितई मो ओर ॥६०६॥

प्रसङ्ग-भावार्थ :—नायक अपने अन्तरंग सखा से कहता है कि "प्रेम तथा मिलन की बातें तो दूर ही की रहीं" इस प्रकार कहते हुए किसी दूसरी सखी की ओर उपालम्भ पूर्ण-दृष्टि से उसने मेरी ओर देखा।

अलंकार :—स्मृति।

डगकु डगति सी चलि, ठुठकि चितई, चली निहारि।
लिए जाति चितु चोरटी, वहै गोरटो नारि ॥६०७॥

शब्दार्थ :—चोरटी = चोर, गोरटी = गोरी।

प्रसंग-भावार्थ :—नायक अपने अंतरंग सखा से कहता है कि एक पग चलकर डगमगाती हुई, तनिक ठिठककर मेरी ओर निहारते हुए वह गोरे रंग वाली रमणी रूपी चोर, मेरे मन को चुराकर लिए जा रही है।

अलङ्कार :—रूपक-अनुप्रास तथा स्वभावोक्ति।

नहिं नचाइ चितवति दृगनु, नहिं बोलति मुसकाइ।
ज्यौं ज्यौं रूखी रुख करति, त्यौं त्यौं चितु चिकनाइ ॥६०८॥

प्रसङ्ग-भावार्थ :—नायक नायिका से कहता है कि न तो आज तुम अपने नेत्रों को चंचलतापूर्वक नर्त्तित करते हुए देख रही हो, न मुस्कराते हुए बातें ही कर रही हो; हाँ इतना अवश्य है कि ज्यौं-ज्यौं तुम रूखापन दिखाने की चेष्टा करती हो त्यौं-त्यों तुम्हारा मन स्निग्ध होता जा रहा है।

अलंकार :—वीप्सा तथा विभावना।

चिलक, चिकनई, चटक सौं लफति सटक लौं आइ।
नारि सलौनी साँबरी, नागिनि लौं डसि जाइ ॥६०९॥

शब्दार्थ :—चिलक = चमक, सटक = बेंत।

प्रसंग-भावार्थ :—नायक का वचन नायिका की सखी के लिए :—चमक,

चिकनाहट, छवि तथा वेंत के समान लचकीलापन और नम्रता लिए हुए यह लावण्यवती साँवली नारी (नायिका) नागिन के समान सबके हृदयों को डसे जा रही है।

विशेष :—उपर्युक्त गुण नारी तथा सर्पिणी दोनों में समान रूप से ही प्राप्त होते हैं।

अलंकार :—अनुप्रास तथा उपमा।

लरिका लैबे के मिसहिं, लंगर मो ढिग आइ।

गयौ अचानक आँगुरी, छाती छैल छुवाइ ॥६१०॥

शब्दार्थ :—लंगर = दृष्टि।

प्रसंग-भावार्थ :—परकीया नायिका अपनी सखी से कहती है कि मेरी गोद में से बालक को लेने के बहाने से तथा मेरी दृष्टि से अपनी दृष्टि मिलाकर समीप आते हुए वह छैल मेरे कुचों से अपनी अँगुलियाँ छुलाता हुआ चला गया है।

अलंकार :—अनुप्रास तथा पर्यायोक्ति।

चितवनि भोरे भाइ की, गोरै मुँह मुसकानि।

लागति लटकी अलि गरैं, चित खटकति नित आनि ॥६११॥

शब्दार्थ :—भोरे भाइ = प्रेमपूर्ण-भोला भाव।

प्रसंग-भावार्थ :—नायक दूती से कहता है कि उस (नायिका) की भोले भावों से भरी चितवन तथा गौरवर्णी मुख से झरती हुई मुस्कराहट एवं सखियों के कण्ठ से बार-बार उसका लटक जाना आदि उसकी अनेक चेष्टाएं आ आकर मन में खटकती रहती हैं।

अलंकार :—स्वभावोक्ति।

सहित, सनेह, सँकोच सुख, स्वेद, कंप मुसकानि।

प्रान पानि करि आपनैं, पान धरे मो पान ॥६१२॥

शब्दार्थ :—पानिकरि आपनैं = अपने हाथ में लेकर।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—नायक अपने अंतरंग मित्र से नायिका के लिए कहता है कि उसने स्नेह, संकोच, सुख, पसीना, कम्प तथा मुस्कराहट से युक्त होकर मेरे प्राणों को अपने हाथों में करके, मेरे हाथ में अपने द्वारा लगा हुआ पान

रख दिया ।

विशेष :—शृङ्गार रस की निष्पत्ति के सभी आवश्यक तत्वों का कवि ने उल्लेख किया है ।

अलंकार :—परिवृत्त तथा अनुप्रास ।

छिनु छिनु मैं खटकति हियैं खरो भीर मैं जात ।
कहि जु चली अनही चितैं ओठनुहीं बिच बात ॥६१३॥

शब्दार्थ :—अनही चितैं=बिना देखे हुए ही ।

प्रसंग-भावार्थ—नायक नायिका की सखी से कहता है कि जिस क्षण से वह भारी भीड़ में, बिना देखे हुए, होठों को मूँदे हुए ही बहुत कुछ कहती हुई निकल गई है तब से, उसकी वह मुद्रा मेरे हृदय से क्षण भर के लिए भी नहीं निकलती और एक एक पल खटकती रहती है ।

अलङ्कार :—वीप्सा तथा स्मृति ।

तुलनात्मक :—ललचौंहीं कछु बात कहि तिरखौंही अँखियान ।
खटकी उर अटकी रहत वा मुख की मुसकान ॥
—विक्रम सतसई

मैं लै दयौ, लयौ सु, कर छुवत छिनकि गौ नीरु ।
लाल, तिहारौ अरगजा उर ह्वै लग्यौ अबीरु ॥६१४॥

शब्दार्थ :—छिनकि गौ = बिखर गया । अरगजा=सुगंधित पदार्थ ।

प्रसंग-भावार्थ:—नायक से दूती कहती है कि हे लाल ! तुम्हारे द्वारा भेजा हुआ अरगजा लेकर मैं उसके पास गई सो वह तो मार्ग में ही बिखर गया अथवा सूख गया । इस प्रकार पानी के अभाव के कारण तुम्हारा अंगराग उसके शरीर पर सूखे हुए अबीर का काम करने लगा ।

अलंकार :—अत्युक्ति ।

चुनरी स्याम सतार नभ, मुंह ससि की उनहारि ।
नेहु दबावतु नींद लौं निरखि निसा सी नारि ॥६१५॥

शब्दार्थ :—उनहारि=अनुकरण ।

प्रसंङ्ग-भावार्थ :—नायक नायिका से कहता है कि तुम्हारी स्याम रंग की

तार के काम से युक्त चूनर ही तारों भरा आकाश है, तुम्हारा मुंह ही शशि का अनुकरण बना हुआ है। हे निशारूपिणी नारि तुम नींद के समान अपने प्रेम से सभी को दबाती (सुलाती) हुई चली जा रही हो।

अलंकार :—रूपक तथा उपमा।

तो पर बारौं उरबसी, सुनि, राधिके सुजान।
तू मोहन कैं उर बसी ह्वै उरबसी—समान ॥६१६॥

शब्दार्थ :—उरबसी = उर्वशी, हृदय में बसी हुई, एक कंठाभरण।

प्रसंगभावार्थ :—नायिका को सम्बोधित करते हुए सखी कहती है कि हे चतुर राधिके तेरे ऊपर में उर्वशी को भी निछावर कर सकती हूं। तू तो उर्वशी नामक एक आभूषण के समान मोहन के उर में बस गई है।

अलंकार :—यमक, प्रतीप तथा उपमा।

तुलनात्मक :—कहा मैनका उरबसी कहा काम की वाम।
रहे चित्र कैसे लिखे लखि राधे घनस्याम ॥
—विक्रम सतसई

रही लट्टू ह्वै, लाल, हौं, लखि वह बाल अनूप।
कितौ मिठास दयौ दई इतैं सलौनैं रूप ।६१७॥

प्रसंग-भावार्थ :—नायक के समीप आकर नायिका की सखी कहती है कि हे लाल ! मैं तो उस बाला के अनुपम रूप को देखकर लट्टू हो गई हूं। अरे दैव ! तूने उसके इस लावण्यमय-रूप में इतना माधुर्य कहाँ से भर दिया है?

अलंकार :—अतिशयोक्ति श्लेष तथा विरोधाभास।

हँसि उतारि हिय तैं, दई तुम जु तिहिं दिना, लाल।
राखति प्रान कपूर ज्यौं, वहै चुहुटिनी-माल ॥६१८॥

शब्दार्थ :—चुहुटिनी=गुंजा निर्मित।

प्रसंगभावार्थ :—नायक से दूती कहती है कि हे लाल ! उस दिन तुमने जो मुस्कराते हुए अपने कंठ से गुंजाओं की माला उसको (नायिका को) देदी थी उसे अब वह अपने कंठ में पहनकर कपूर से उड़ जाने वाले (मृएमान्) प्राणों को रोके हुए है।

अलंकार :—उदाहरण तथा काव्यलिङ्ग।

छिनकु, छबीले लाल, वह नहिं जौ लगि बतराति।
ऊष, महूष, पियूष की तौ लगि भूख न जाति ॥६१९॥

शब्दार्थ :—छिनकु = एक क्षण, ऊष = ईख, महूष = मधु, पियूष=अमृत।

प्रसंग-भावार्थ :—सखी नायिका के स्वर माधुर्य की प्रशंसा करते हुए नायक से कहती है कि हे सुन्दर लाल! जब तक वह क्षण भर के लिए बात नहीं करती है तब तक ईख, मधु तथा अमृत की भूख नहीं मिट पाती है।

विशेष :— कवि का तात्पर्य ईख मधु तथा अमृत से नायिका के वचनों को श्रेष्ठ बताना है।

अलंकार :—अनुप्रास तथा व्यतिरेक।

तुलनात्मक :—

कह मिश्री कह ऊखरस नहीं पियूष समान।
कलाकन्द कतरा अधिक तो अधरारस पान॥
—(विक्रम सतसई)

तुलनात्मक :—रस ही मैं रस पाइयतु यह सुरीति जग जोइ।
वा मुख की बतियान सौं अनरस मैं रस होइ॥
—"विक्रम सतसई"

टुनहाई सब टोल मैं रही जु सौति कहाइ।
सुतैं ऐंचि प्यौ आपु-त्यौं करी अदोखिल आइ ॥६२०॥

शब्दार्थ :—टुनहाई = जादूगरनी, टोल = समाज, अदोखिल=निर्दोषिनी।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—कोई सखी स्वकीया नायिका से किसी परकीया के विषय में कहती है कि वह सपत्नी अब तक समाज में जादूगरनी के नाम से पुकारी जाती थी, परन्तु तूने अपने प्रिय को रूपगुणों से आकर्षित करके तथा नायक को अपनी उस सपत्नी की ओर से निरासक्त करके उसे (परकीया नायिका को) निर्दोषिनी बना दिया है।

अलङ्कार :—उल्लास।

नागरि बिबिध बिलास तजि, बसी गँवेलिनु माँहि ।

मूढ़नि मैं गनिबी कि तूँ, हूठ्यौ दै इठलाँहि ॥६२१॥

शब्दार्थ :—नागरि=चतुर, नागरिका, गँवेलिनु = गंवार, ग्रामीण हूठ्यौ = मूर्खता ।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—नायिका से उसकी सखी कहती है कि हे चतुर नागरिका नायिका तू अनेक विलासों को छोड़कर जो यहाँ गंवार ग्रामीणाओं में आ गई है तो इन्हीं के समान मूर्खता-पूर्वक इठलाया कर अन्यथा ये तुझे मूढ़ कह कह कर पुकारा करेंगी ।

अलंकार :—विकल्प तथा श्लिष्टरूपक ।

तूँ मति मानैं मुकतई किथैं कपट चित कोटि ।

जौ गुनही, तौ राखियै आँखिनु माँझि अगोटि ॥६२२॥

शब्दार्थ :—मुकतई = सम्बन्ध त्याग, गुनही = गुनहगार, अपराधी, अगोटि = बन्द करके ।

प्रसंग-भावार्थ :—नायक नायिका से कहता है कि कपटी-हृदय के व्यक्तियों ने करोड़ों प्रकार की झूठी बातें बना कर तुझे प्रभावित कर लिया है पर तू यह न समझ कि मैंने तेरे साथ स्थापित किए हुए सम्बन्धों का त्याग कर दिया है। यदि तू फिर भी मुझे अपराधी समझती है तो मुझे अपनी आँखों में बन्द कर ले, अर्थात् आँखों में बसा ले ।

अलंकार := पर्यायोक्ति ।

पूछैं क्यौं रूखी परति, सगिबगि गई सनेह ।

मनमोहन छबि पर कटी, कहैं कट्यानी देह ॥६२३॥

शब्दार्थ :—सगिबगि = डूबी हुई, कटी = आकर्षित, कट्यानी=आकर्षक ।

प्रसंग-भावार्थ :—कोई सखी नायिका से कहती है कि तू अपने प्रेमी के विषय में पूछे जाने पर क्रोध क्यों करने लगती है जबकि तेरा शरीर प्रेम सिंधु में डूबा हुआ है ? वैसे तो तू ही मनमोहन की छवि पर कट गई है (आकर्षित हो गई है) संसार तुझे भले कँटीली देह वाली कहता रहे ।

अलकार :——भ्रान्तिमान् ।

कोरि जतन कीजै, तऊ नागर नेहु दुरै न।
कहैं देतु चितु चीकनौं नई रुखाई नैन ॥६२४॥

प्रसङ्ग-भावार्थ :—नायिका से उसकी सखी कहती है कि तुम भले ही करोड़ों प्रयत्न करके वास्तविकता को छिपाए रखो परन्तु तुम्हारा जो नायक के प्रति प्रेम है वह अज्ञात नहीं रह सकता। तुम्हारे हृदय की स्निग्धता (स्नेह पूर्णता) का परिचय तो तुम्हारे नेत्रों की यह नवीन रुखाई ही दे रही है।

अलंकार :—तीसरी तथा पांचवी विभावना।

सन सूक्यौ, बीत्यौ बनौ, ऊखौ लई उखारि।
अरी, हरी अरहरि अजौं, धरि धरहरि हियनारि ॥६२५॥

शब्दार्थ :—बनौ = वन भी, धरहरि = धैर्य।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—नायिका को सान्त्वना देते हुए, दूती कहती है कि सन के घने खेत सूख गए, वन उपवन भी समाप्त हो गए, किसानों ने खेतों में से गन्ने के पेड़ भी काट डाले हैं, पर क्या हुआ ? अभी अरहर के हरे खेत तो हैं। अरी सखी मन में धैर्य रख, अभी तो नायक तुझसे रमण करने के लिए आ सकता है।

अलंकार :—अनुप्रास तथा काव्यलिङ्ग।

तुलनात्मक :– कित चित गौरी जौ भयौ ऊख रहरि कौ नास।
अजहूँ अरी हरी हरी जँह तँह खरी कपास॥
—शृङ्गार सप्तशती

लखि, लौनै लोइननु कैं कोइनु होहि न आजु।
कौनु गरीबु निबाजिबौ, कित तूठ्यौ रतिराजु ॥६२६॥

शब्दार्थ :—कोइनु = कौन नहीं, निबाजिबौ = कृपा पात्र होने वाला है, तूठ्यौ = तुष्ट हुआ है।

प्रसंग-भावार्थ :— कोई सखी नायिका से कहती है कि तुम्हारे इन लावण्य-मय नेत्रों को देखकर आज कौन तुम्हारा (प्रेमी) नहीं हो जाएगा ? आज किस निर्धन को तुम अपना कृपाभाजन बनाने जा रही हो ? आज रतिराज कामदेव किस व्यक्ति पर सन्तुष्ट हो रहा है ?

अलंकार :—अनुप्रास, वक्रोक्ति तथा पर्यायोक्ति।

मन न धरति मेरौ कह्यौ तूँ आपनैं सयान ।

अहे, परनि पर प्रेम की परहथ पारि न प्रान ॥६२७॥

शब्दार्थ :—सयान=चातुर्य, परनि = सम्बन्ध, परहथ = पराए हाथों में ।

प्रसंग-भावार्थ :—कोई सखी नायिका से कहती है कि तू अपनी चतुराई के कारण मेरी बात को मन में क्यों नहीं रखती है ? अरे ! पराये व्यक्ति से प्रेम के सम्बन्ध स्थापित करके अपने प्राणों को क्यों पराये हाथों में डाल रही हो ?

विशेष :—परकीया नायिका का वर्णन किया गया है ।

अलंकार :—अनुप्रास, हेतु तथा लोकोक्ति ।

तूँ मोहन-मन गढ़ि रही गाढ़ी गड़नि, गुवालि ।

उठै सदा नटसाल ज्यौं सौतिनु कैं उर सालि ॥६२८॥

शब्दार्थ :—गाढ़ी गढ़नि = गम्भीरता से, गुवालि = गोपिका ।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका की सखी उसके रूप की प्रशंसा करती है कि हे गोपिका ! तू मोहन (अर्थात् जो सबको मोहित करता है) के मन में बहुत गहरी प्रविष्ट हो गई है और अपनी इस प्रीतिगम्भीरता के कारण तू अन्य सपत्नियों के मन को शरीर में भीतर घुसे हुए तीर की टूटी नोंक के समान पीड़ा पहुँचा रही है ।

अलंकार :—उपमा तथा असंगति ।

तुलनात्मक :—सालै नित नटसाल सी निकसि सकै किहि भाँति ।
बड़ी बड़ी आँखियाँ हियैं गड़ी रहैं दिन राति ॥
— विक्रम सतसई

कहा लड़ैते दृग करे परे लाल बेहाल ।

कहुँ मुरली, कहुँ पीत पटु, कहूँ मुकटु बनमाल ॥६२९॥

शब्दार्थ :—लड़ैते = लाड़िले, लाल = नायक, बेहाल = मूर्च्छित ।

प्रसंग-भावार्थ :—कोई सखी नायिका से कहती है कि तू ने अपने नेत्रों को कैसा सिर पर चढ़ा रखा है जिन्होंने लाल (नायक) को मूर्च्छित बना दिया है ? कहीं तो उनकी वंशी पड़ी है और कहीं पीताम्बर तो कहीं उनके किरीट तथा वनपुष्पों के हार बिखरे हुए पड़े हैं ।

अलंकार :—व्याजस्तुति ।

बड़े कहावत आप सौं गरुवे गोपीनाथ।
तो बदिहौं, जौ राखिहौ हाथनु लखि मनु हाथ ॥६३०॥

शब्दार्थ :—गरुवे = गर्वशाली, वदिहौं = स्वीकार करूँगी ।

प्रसंग-भावार्थ :—नायक से दूती कहती है कि हे गर्वशाली गोपीनाथ तुम अपने आप भले ही स्वयं को वड़ा कहलो, मैं तो तुम्हें उसी दिन बड़ा स्वीकार करूँगी जिस दिन तुम उस (नायिका) के हाथों को देख कर अपने मन पर हाथ रख लोगे अर्थात् अप्रभावित बने रहोगे ।

अलंकार :—संभावना ।

बहकि न इहिं बहिनापुली, जब तब, पीर विनासु।
बचै न बड़ी सबील हूँ, चील घौंसुवा मासु ॥६३१॥

शब्दार्थ :—बहिनापुली = वहिन का सम्बन्ध, वीर = सखी, सबील=यत्न, घौंसुवा = घौंसला ।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—नायिका की सखी नायक की मुँहबोली बहन के संबंध के विषय में उससे कहती है कि तू इसकी बातों में मत आना नहीं तो किसी न किसी दिन तेरे और नायक के प्रेम में हानि हो जाएगी । जैसे चील के घौसले में रखा हुआ माँस अनेक चेष्टाएँ करने पर भी नहीं बचाया जा सकता वैसे ही यह सम्बन्ध रहने पर भी नायक के मन में जो तेरे प्रति प्रेम है उसकी रक्षा नहीं की जा सकती ।

अलंकार :—दृष्टान्त तथा लोकोक्ति ।

(प्रेमानुभूति-वर्णन)

थाकी जतन अनेक करि, नैंक न छाँड़ति गैल ।
करी खरी दुबरी सु लगि तेरी चाह--चुरैल ॥६३२॥

शब्दार्थ :—गैल = राह, दुवरी = दुर्बल, चुरैल = चुड़ैल ।

प्रसंग-भावार्थ :—दूती नायक से कहती है कि मैं तो अनेक यत्न कर करके थक गई हूँ पर वह अपनी राह से (तुम्हें प्रेम करने से) तनिक भी

नहीं हटती है। हे लाल तुम्हारी चाह रूपी चुड़ैल ने उससे संलग्न होकर उसको अत्यन्त दुर्बल बना दिया है।

अलंकार :—रूपक।

तुलनात्मक :—

"थाकी करि करि जतन अति अतन तपन अति ताप
गजब हियौ समझौ न तब अजब इसक सन्ताप"

—विक्रम सतसई

होमति सुखु, करि कामना तुमहिं मिलन की, लाल।
ज्वालमुखी सी जरति लखि लगनि-अगनि की ज्वाल ॥६३३॥

शब्दार्थ :—होमति = हवन में आहुति देती है, लगनि = प्रेम।

प्रसग-भावार्थ :—नायिका की सखी नायक से कहती है कि हे लाल वह तुमसे मिलन की कामना करके निरन्तर अपने सुखों की आहुति देती रहती है। तुम्हारी प्रेम रूपी ज्वाला को सदा जलते हुए देख कर वह भी ज्वालामुखी पर्वत के समान ही जलती रहती है।

अलङ्कार :—सम तथा उपमा।

तुलनात्मक :—"दोनों तरफ से आग बराबर लगी हुई।"

मै हो जान्यौ, लोइननु जुरत बाढ़िहै जोति।
को हो जानतु, दीठि कौं दीठि किरकिटी होति ॥६३४॥

शब्दार्थ :—लोइननि जुरत = आँखें मिल जाने पर, किरकिटी = कष्ट-दायिनी।

प्रसंग-भावार्थ :—दूती नायक से कहती है कि मैं तो यही जानती थी कि तुम्हारी और उसकी (नायिका की) आँखें मिलने पर एक दूसरे के जीवन में हर्ष की ज्योति जगेगी। यह मुझे क्या पता था कि एक की दृष्टि दूसरे की दृष्टि के लिए कष्ट देने वाली हो जाएगी।

अलङ्कार :—विषम तथा विषादन।

को जानै, ह्वै है कहा, ब्रज उपजी अति आगि ॥
मन लागै नैननु लगैं, चलै न मग लगि लागि ॥६३५॥

शब्दार्थ :—मग लगि लागि = मार्ग से सम्बन्ध बनाकर ।

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि ब्रज में एक ऐसी आग लगी हुई है जिसका परिणाम कौन जाने क्या होगा ? यह मन में लगने पर नेत्रों में लगती है अत: कोई यहाँ के (ब्रज प्रदेश के) मार्गों से भी होकर न चलेगा तभी इस आग से स्वयं को बचा सकेगा ।

अलंकार :—अतिशयोक्ति, लोकोक्ति तथा असंगति ।

तजतु अठान न, हठ पर्‌यौ सठमति, आठौं जाम ।
भयौ बामु वा वाम कौं रहै कामु बेकाम ॥६३६॥

शब्दार्थ :—अठान = अनुचित, सठमति=धूर्त, वाम = प्रतिकूल, बेकाम= व्यर्थ ।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—कोई सखी किसी दूसरी सखी से कहती है कि वह शठ-मति वाला कामदेव अपना अनुचित कार्य (अबलाओं को सताना) बन्द न करने की हठ किए हुए है । अब वह उस बेचारी वामा विरहिणी के व्यर्थ ही प्रतिकूल हो गया है ।

अलङ्कार :—यमक तथा विरोधाभास ।

फिर सुधि दै सुधि द्याइ प्यौं यह निरदई निरास ।
नई नई बहुरौ दई, दई उसास उसास ॥६३७॥

शब्दार्थ :—सुधि दै = होश में लाकर, सुधि द्याइ = स्मरण दिलाते हुए, उसास = उच्छ्‌वास, दई उसास = बढ़ा दी है ।

प्रसंग-भावार्थ :—विरहिणी नायिका अपनी सखी से कहती है कि तूने मुझ मूर्च्छित को चेतना देकर तथा प्रियतम की अनुराग-पूर्ण स्मृतियाँ दिलाते हुए जो कार्य किया है, वह बड़ा अनुचित है । मुझे तो उस निष्ठुर की ओर से कोई आशा ही नही रहीं है । अरी ! तनिक देख तो सही दैव ने और नई प्रकार के उच्छ्‌वास मुझ में बढ़ा दिए हैं ।

अलंकार :—वीप्सा तथा यमक ।

जिहिं निदाघ दुपहर रहै, भई माह की राति ।
तिहिं उसीर की रावटी, खरी आवटी जाति ॥६३८॥

शब्दार्थ :—निदाघ = ग्रीष्म, उसीर = खस, रावटी = घर, आवटी=तप्त ।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका अपनी सखी से कह रही है कि जिसमें ग्रीष्म काल के दोपहर की वेला भी (अपनी तप्तता छोड़कर) माघ मास की रात्रि के समान शीतल हो जाती थी उसी खस पड़े हुए इस घर में पति के बिना मैं अत्यंत सन्तप्त हो रही हूँ ।

अलंकार :—विभावना पाँचवीं ।

नई लगनि, कुल की सकुच, बिकल भई अकुलाइ ।
दुहूँ ओ एँची फिरति, फिरकी लौं दिनु जाइ ।।६३९।।

शब्दार्थ :—लगनि = प्रेम, सकुच = मर्यादा, फिरकी = चकवी ।

प्रसंग-भावार्थ :—कोई सखी किसी अन्य सखी से नायक के विषय में कहती है कि एक ओर तो उसकी नई-नई प्रीति है और दूसरी ओर परिवार की मर्यादाएं हैं, इस कारण वह नित्य प्रति बहुत आकुल-व्याकुल बनी रहती है । प्रेम और परिवार दोनों दिशाओं की ओर आकर्षित होने के कारण उसकी स्थिति दोनों ओर खिंचने वाली रबड़ की डोर में बंधी फिरकनी जैसी हो गई है ।

अलंकार :—उपमा ।

तुलनात्मक :—"प्रीतम कौ हित पौन गहि लिए जात तिहि संग ।
गही डोर कुल लाज की भई चंग के रंग ।।"
—तोष

तजी संक, सकुचति न चित, बोलत बाकु कुबाकु ।
दिन छिनदा छाकी रहति, छुटतु न छिनु छबि छाकु ।।६४०।।

शब्दार्थ :—संक = शंका, बाकु कुबाकु = कथनीय तथा अकथनीय, छिनदा = रात, (क्षणदा) छाक = नशा ।

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी नायिका की दशा का वर्णन किसी अन्य सखी से करती है कि उसने अब समस्त लोकशंकाओं को त्याग दिया है और न उसके मन में कथनीय और अकथनीय बातें करते समय ही कोई संकोच होता है । वह तो प्रियतम के छविरूपी नशे के कारण रात दिन छकी हुई रहती है और वह नशा एक पल के लिए भी नहीं हटता ।

अलंकार :—व्यतिरेक-रूपक तथा अनुप्रास।

झटकि चढ़ति उतरति अटा, नैंकु न थाकति देह।
भई रहति नट कौ बटा, अटकी नागर-नेह ॥६४१॥

शब्दार्थ :—झटकि = शीघ्र, बटा = बट्टा।

प्रसंग-भावार्थ :—कोई सखी नायिका की तीव्र प्रेमानुभूति का वर्णन करती है कि वह प्रियतम को दूर से आता हुआ देखने के लिए कभी अट्टालिका पर चढ़ती है तो कभी उतर जाती है। ऐसा करने में उसकी देह तनिक भी नहीं थकती। वह उस नागर नायक के स्नेह में उलझकर नट के बट्टे (जादूगर के शीशे) की भाँति नतोन्नत-गामिनी हो गई है।

तुलनात्मक :—"निरखि अटारी पर खरी तकति हरी टक लाइ।"
—राम सतसई

अलंकार :—विशेषोक्ति तथा उपमा (रूपक के अनुसार भी अर्थ किया जा सकता है)।

चलतु घैरु घर घर, तऊ घरी न घर ठहराइ।
समुझि उहीं घर कौं चलै, भूलि उहीं घर जाइ ॥६४२॥

शब्दार्थ :—घैरु = लोकापवाद।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका की सखी किसी सखी से कहती है कि यद्यपि उसके प्रेम के लिए घर-घर में निन्दा की जा रही है फिर भी वह अपने घर में तनिक नहीं ठहर पाती। वह अपने घर के लिए जाना चाहती है किन्तु पुनः राह भूलकर नायक के घर में ही आ जाती है।

विशेष :—प्रेम की आनन्दपूर्ण दशा का चित्र है।

अलंकार :—विशेषोक्ति-वीप्सा-अनुप्रास तथा भ्रान्ति।

तुलनात्मक :—"घर हाइन चरचैं चलैं चातुर चाइन सैन।
तदपि सनेह सने लगैं ललकि दुहूँ के नैन॥"
—राम सतसई

पिय कैं ध्यान गही गही, रही वही ह्वै नारि।
आपु आपु हीं आरसी, लखि रीझति रिझबारि ॥६४३॥

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका की सखी किसी अन्य सखी से कहती है कि वह तो अब प्रियतम के ध्यान को ही ग्रहण करने के कारण तन्मया तथा तद्वत् हो गई है ! जब भी वह आकर्षणमयी नायिका दर्पण के सम्मुख जाती है तो स्वयं के रूप को प्रियतम का रूप समझ कर उसी पर रीझ उठती है।

विशेष :—जड़ता आने पर ही इस प्रकार का भाव उत्पन्न होता है।

अलंकार :- वीप्सा, भ्रम तथा सामान्य।

तुलनात्मक :—

"लाल लाल लोइन निरखि लालन के नव बाम।
हाथ आरसी लै लखति निज लोचन अभिराम।।"

—विक्रम सतसई

तथा :—"अनुखन माधव माधव रटइत राधा भेलि मधाई।"

—विद्यापति

ह्याँ तें व्हाँ, व्हाँ तै इहाँ, नैकौ धरति न धीर।
निसि दिन डाढ़ी सी फिरति, बाढ़ी गाढ़ी पीर ।।६४४।।

शब्दार्थ :—डाढ़ी = एक यायावर जाति।

प्रसंगभावार्थ :—दूती नायक के पास आकर नायिका का विरह निवेदन करती है कि वह सदा यहाँ से वहाँ और वहाँ से यहाँ तक चक्कर लगाती रहती है; और उसके मन में अब तनिक भी धीरज नहीं रह गया है। वह बढ़ती हुई प्रगाढ़-प्रेम-पीड़ा के कारण रात दिन डाढ़ी जाति के व्यक्तियों के समान एक स्थान विशेष पर न टिककर यत्र-तत्र भटकती फिरती है।

अलंकार :—छेकानुप्रास तथा उपमा।

चकी जकी सी ह्वै रही, बूझैं बोलति नीठि।
कहूँ डीठि लागी, लगी कै काहू की डीठि ।।६४५।।

शब्दार्थ :—चकी = चकित, जकी = त्रस्त, नीठि = कठिनाई से।

प्रसंग-भावार्थ :—कोई सखी नायिका की अवस्था देखकर किसी अन्य सखी से कहती है कि वह कुछ अचम्भित सी और कुछ त्रासित-सी दीख पड़ रही है। पूछने पर बड़ी कठिनाई से बोल पाती है। या तो उसकी कहीं नजरें लग गई

हैं या फिर उसी को किसी की नजर लग गई है।

अलंकार :—सन्देह।

इत तें उत, उत तें इतै, छिनु न कहूँ ठहराति।

जक न परति चकई भई, फिरि आवति फिरि जाति ॥६४६॥

शब्दार्थ :—चकई = फिरकनी।

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी आकर नायक से नायिका की विरह कथा का वर्णन करता है कि कभी इधर से उधर तो कभी उधर से इधर फिरती हुई वह तनिक भी चैन से नहीं बैठ पाती है। इस आकुल मनस्थिति के कारण वह क्षण भर भी किसी एक बात पर नहीं टिक पाती इसलिए उसकी दशा चकवी के समान हो गई है।

अलंकार :—पूर्णोपमा।

तुलनात्मक :—"भटू लटू सी ह्वै रही सनी सनेह विसाल।
वैठे पेखि रसाल कौं रोम उठे ततकाल ॥"

—राम सतसई

मोहू सौं तजि मोहु, दृग चले लागि उहिं गैल।

छिनकु छ्वाइ छबि-गुर-डरी छले छबीलैं छैल ॥६४७॥

शब्दार्थ :—छ्वाइ = स्पर्श कराकर, गुरडरी = गुड़ की ढेली।

प्रसंग-भावार्थ :—किसी सखी को निकट देखकर नायिका कहती है कि मेरे ये नेत्र मुझसे भी अपना सम्बन्ध छोड़कर उसी राह की ओर चले गए हैं जिधर को तनिक सी छवि रूपी गुड़ की ढेली का इन्हें स्पर्श करा कर छबीले छैल छल करके चले गए हैं।

विशेष :—नेत्रों को छोटे बालकों का तथा नायक के रूप को गुड़ की ढेली का और नायक को कवि ने ठग का रूपक दिया है।

अलंकार :—साङ्गरूपक तथा अनुप्रास।

लई सौंह सी सुनन की, तजि मुरली धुनि आन।

किए रहति नित राति दिनु, कानन लागे कान ॥६४८॥

शब्दार्थ :—आन = अन्य।

प्रसंग-भावार्थ :— कोई सखी किसी अन्य सखी से कहती है कि उस नायिका ने नायक की वंशी की ध्वनि को सुनने के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं के न सुनने की मानों शपथ लेली है, इसीलिए मानों वह कानन की ओर ही जहाँ से वंशी ध्वनि आती है, अपने कानों को रात दिन लगाए रहती है।

अलंकार :— गम्योत्प्रेक्षा।

तुलनात्मक :—"कानन लागे ही रहत कानि न लागत ऐन।
हिए कसाले दै कठिन होत निराले नैन।"
—विक्रम सतसई

छला छबीले लाल कौ, नवल नेह लहि नारि।
चूँवति, चाहति, लाइ उर पहिरति, धरति उतारि ॥६४९॥

शब्दार्थ :—छला = छल्ला, नवल नेह = नवीन प्रीति।

प्रसंग भावार्थ :—एक सखी अन्य सखी से कहती है कि वह (नायिका) अपने प्रिय (नायक) के द्वारा दिए गए छल्ले को नवीन प्रेम के कारण, हाथ में लेकर कभी चूमती है, कभी उसे प्रेम करती है, कभी उसे अपने कण्ठ से लगाकर पहन लेती है तो कभी उतार कर रख देती है।

विशेष :—प्रिय के द्वारा प्राप्त वस्तु में भी प्रियतम के ही गुण आ जाते हैं अत: नायिका ने उस छल्ले को भी जैसे प्रियतम से असम्पृक्त समझकर हरबार चूमा, पहना तथा उतारा है।

अलंकार :—अनुप्रास, दीपक तथा स्वभावोक्ति।

(स्फुट-विषयक-दोहे)

सघन कुंज छाया सुखद, सीतल मंद समीर।
मन ह्वै जातु अजौं वहै, उहि जमुना कैं तीर ॥६५०॥

शब्दार्थ :—अजौं = आज भी।

प्रसंग भावार्थ :—कोई विरहिणी नायिका अपनी सखी से कहती है कि उन घने कुंजों की सुखद छाया में बहने वाली शीतल मन्द समीर आज भी मेरे मन को यमुना के उन्हीं तट-प्रान्तों की ओर ले जाती है जहाँ मैंने उनके (नायक के) साथ रमण किया था।

अलंकार :—अनुप्रास तथा स्मरण ।

जहाँ जहाँ ठाढ़ौ लख्यौ, स्यामु सुभगु सिर मौरु ।

बिन हूँ उन छिनु गहि रहतु दृगनु अजौं वह ठौरु ॥६५१॥

शब्दार्थ :—सिरमौर = शिरोमणि, ठौरु = स्थान ।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—नायिका अपनी सखी से कहती है कि जहाँ-जहाँ सौभाग्य शिरोमणि श्रीकृष्ण खड़े रहे हैं वे स्थान आज भी उनके बिना मेरे नेत्रों को आकर्षित करके पकड़ लेते हैं ।

विशेष :—प्रियविछोह में पूर्वदृष्ट स्थान भी सान्त्वनादायक हो जाते हैं ।

अलंकार :—विभावना तथा स्मृति ।

तुलनात्मक :—"जहाँ जहाँ नागरि नवल गई निकुंज मझाइ ।
तहाँ तहाँ लखियत अजौं रही वही छबि छाइ ॥"
—विक्रम सतसई

मोर-मुकट की चन्द्रकनि, यौं राजत नँदनंद ।

मनु ससि सेखर की अकस, किय सेखर सतचंद ॥६५२॥

शब्दार्थ :—चंद्रकनि = चंद्रमाओं से, राजत = शोभित, नदनंद = श्रीकृष्ण, ससि शेखर = शंकर, अकस = प्रतिद्वन्द्विता, शेखर = मस्तक ।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका श्रीकृष्ण के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर अपनी अन्तरंग सखी से कहती है कि नन्दनन्दन श्रीकृष्ण के मस्तक पर शतशत चन्द्रमाओं से अंकित मयूर पंखों का किरीट धारण करने से ऐसे सुशोभित हो रहे हैं मानों शंकर जी से प्रतियोगिता करने के लिए ही उन्होंने शतचन्द्र धारण कर लिए हों ।

विशेष :—शंकर जी के ललाट पर एक ही चन्द्रमा है ।

अलंकार :—हेतूत्प्रेक्षा तथा व्यतिरेक ।

तुलनात्मक :—"सखि लखि नंदकिसोर सिर मोर मोर पर है न ।
मनु सुमनसपति अकस सों सहस किए हैं नैन ॥"
—राम सतसई

डिगति पानि डिगुलात गिरि, लखि सब ब्रज बेहाल ।
कंपि किशोरी दरसि कै, खरैं लजाने लाल ॥६५३॥

शब्दार्थ :—पानि = हाथ, डिगुलात = डगमगाता है, खरैं = अत्यन्त ।

प्रसंग-भावार्थ :—इन्द्रकोप से रक्षा करने के लिए कृष्ण ने कनिष्ठिकांगुलि पर गोवर्द्धन पर्वत धारण कर लिया है । सम्मुख ही राधा आ जाती हैं । यह देखकर उन्हें कम्प हो जाता है । इसी दृश्य के विषय में एकसखी दूसरी सखी से कहती है कि देख तो कृष्ण का हाथ हिलते ही पर्वत भी डगमगाने लगा है, जिसे देखकर सभी ब्रजवासी बेहाल हुए जा रहे हैं । लाल को किशोरी राधा का दर्शन करने के कारण ही मानों यह लाज तथा कम्पन हो उठे हैं ।

अलंकार :—हेतु तथा उत्प्रेक्षा ।

तुलनात्मक :—

"नैंकु ओट करि गिरि धर्‌यौ लसत संकप गुविन्दु ।
ब्रज बोरत अब इन्द्र लौं यह तेरौ मुख इन्दु ॥
करवर पर गिरिवर धरे ललित लाल ललचाइ ।
जाके चितवन चखनि कुच सो सकुचति मुसिक्याइ ॥"

—मतिराम सतसई

कारे बरन डरावने, कत आवत इहिं गेह ।
कै वा लखी सखी, लखैं लगै थरथरी देह ॥६५४॥

शब्दार्थ :—बरन = रंग, कत = क्यों, कैवा = कई बार, थरथरी = कम्पित होना ।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—नायिका अपनी अन्तरंग सहचरी से कहती है कि इस घर में यह कृष्ण रंग का भयानक शरीर वाला व्यक्ति क्यों आया करता है ? मैंने इसे यहाँ न जाने कितनी बार नहीं देखा होगा ! इसे देखकर तो मुझे भयवश कम्प होने लगता है ।

विशेष :—वस्तुतः यह कम्प भयजनित न होकर प्रीतिजनित है । नायिका लोकलाज के कारण उसे भयजनित कह रही है ।

अलंकार :—व्याजोक्ति ।

नख रुचि चूरनु डारि कै, ठगि लगाइ निज साथ।
रह्यौ राखि हठि लै गए हथाहथी मनु हाथ ॥६५५॥

शब्दार्थ :—रुचि = छवि, चूरनु = चूर्ण, ठगि = छलकर, हथाहथी = हाथापाई।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका अपनी अन्तरंग संगिनी से कहती है कि नायक के हाथ अपनी नखछवि के चूर्ण को डालकर तनिक छल करते हुए मेरे साथ हठपूर्वक, हाथापाई करके मेरे मन को भी ले गए।

अलंकार :—उत्प्रेक्षा-रूपक तथा अनुप्रास।

नावक सर से लाइ कै तिलकु, तरुनि इत ताँकि।
पावक-झरसी झमकि कै, गई झरौखा झाँकि ॥६५६॥

शब्दार्थ :—नावक = तीर फेंकने वाली नली, पावक झर = अग्नि वर्षा, झमकि कै = शीघ्रता से, झरोखा = गवाक्ष।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—नायक अपने अन्तरंग मित्र से कह रहा है कि नायिका ने अपने भाल पर नावक से छूटे हुए तीर के समान नुकीले तिलक को लगाकर मेरी ओर देखा। वह झरोखे में से शीघ्रतापूर्वक तनिक झाँकती हुई अग्नि की सी वर्षा करती हुई चली गई।

विशेष :—नावक से छूटा हुआ तीर भी चपलतापूर्वक अग्नि की वर्षा करता है।

अलङ्कार :—अनुप्रास-उपमा तथा साङ्गरूपक।

चित पित मारक जोगु गति भयौ, भयैं सुत, सोगु।
फिरि हुलस्यौ जिय जोइसी, समुझैं जारज-जोगु ॥६५७॥

शब्दार्थ :—पितु मारक = पितृ घातक, जोगु = नक्षत्र, गनि = समझकर, भयैं = होने पर, सोगु = शोक, हुलस्यौ = उल्लसित हुआ, जोइसी = ज्योतिषी, जारज = अन्य से उत्पन्न।

प्रसंग-भावार्थ :—कोई सखी किसी अन्य सखी से कहती है कि किसी ज्योतिषी पिता के यहाँ कोई पुत्र उत्पन्न हुआ। पुत्र की उत्पति के साथ पितृघातक योग देखकर उसे अत्यन्त क्लेश हुआ किन्तु जब उसे यह ज्ञात हुआ कि उसकी

उत्पत्ति जारज योग के साथ हुई है तो उसका हृदय पुनः उल्लसित हो गया।

विशेष :—जारज सन्तान का प्रभाव उसके वास्तविक पिता पर ही पड़ सकता है लौकिक या व्यावहारिक पिता पर नहीं।

अलङ्कार :—लेश।

इहिं काँटैं मो पाँइ गड़ि, लोनी मरति जिवाइ।
प्रीति जनावत भीति सौं, मीत जु काढ़्यौ आइ ॥६५८॥

शब्दार्थ :—गड़ि = गढ़कर, जनावत = प्रकट करते समय, भीति = भय, काढ़्यौ = बाहर निकाला।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका अपनी अन्तरंग सखी से कह रही है कि मैं जिस समय मार्ग में जा रही थी तब मेरे पैर में शूल चुभ गया था। प्रियतम ने अपने प्रेम का परिचय देने के लिए भयपूर्वक—कि कहीं कोई और न देखले उस कांटे को आकर बाहर निकाल दिया; अतः इस काँटे ने मेरे पैर में गढ़कर प्रियतम के प्रेम का विश्वास दिलाकर मेरे प्राणों की रक्षा करली है।

अलंकार :- पर्यायोक्ति तथा अनुज्ञा।

तुलनात्मक :—"कंटक काढ़त लाल की चंचल चाहनि चाहि।
चरन खैंचि लीनौ तिया हंसि झूठैं करि आहि॥
—मतराम सतसई

बुधि अनुमान, प्रमान श्रुति, किएँ नीठि ठहराइ।
सूछम कटि पर ब्रह्म की, अलख लखी नहिं जाइ ॥६५९॥

शब्दार्थ- बुधि = सांख्य का महत्तत्व, अनुमान = न्याय का प्रमाण, श्रुति = वेदचतुष्टय, सूछम = क्षीण, कटि = कमर, अलख = अलक्ष्यता।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—नायक अपने अन्तरंग सखा से नायिका की कटि की क्षीणता की प्रशंसा करते हुए कह रहा है कि यद्यपि सांख्य के महत, न्याय के अनुमान तथा वेदचतुष्टय के प्रमाणों के अनुसार ब्रह्म अत्यन्त ही सूक्ष्म है, अलक्ष्य है; तथापि उस नायिका की कटि इतनी अधिक क्षीण है कि ब्रह्म की अलक्ष्यता भी वहाँ लक्षित नहीं होती है।

विशेष :—ब्रह्म की सूक्ष्मता के लिए 'अणोरणीयान्' कहा गया है।

अलंकार :—व्यतिरेक तथा अतिशयोक्ति।

तुलनात्मक :—"बिनु देखैं न समुझि परत तुव कटि कौ अनुमान।
उरज बिलोकि बिरंच कौ कछु प्रपंच परवान ॥"
—विक्रम सतसई

पार्‌यौ सोरु सुहाग कौ, इनु बिनु हीं पिय-नेह।
उनदौ हीं अँखिया ककै, कै अलसौंही देह ॥६६०॥

शब्दार्थ :—सोर = प्रसिद्धि, उनदौंही = उनींदी, अलसौंही = अलस।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—कोई सखी नायिका से उसकी सपत्नी के विषय में कह रही है कि बिना नायक की ओर से प्रेम पाए हुए ही उसने सब के सम्मुख अपने प्रेमप्राप्तिजन्य-सौभाग्य की प्रसिद्धि करदी है। वास्तव में अपनी उनींदी आँखों तथा अलस देह के द्वारा उसने नायक को रिझाना चाहा था किन्तु वह सफल नहीं हो सकी है।

अलंकार :—विभावना।

बैंदी भाल, तँबोल मुख, सीस सिलसिले बार।
दृग आँजैं, राजै खरी, एई सहज सिंगार ॥६६१॥

शब्दार्थ :—तँबोल = ताम्बूल-पान, सिलसिले = संहृत-वेणीकृत, आँजैं = अंजित किए।

प्रसंग-भावार्थ :- कोई दूती नायक के पास आकर कहती है कि मस्तक पर बेंदी तथा मुख में अधरों को लाल करने के लिए—ताम्बूल लगाए तथा केशों को भली प्रकार ग्रथित किए हुए दृगों में काजल सारकर वह सहज शृङ्गारमयी नायिका खड़ी होकर तुम्हारे आने की प्रतीक्षा कर रही है।

अलंकार :—स्वभावोक्ति तथा अनुप्रास।

दृग थिरकौहैं, अधखुलैं, देह थकौहैं ढार।
सुरत सुखित सी देखियति, दुखित गरभ कैं भार ॥६६२॥

प्रसंग-भावार्थ :—कोई सखी किसी दूसरी सखी से कहती है कि देखो वह गर्भवती नायिका बैठी हुई है जिसके नेत्रों में थिरकन है और जो (नेत्र) कि अधखुले हैं। देह उसकी शैथिल्य के भार से दब सी गई है। सुरतान्त के क्षण की सी सुखानुभूति उसके मन में है परन्तु गर्भ के भार से वह दुखित भी है।

अलंकार :—सूक्ष्म ।

तुलनात्मक :—"पासे गर्भवती तिया सिथिल हाथ ढरकाइ ।
हँसत लाल-लोचन लखैं लोचन रही नवाइ ॥"

—मतिराम सतसई

सोहतु संगु समान सौं, यहै कहैं सब लोग ।
पान-पीक ओठनु बनै, काजरु नैननु जोग ॥६६३॥

शब्दार्थ :—संगु = सहचार, पीक = लाली ।

प्रसंग-भावार्थ :—किसी श्रृङ्गारी व्यक्ति का कथन है कि सभी लोग यही मानते हैं कि प्रत्येक वस्तु अपने स्तर की वस्तु के साथ ही शोभा दे सकती है जैसे पान की लाल पीक तथा कज्जल क्रमशः अधर तथा नेत्रों के ही योग्य होते हैं।

अलंकार :—दृष्टान्त तथा सम ।

गोपिनु सँग निसि सरद की, रमत रसिकु रस-रास ।
लहाछेह अति गतिनु की, सबनु लखे सब पास ॥६६४॥

शब्दार्थ :—गोपिनु = गोपियों के, रमत = रमण करते हुए, रसिक = प्रेमी, रास = क्रीड़ा, लहाछेह = छेड़छाड़ ।

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि जब शरत्काल की रात्रि में रसिक वर श्रीकृष्ण गोपियों के साथ-साथ रास क्रीड़ा तथा रमण में लगे हुए थे तब छेड़छाड़ की मुद्रा में (अंग संचालन करते समय) उस एक कृष्ण को सभी गोपियों ने अपने-अपने निकट देखा हो ।

विशेष :—श्रीकृष्ण लीला पुरुषोत्तम हैं । वे अपनी माया के द्वारा सब में एक रूप से भासित होने वाले हैं तथा अनेक नामरूप धारण करने की शक्ति से भी सम्पन्न हैं, यही कारण है कि समस्त गोपियों ने एक ही श्रीकृष्ण को पृथक्तः अपने अपने साथ देखा था । कहा भी गया है—"इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते ।"

अलंकार :—विशेष ।

मिलि परछाँहीं जोन्ह सौं रहे दुहुनु के गात ।
हरि राधा इक संग हीं, चले गली महिं जात ॥६६५॥

शब्दार्थ :—जोन्ह = चन्द्रमा (ज्योत्स्ना) ।

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि नायक कृष्ण तथा नायिका राधा दोनों ही एक दूसरे के शरीर से सटकर गली में होते हुए चले जा रहे थे। वे दोनों चाँदनी (नायिका) तथा छायान्धकार (नायक) के समान मिलकर दो से एक हो गए थे।

विशेष :—यहाँ नायिका परकीया है। रति स्थायीभावान्तर्गत संयोग शृंगार रस तथा शंका एवं अवहित्थादि संचारियों का साङ्कर्य है।

अलकार —मीलित तथा उपमा।

भृकुटी-मटकनि, पीत पट-चटक, लटकती चाल।
चल चख चितवनि चोरि चितु, लियौ बिहारी लाल ॥ ६६॥

शब्दार्थ :—मटकनि = मोड़ना-मटकाना, चटक = आभा, चल चख = चंचल नेत्र।

प्रसंगभावार्थ :—नायिका अपनी अन्तरंग सखी से कहती है कि अपनी भौंहों के मटकने से, पीताम्बर की आभा से, झूमती हुई चाल से और चंचल चक्षुओं की चितवन से बिहारी-लाल ने मेरा मन हर लिया है।

विशेष :—'बिहारीलाल' में श्लेष भी माना जा सकता है।

अलंकार :—अनुप्रास तथा समुच्चय।

सखि सोहत गोपाल कैं, उर गुंजनु की माल।
बाहिर लसति मनौं प्रिए दावानल की ज्वाल ॥६६७॥

शब्दार्थ :—गुंजन = घुँघची, ज्वाल = चमक।

प्रसङ्ग भावार्थ – नायिका अपनी सखी से कहती है कि गोपाल कृष्ण के वक्ष के ऊपर लाल घुंघचियों की माला इस प्रकार शोभित हो रही है मानों भीतर का प्रेम बाहर दावानल की लपटें बनकर झिलमिला रहा हो।

विशेष :—दावानल की लपट तथा घुंघचियाँ दोनों का रंग लाल होता है जो प्यार का प्रतीक होता है।

अलंकार :—वस्तूत्प्रेक्षा।

है हिय रहति हई छई, नई जुगति जग जोइ।
दीठिहिं दीठि लगैं, दई, देह दूबरी होइ ॥६६८॥

शब्दार्थ : हई = हाय (बिस्मय विवोधक), जुगति = युक्ति ।

प्रसंग-भावार्थ :—पूर्वानुरागिनी नायिका अपनी सखी से कहती है कि संसार का हृदय इस नई रीति (व्यवहार) को देखकर विस्मय तथा भय से भर जाता है। अरे दैया ! यहाँ दृष्टियों का प्रहार तो दृष्टियों पर ही होता है किन्तु दुर्बलता देह में आती है।

विशेष :—प्रेम स्थूल से सूक्ष्म की ओर चलता है। नेत्रों से प्रारम्भ होने वाला प्रेम हृदय पर अधिकार कर लेता है।

अलंकार :— असंगति-यमक तथा अनुप्रास ।

लाज गहौ, बेकाज कत, घेरि रहे, घर जाँहि ।
गोरसु चाहत फिरत हौ, गोरस चाहत नाँहि ॥६६९॥

शब्दार्थ :—गहौ = धारण करो, बेकाज = व्यर्थ, गोरस = ऐन्द्रियिक रस, गोरसं = मक्खन ।

प्रसंग-भावार्थ :—दधि बेचने वाली नायिका से नायक की मार्ग में जब भेंट होती है तो वह (नायक) उससे गोरस (मक्खन) के लिए अपनी इच्छा प्रकट करता है। नायिका यह सुनकर उससे कहती है कि तनिक लज्जा तो करो, क्यों मुझे व्यर्थ ही मार्ग में घेरते हो। घर की ओर चलने दो। तुम्हें वास्तव में गोरस मक्खन नहीं चाहिए तुम्हें तो गोरस (ऐन्द्रियिकरस) की इच्छा है।

अलंकार :—यमक ।

तुलनामक :—"नित नित जाइ उराहनौ का कहि दीजै काहि ।
गो रस कौ चसकौ नहीं रस कौ चसकौ वाहि ॥
व्रज वीथिनि नोखौ रचत नित ही नित यह ख्याल ।
दोऊ चाहत फिरत हैं गोरस गोरस लाल ॥"

— विक्रम सतसई

मकराकृति गोपाल कैं, कुण्डल सोहत कान ।
धर्‌यौ मनौ हिय घर समरु, ड्यौढ़ी लसत निसान ॥६७०॥

शब्दार्थ :—कुण्डल = कर्णाभरण विशेष, समरु = कामदेव, ड्यौढ़ी = द्वार, निसान = ध्वजा ।

प्रसंग-भावार्थ :—दूती नायिका से नायक (गोपाल) का रूप वर्णन

करती है कि उनके कानों पर मकर की आकृति वाले कुण्डल सुशोभित हो रहे हैं जिससे प्रतीत होता है मानों कामदेव ने हृदय रूपी राज्यभूमि को विजित कर लिया हो और कर्ण प्रदेश पर अपनी मकराकृतिक पताका विजयचिह्न के रूप में फहरा दी हो।

विशेष :—नायक के हृदय में कामदेव का प्रवेश श्रुतिपथ से हुआ है, अर्थात् गुणश्रवण के पश्चात् ही प्रेम के सात्विक कम्प से उसके कुण्डल दोलित हो रहे हैं।

अलंकार : उत्प्रेक्षा-रूपक।

किती ने गोकुल कुलबधू, काहि न किन सिख दीन।
कौन तजी नहिं कुलगली, ह्वै मुरली हरि लीन ॥६७१॥

शब्दार्थ :—कुल गली = पारिवारिक मर्यादा।

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी अन्य सखी से कहती है कि गोकुल में कितनी कुलवधूटियां नहीं हैं और कौन किसको आदर्श तथा सतीत्व की सीख नहीं देती, अर्थात् सभी देती हैं। लेकिन ऐसी कौन सी है जिसने मुरली की ध्वनि के ऊपर आकर्षित होकर परिवार की कुलमर्यादाएं नहीं तजी हों?

विशेष :—मर्यादा के मरुस्थल में प्रेम-नदी का प्रवाह रुकता नहीं है।

अलकार—वक्रोक्ति तथा यमक।

तुलनात्मक—

गुरुजन परिचर्या धैर्य गांभीर्यलजा निजनिजगृहकर्म स्वामिनिप्रेमसेवा।
इति कुलरमणीनां वर्त्म जानन्ति सर्वा मुरमथन ! समस्तं हंसि वंशीरवेण॥

मोरचंद्रिका, स्याम-सिर, चढ़ि कत करति गुमान।
लखिबी पाइनु पर लुठति, सुनियतु राधा मान ॥६७२॥

शब्दार्थ :—गुमान = अभिमान, लखिबी = देखी जाओगी, लुठति = लुण्ठित होती हुई।

प्रसंग-भावार्थ :—कोई सखी नायक के मुकुट की चन्द्रिका को देखकर उससे कहती है कि तू श्याम की सिरचढ़ी होकर मन में इतना गुमान क्यों कर रही है? अभी हमने सुना है कि राधा ने मान किया है। जब श्याम उसको

मनुहार करेंगे तब तू राधा के चरणों के द्वारा लुंठित होते हुए देखी जाएगी।

अलंकार :—अन्योक्ति, लोकोक्ति तथा सम्भावना।

सोहत ओढ़ैं पीतु पटु, स्याम सलौनैं गात।

मनौं नीलमनि सैल पर आतपु पर्‌यौ प्रभात ॥६७३॥

शब्दार्थ :—सलौनें = सलावण्य, सैल = पर्वत, आतपु = प्रकाश।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका श्रीकृष्ण को देखकर अपनी सखी से कहती है कि वे (श्याम) अपने सुन्दर शरीर पर पीताम्बर धारण करके इस प्रकार सुशोभित हो रहे हैं मानों नीलमणि पर्वत के ऊपर प्रभातकालिक सूर्य की किरणों का मन्द मधुर आलोक विकीर्ण हो रहा हो।

विशेष :—'शिशुपालवधम्' के लेखक माघ की उपमा तथा उत्प्रेक्षाओं का प्रभाव इस दोहे पर पड़ा है।

अलंकार :—उत्प्रेक्षा तथा अनुप्रास।

अधर धरत हरि कैं परत होठ डीठि पटु जोति।

हरित बाँस की बाँसुरी, इन्द्रधनुष सी होति ॥६७४॥

शब्दार्थ :—होठ डीठि = अधर-दृष्टि, पटु जोति = वस्त्राभा।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—नायिका वंशीवादन के समय श्रीकृष्ण को देख लेती है। उनकी तात्कालिक आभा को देखकर वह अपनी सखी से कहती है कि जैसे ही वे अपने अधरों पर वंशी को रखते हैं तब उनके अधर, दृष्टि तथा पीताम्बर की छाँह उस हरे रंग की बाँसुरी पर इस प्रकार पड़ती है कि वह वंशी इन्द्रधनुष के समान दिखाई पड़ने लगती है।

विशेष :—इन्द्रधनुष बहुरंगी होता है। वंशी का हरा, अधरों का लाल, वस्त्रों का पीत, दृष्टियों का श्वेत-अरुण तथा श्याम रंग होता है।

अलंकार :—तद्‌गुण, यमक तथा उपमा।

कैंवा आवत ईहिं गली, रहौं चलाइ, चलैं न।

दरसन की साधैं रहै, सूधे रहैं न नैन ॥६७५॥

शब्दार्थ :—कैवा = कई वार, साधैं = अभिलाषा, सूधे रहैं न = संकोच-वशविनत रहते हैं।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—नायिका अपनी अन्तरंगिणी सखी से कहती है कि कई बार इस (नायक) के आने पर मैंने इसी गली में उसे देखने के लिए अपने नेत्र चलाए हैं पर इन्होंने सङ्कोचवश कभी सीधे होकर नहीं देखा। दर्शनों की चाह से भरे हुए ये नेत्र सदा ही लज्जावनत बने रहते हैं।

विशेष :—नायिका सखी से कहती है कि इस गली में जब-जब नायक आया है तो मैंने अपने नेत्रों को उसकी ओर से चलाने के लिए यत्न किया है परन्तु ये दर्शनों की चाहभरे नेत्र कभी सीधी राह नहीं चलते, अर्थात् लोकलाज छोड़कर उसी ओर देखते रहते।

अलंकार :—विशेषोक्ति।

बसि सकोच-दसबदन-बस, साँचु दिखाबति बाल।
सिय लौं सोधति तिय तर्नाहि, लगनि-अगनि की ज्वाल ॥६७६॥

शब्दार्थ :—दस बदन = रावण, सोधति = शुद्ध करती है।

प्रसंग-भावार्थ :—दूती नायक से कहती है कि अब तक तो वह संकोचरूपी दशमुख-रावण की वशवर्त्तिनी थी अतः कुछ कह नहीं पाती थी पर अब वह विरहिणी बाला अपनी देह शुद्धि-सीताजी के समान-विरह की ज्वाला में जल-जलकर कर रही है।

विशेष :—संकोच को दशमुख इसलिए कहा गया है कि वह दसों दिशाओं की ओर से आने वाला है।

अलंकार :—साङ्गरूपक।

उन हरकी हँसि कै, इतै, इन सौंपी मुसकाइ।
नैन मिलैं मन मिलि गए दोऊ, मिलबत गाइ ॥६७७॥

शब्दार्थ :—हरकी=हटक दिया-रोक दिया, सौंपी = समर्पित कर दिया।

प्रसंग-भावार्थ :—सखी का वचन सखी के प्रति:—राधा अपनी गायें लेकर आ रही हैं। उन्होंने सामने ही कृष्ण को देखकर कहा कि हमारी गाय को ले लो, तुम इसे चरा लाओ। यह कहते ही नायक तथा नायिका दोनों की ही दृष्टियाँ मिल गईं।

विशेष :—गायों का मिलना, नेत्रों का मिलना तथा मनों का मिलना एक

ही साथ कवि ने कुशलतापूर्वक दिखाया है।

अलंकार :—चपलातिशयोक्ति।

फेरि कछु क करि पौरि तैं, फिरि, चितई मुसकाइ।

आई जावनु लैन, जिय नेहैं चली जमाइ ॥६७८॥

शब्दार्थ :— फेरि = लौटना।

प्रसंग-भावार्थ :—नायक सखी से कहता है कि वह-नायिका-पहले तो बरोठे तक चली गई, फिर कुछ बहाना बनाकर लौट आई और मुस्कराकर देखने लगी। आई तो थी वह जामन लेने के लिए परन्तु मेरे मन में अपने प्रति स्नेह जमाकर चली गई।

विशेष :—क्रियाविदग्धा नायिका का वर्णन है।

अलंकार :—परिवृत्ति तथा पर्यायोक्ति।

निरदय, नेहु नयौ निरखि, भयौ जगतु भयभीतु।

यह न कहूँ अब लौं सुनी, मरि मारियै जु मीतु ॥६७९॥

प्रसंग-भावार्थ :—नायक से दूती कहती है कि हे निर्दय तुम्हारे प्रेम की नई रीति देखकर तो संसार भयभीत हो उठा है। अब तक ऐसा कहीं भी नहीं सुना था कि प्रिया को कष्ट पहुँचाने के लिए प्रेमी स्वयं कष्ट उठाता हो।

विशेष :—वास्तविक प्रेमी कभी प्रिय के अनिष्ट या कष्ट की कामना नहीं करता।

अलंकार :—काव्यलिंग तथा अद्भुत।

देह लग्यौ ढिग गेहपति, तऊ नेहु निरबाहि।

नीची अँखियनु हीं इतै, गई कनखियनु चाहि ॥६८०॥

शब्दार्थ :—गेहपति = स्वामी, निरबाहि = निर्वाह करने के लिए, कनखियनु = कनखियों से।

प्रसंग-भावार्थ :—उपपति (नायक) नायिका की सखी से कहता है कि यद्यपि उसका पति उसके शरीर से लगा हुआ ही खड़ा था फिर भी उसने प्रेम को निभाने के लिए मेरी ओर नीचे नेत्रों से प्रेम प्रदर्शित करते हुए कनखियों से देख लिया।

अलंकार :—तीसरी विभावना तथा अनुप्रास ।

तुलनात्मक :—कंत-चौक सीमंत की बैठी गाँठि जुराइ।
पेखि परोसिनि कौ पिया घूंघट में मुसिक्याइ ।।
—मतिराम सतसई

जद्यपि सुंदर, सुघर, पुनि, सगुनौ दीपक-देह ।
तऊ प्रकासु करै तितौ, भरियैं जितै सनेह ।।६८१।।

शब्दार्थ :—सगुनौ = गुण युक्त-वाती से युक्त; सनेह = प्रेम, तेल ।

प्रसंग-भावार्थ :—दूती नायिका से कहती है कि यद्यपि तुम सुन्दर हो, और तुम्हारे देह रूपी दीपक में गुण (रूप) रूपी बाती भी पड़ी हुई है फिर भी यह स्नेह (प्रेम-तेल) के विना प्रकाश नहीं करेगा; अर्थात् इसमें जितना-जितना स्नेह डाला जाएगा उतना ही आलोक (सौन्दर्य) विखरेगा ।

विशेष :– किसी को आकर्षित करने के लिए केवल शारीरिक सौन्दर्य पर्याप्त नहीं होता, उसके लिए स्नेहपूर्ण हृदय होना भी आवश्यक है ।

अलंकार :—श्लेष तथा रूपक ।

चितु तरसतु, मिलत न बनतु, बसि परोस कैं बास ।
छाती फाटी जाति सुनि, टाटी ओट-उसास ।।६८२।।

शब्दार्थ :—टाटी = टटिया ।

प्रसङ्गभावार्थ :—दूती नायक से कहती है कि पड़ोस में रहने पर भी मिलन न होता हुआ देखकर वह (नायिका) मन ही मन तरसती रहती है । तुम्हारे वियोग के कारण वह टटिया की ओर मुंह किए (जिससे कि कोई देख न ले) हुए जो उच्छ्वास लेती है उन्हें सुन-सुनकर मेरी तो व्यथा से छाती फट जाती है ।

अलंकार :—विशेषोक्ति तथा लोकोक्ति ।

दुचितैं चित हलति न चलति, हँसति न झुकति, विचार ।
लखत चित्र पिउ लखि, चितै रही चित्र लौं नारि ।।६८३।।

शब्दार्थ :—दुचितैं = संकल्प विकल्प से भरी ।

प्रसंग-भावार्थ :—नायक किसी नारी का चित्र बना रहा है, नायिका खड़ीं-खड़ी चुपचाप देख रही है । सखी इस घटना को किसी अन्य सखी को

दिखाते हुए कहती है कि देखो वह अनिश्चय पूर्ण मन से, विना हिलेडुले, विना सुस्कराते-झूमते हुए विचार करती हुई चित्ररचना में लीन प्रिय की ओर चित्र-लिखित की भाँति देख रही है।

विशेष :--नायिका के मन में सन्देह है कि वह उसका चित्र बनाएगा या सपत्नी का।

अलंकार :—उपमा, अनुप्रास तथा सन्देह।

प्रेम अडोलु, डुलै नहीं, मुँह बोलैं अनखाइ।
चित उनकी मूरति बसी, चितवनि माँहि लखाइ ॥६८४॥

प्रसंग-भावार्थ :—सखी, नायिका से कहती है कि तेरा प्रेम स्थिर है। तू तनिक भी उसकी राह से डगमगाती नहीं है। बार बार प्रेमी के विषय में पूछने पर तू कुपित होकर उत्तर देते क्षण सुख से बात करती है। तेरी चितवन से ही यह रहस्य स्पष्ट हो रहा है कि तेरे चित्त में उसकी (नायक की) मूर्त्ति वसी हुई है।

अलंकार :—प्रत्यक्ष प्रमाण [अनुमान नहीं क्योंकि नेत्रों से स्पष्ट दीख रहा है]।

जालरंध्र-मग अँगनु कौं, कछु उजास सौ पाइ।
पीठि दिए जगत्यौ रह्यौ, डीठि झरोखैं लाइ ॥६८५॥

शब्दार्थ :—रंध्र = छेद, मग = मार्ग, उजास = प्रकाश।

प्रसंग-भावार्थ :—सखीं नायक से नायिका कीं विरहदशा का वर्णन करते हुए कहती है कि झरोखे की जालियों के मार्ग से उसने तुम्हारी अंगच्छवि की तनिक सी झांकी कर ली है। तभी से वह संसार की ओर पीठ किए हुए—यथार्थ जगत् से पलायन करके—अपनी दृष्टि को उसी झरोखे में लगाए हुए है।

विशेष :—कादम्बरी के, महाश्वेता द्वारा, पुण्डरीक की प्रतीक्षा वाले दृश्य से इसकी समानता की जा सकती है।

अलंकार :—रूपक तथा लोकोक्ति गर्भित परिसंख्या।

तुलनात्मक :—"चढ़ी अटा देखति घटा कितक करति छल छंद।
नेह विसौने पैठती तेरी नजर बिलंद॥"

—मतिराम सतसई

नैन लगे तिहिं लगनि जु, न छुटैं छुटैं हूँ प्रान।
काम न आवत एक हूँ तेरे सैंक-सयान ।।६८६।।

शब्दार्थ :—सैंक = तीर, सयान = सयानापन।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका अपनी सखी से कहती है कि अब तो मेरे नेत्र उससे जाकर ऐसे लग गए हैं कि प्राण छूटने पर भी अलग नहीं हो सकेंगे। तू भले ही इनके ऊपर अपना सयानापन रूपी तीर चला ले पर अब ये किसी काम के नहीं रहे।

विशेष :—प्रेम मनोजगत् का सुरभित पुष्प है। बुद्धि और ज्ञान की कंकरीली धरती में वह विकसित नहीं होता।

अलङ्कार :—अत्युक्ति तथा विशेषोक्ति।

ऊँचैं चितै सराहियतु, गिरह कबूतर लेतु।
झलकित दृग, मुलकितु बदनु, तन पुलकितु किंहिं हेतु ।।६८७।।

शब्दार्थ :—चितै = देखकर, सराहियतु = प्रशंसा करती है, गिरह = कुलांच मारता हुआ।

प्रसंग-भावार्थ :—सखी नायक से कहती है कि ऊंचे आकाश की ओर देखकर तू जो कुलाँच भरते हुए कपोत की प्रशंसा कर रही है उससे तथा तेरे नेत्रों की चमक, मुख की आभा एवं शरीर के पुलकस्पंदनों से स्पष्ट हो रहा है कि तू कपोत को नहीं अपितु कपोत के स्वामी की प्रशंसा कर रही है, जो इसे उड़ा रहा है।

अलंकार :—अनुमान।

साजे मोहन-मोह कौं, मोहीं करत कुचैन।
कहा करौं, उलटे परे, टोने लोने नैन ।।६८८।।

शब्दार्थ :—मोह कौं = मोहित करने के लिए, कुचैन = बदहवास, टोने = जादू।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका अपनी सखी से कह रही है कि मैंने तो अपने नेत्रों में कज्जल लगाकर इसीलिए श्रृंगार किया था कि मोहन मुझ पर मोहित हो जाएं किन्तु ये नेत्र तो मुझी को बेचैन किए दे रहे हैं। मैं अब क्या करूं ? हे

सखी ! यह नेत्रों का सम्मोहनवशीकरण का जादू तो उल्टा नायक को छोड़कर मेरे ऊपर ही आगया ।

विशेष :- कामशास्त्र आदि ग्रन्थों में नायक-नायिका में पारस्परिक प्रेम सम्बन्ध बनाए रखने के लिए अनेक प्रकार के जादू टौनों का उल्लेख किया गया है ।

अलंकार : --यमक तथा विषम ।

तुलनात्मक :—"टौना अँखि बस करन कौ करे हते इन जाइ ।
अब उलटे रौना पर्‌यौ गरे दृगन के आइ ॥"

—रसनिधि सतसई

अलि इन लोइन-सरनु, कौ खरौ बिषम संचारु ।
लगैं लगाए एक से, दुहूँन करत सुमारु ॥६८९॥

शब्दार्थ :- लोइन सरनु = नेत्र रूपी तीर, बिषम = विचित्र, संचारु = गति, सुमार = आघात ।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका सखी से कहती है कि इन नेत्र रूपी बाणों की बड़ी विचित्र गति है । ये एक के द्वारा चलाए जाते हैं, दूसरे के द्वारा सहे जाते हैं; फिर भी इनका आघात दोनों ही पक्षों पर होता है ।

विशेष :—सामान्य तीर से एक व्यक्ति ही घायल होता है, तीर चलाने वाला नहीं । यहाँ दोनों का घायल होना संकेतित किया गया है ।

अलंकार :—रूपक तथा व्यतिरेक ।

जौ लौं लखौं न कुल-कथा, तौ लौं ठिक ठहराइ ।
देखैं आवत देखि हीं, क्यों हूँ रह्यौ न जाइ ॥६९०॥

शब्दार्थ :- कथा = कहानी, ठिक = उचित, देखैं आवत देखि हीं = देखते समय तो देखना ही बनता है ।

प्रसंग-भावार्थ :—किसी सखी से नायिका कहती है कि जब तक मैं उस (नायक) की ओर देखती नहीं हूं तब तक तो कुल की लाज प्रतिष्ठा की बात उचित रूप से बनी रहती है पर जब वह दृष्टिपथ पर आ जाता है तब तो बिना देखे रहा ही नहीं जाता, अर्थात् देखते ही बनता है ।

अलंकार :--अत्युक्ति ।

बनतन कौं निकसत लसत, हँसत हँसत, इत आइ ।
दृग खंजन गहि लै चल्यौ, चितवनि-चैंपु चढ़ाइ ॥६६१॥

शब्दार्थ :—तन = दिशा, निकसत = निकलते ही, चैंपु = गोंद ।

प्रसंग भावार्थ :—नायिका अपनी सखी से कहती है कि जब वह (नायक) गाय चराने के लिए वन प्रान्त की ओर निकलता है तो मुझे अत्यन्त सुन्दर लगता है । वह हंसते-हंसते मेरे द्वार की ओर आ जाता है और मेरे नेत्र रूपी चंचल खंजनों को अपनी स्निग्ध दृष्टि के गोंद से चिपका कर पकड़ ले जाता है ।

विशेष :—खंजनपक्षी स्वभावतः अत्यन्त चंचल होता है । उसका पकड़ना सरल कार्य नहीं है, अतः आखेटक किसी चिपकनी वस्तु का प्रयोग करता है जिसमें दाना चुगने के लिए आते समय वह पक्षी फंस जाता है ।

अलंकार :—अनुप्रास तथा सांगरूपक ।

तुलनात्मक :—"नैन चैंपु हित सांट की डीठि लगाइ उगै न ।
धरत अहेरी मन हियै तेरे खंजन नैन ॥"
—रसनिधि

चितु बितु बचत न हरत, हठि लालन-दृग-बरजोर ।
सावधान के बटपरा ए, जागत के चोर ॥६६२॥

शब्दार्थ :—चित बितु = चित्त रूपी वित्त, बटपरा = वटमार-ठग ।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका दूती से कहती है कि हे सखी ! लाल (नायक) के बलिष्ठ नेत्रों से मेरी मन रूपी सम्पत्ति बच नहीं पाती है । उनमें ऐसा सहज आकर्षण है कि वे हठपूर्वक ही सब कुछ (मन, स्मृति आदि) छीन लेते हैं । उनके नेत्र उन व्यक्तियों के लिए बटमार हैं जो इनसे बचते रहना चाहते हैं तथा ये दिन में भी सब के देखते-देखते मन की चोरी कर ले जाते हैं ।

अलंकार :—विभावना तथा रूपक ।

तुलनात्मक :—लाल तिहारे दृगनु की हाल कही नहिं जाइ ।
सावधान रहिए तऊ चित बित लेत चुराइ ॥"
—भिखारीदास

सुरति न ताल न तान की, उठ्यौ न सुरु ठहराइ ।

ए री रागु बिगारि गौ, बैरी बोलु सुनाइ ॥६६३॥

शब्दार्थ :--सुरति = स्मृति-लगाव, तान = संगीत, उठ्यौ = आरोही स्वर ।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका अपनी अन्तरंग सखी से कहती है कि न अब मुझे ताल और संगीत के प्रति लगाव है और न उनकी स्मृतियाँ ही आती हैं। एक बार प्राणों का गीत आरोही स्वरों तक, फिर रुक जाने के बाद नहीं उठ पाया । अरी, वह बैरी (नायक) बीच में ही अपना बोल सुनाकर मेरे गीत की ध्वनि को बिगाड़ कर चला गया ।

विशेष :—ताल-तान-संगीत आदि सभी मिलन शृङ्गार के प्रतीक हैं। गाते-गाते गीत का बीच से रुक जाना अच्छा नहीं होता ।

अलंकार :—श्लेष, काव्यलिंग तथा अनुप्रास ।

सीरें जतननु सिसिर रितु, सहि बिरहिनि तनु ताप ।

बसिबे कौं ग्रीषम दिननु, पर्‌यौ परौसन पाप ॥६६४॥

प्रसंग-भावार्थ :—दूती नायक से कहती है कि शीतकाल में तो किसी न किसी प्रकार शीतलतादायक उपचार करके नायिका के विरहातप से रक्षा करली थी पर अब तो ग्रीष्म आ गई है अतः उसके पड़ौस में रहना भी लोगों के लिए पाप हो गया है ।

अलंकार :—अतिशयोक्ति ।

देखौ जागत वैसियै, साँकर लगी कपाट ।

कित ह्वै आवतु, जातु भजि, को जानै, किहिं बाट ॥६६५॥

शब्दार्थ :—वैसियै = वैसी ही, सांकर = अर्गला, कपाट = किबाड़, बाट = मार्ग ।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—नायिका ने स्वप्न में कृष्ण को अपने समीप देखा । नींद टूट जाने पर वह भी समीप नहीं रहा । यही बात वह अपनी सखी से कहती है कि जगने पर देखा तो वैसे ही कपाट लगे हुए थे, उनमें अर्गला भी वही पड़ी थी । मालूम नहीं किस मार्ग से वह मेरे पास आया और किस मार्ग से आँख खुलते ही

भाग गया ।

अलकार :—वितर्क तथा विभावना ।

सुख सौं बीतो सब निसा, मनु सोए मिलि साथ ।
मूका मेलि गहे, सु छिनु हाथ न छोड़े हाथ ॥६६६॥

शब्दार्थ :—मूका = दीवार में आलेनुमा आरपार बड़ा छेद ।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—नायिका अपनी सखी से कहती है कि दीवार के मीखे में से हम दोनों ही अपने-अपने मुख निकाल कर, हाथ में हाथ डाले हुए, अन्योन्य चुम्बन करते हुए मानों साथ मिलकर सारी रात सोते रहे, और इस प्रकार वह रात सुखपूर्वक ही बीत गई ।

विशेष :—भवभूति का संयोग शृंगार कवि का आदर्श रहा है। शारीरिकता, कालिदास से ली गई है ।

अलंकार :—अनुप्रास तथा उत्प्रेक्षा ।

उड़ति गुड़ी लखि ललन की, अँगना अँगना माँह ।
बौरी लौं दौरी फिरति, छुवति छबीली छाँह ॥६६७॥

शब्दार्थ :- गुड़ी = पतंग, बौरी = बावरी, लौं = समान ।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि वह (नायक) की पतंग को इस आँगन से उस आँगन में उड़ता हुआ देखकर बावली की भाँति उसकी छविमती छाया को छूने के लिए दौड़ी-दौड़ी फिर रही है ।

अलंकार :—यमक, उपमा तथा अनुप्रास ।

बिरह जरी लखि जीगननु, कह्यौ न उहि कै बार ।
अरी, आउ भजि भीतरी, बरसतु आजु अँगार ॥६६८॥

शब्दार्थ :—जीगननु = जुगनुओं को ।

प्रसंग-भावार्थ :—सखी का वचन नायक के प्रति—रात में खद्योतों का प्रकाश देखकर उसने अंगारों की वर्षा होने की संभावना करली, और वह विरहिणी सब को पुकार-पुकार कर कहने लगी कि सब लोग भीतर चले आओ। आज तो अंगारे बरस रहे हैं ।

विशेष :—आने के लिए "भागने" का जो प्रयोग हुआ है उससे

नायिका की अधीरता का परिचय मिलता है।

अलंकार :—भ्रान्तिमान्।

तुलनात्मक :—ए जीगन न उड़ाहिं री विरहवरी हि जराय।
इन आरी मदनागि की चिनगारी रहिं छाय ॥
(शृंगार सप्तशती)

बाम बाँह, फरकति, मिलैं, जौ हरि जीवन मूरि।
तौ तोही सौं भेंटिहौं, राखि दाहिनी दूरि ॥६९९॥

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका अपनी बांई भुजा से कहती है कि यदि तेरे फड़कने से मुझे जीवन के मूल कृष्ण मिल गए तो मैं दाहिनी भुजा को दूर रखकर तुझसे ही उनका आलिंगन करूँगी।

विशेष :—नारी के वामांगों का फड़कना शुभ होता है।

अलंकार :—सम्भावना।

तुलनात्मक :—

"फुरिए वामच्छि तुए जइ एहिइ सो पिओज्ज ता सुइरम।
संमीलिअ दहिणयं तुइ अवि एहं पलोइस्सम ॥"
—गाथा सप्तशती

स्फुरिते वामाक्षि त्वयि यद्योष्यति स प्रियोऽद्य तत्सुचिरम्।
संमील्य दक्षिणं त्वयैवैतं प्रेक्षिष्यति ॥"

औरै गति औरै वचन, भयौ बदन रँगु और।
द्यौसक तैं पिय चित चढ़ी, कहैं चढ़ै हूँ त्यौर ॥७००॥

शब्दार्थ :—द्यौसक = दो एक दिन से, चितचढ़ी = प्रिय हो गई।

प्रसंग भावार्थ :— कोई सखी किसी दूसरी सखी से कहती है कि उसकी (नायिका की) चाल, वाणी तथा मुख की छवि में कुछ और ही प्रकार का भाव आ गया है। दो एक दिन से वह प्रियतम के चित्त में क्या बस गई कि वह तो यह पूछने पर भी कि तुम्हारा प्रियतम कौन है कैसा है, अपने तेवर चढ़ा लेती है।

अलंकार :—लोकोक्ति तथा भेदकातिशयोक्ति।

बारौं, बलि, तो दृगनु पर अलि, खंजन, मृग मीन।
आधो डीठि-चितौनि जिहिं, किए लाल आधीन ॥७०१॥

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी नायिका से कहती है कि मैं तेरे ऊपर बलि जाऊँ तेरी इन आँखों पर निछावर हूं जो कि खंजन, हरिण और मछली से भी अधिक चंचल हैं। इन नेत्रों ने आधी दृष्टि से ही लाल को आधीन कर लिया है।

अलंकार :—व्यतिरेक तथा विभावना।

तुलनात्मक :—"नंदलाल के रूप पर रीझि परी इक वारि।
अधमूंदी अँखियन दई मूंदी प्रीति उघारि॥"

—मतिराम सतसई

लखि गुरुजन बिच कमल सौं, सीसु छुवायौ स्याम।
हरि सनमुख करि आरसी, हियैं लगाई बाम॥७०२॥

प्रसंग-भावार्थ : —एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि नायक ने गुरुजनों के बीच में संकोच के कारण, प्रेम प्रदर्शन करने के लिए कमल के फूल की ओर अपना सिर झुकाया। नायिका ने भी अपने हृदय पर, नायक के सम्मुख करके, आरसी को लगा लिया।

विशेष :—नायिका के चरण कमल के समान हैं। आरसी से तात्पर्य उसके स्वच्छ हृदय से है जिसमें उसने नायक का प्रतिबिम्ब बसा रखा है।

अलंकार :—सूक्ष्म।

रहैं निगोड़े नैन डिगि, गहैं न चेत अचेत।
हौं कसु कै रिस कै करौं, ये निसुके हँसि देत॥७०३॥

शब्दार्थ :—निगोड़े = पंगु, निसुके = दरिद्र।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—नायिका किसी सखी से कहती है कि ये निगोड़े नेत्र ही डगमगा जाते हैं। नायक को देखकर यह अपना चैन खो देते हैं और अचेत हो जाते हैं। मैं इन्हें कसकर उधर देखने के लिए बरजती हूँ और ये दरिद्र उन्हें देखकर हंस देते हैं।

अलंकार :—विशेषोक्ति।

मार्यौ मनुहारिनु भरी, गार्यौ खरी मिठाहिं।
वाकौ अति अनखाहटौ, मुसकाहट-बिनु नाहिं॥७०४॥

शब्दार्थ :—अनखाहटौ = बेरुखी।

प्रसंग-भावार्थ :—नायक नायिका की अन्तरंगिणी सखी से कहता है कि उसकी (नायिका की) मार भी मनुहारों से भरी होती है, उसकी गालियाँ भी बड़ी मीठी होती है और उसकी उदासीनता भी बिना मुस्कराहट के नहीं होती है।

अलंकार :—विरोधाभास तथा विनोक्ति।

हरि-छबि-जल जब तैं परे, तब तें छिनु बिछुरैं न।
भरत ढरत, बूड़त तरत, रहत घरी लौं नैन ॥७०५॥

शब्दार्थ :—घरी = कटोरी।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका किसी सखी से कहती है कि जब से हरि के सौन्दर्य रूपी जल में ये नेत्र पड़े हैं तब से एक पल के लिए भी दूर नहीं हुए। ये कभी जलमय हो जाते हैं, कभी उसमें डूब जाते हैं और कभी उस रूपसागर में संतरण करने लगते हैं। उनकी यह दशा जल में पड़ी हुई कटोरी जैसी हो गई है।

अलंकार :—उपमा तथा रूपक।

हरि हरि बरि बरि उठति है, करि करि थकी उपाइ।
वाकौ जुरु बलि बैद जौ, तो रस जाइ, तु जाइ ॥७०६॥

शब्दार्थ :—रस = औषधि, प्रेम।

प्रसंग-भावार्थ :—नायक के प्रति दूती का वचन—हे लाल वह हरि-हरि पुकारती हुई विरह ज्वर के ताप में जलने लगती है। मैं इस ताप को दूर करने के लिए अनेक उपाय करके थक गई। मैं तुम पर बलि जाऊं—हे वैद्य, उसका ज्वर तो केवल तुम्हारे रस रूपी रस से (प्रेम रूपी रसायन से) ही यदि गया तो चला जाएगा अन्यथा नहीं।

अलकार :—वीप्सा, विशेषोक्ति, श्लेष तथा रूपक।

सतरु भौंह, रूखे बचन, करति कठिनु मन नीठि।
कहा करौं, ह्वै जाति हरि हेरि हँसौंहीं डीठि ॥७०७॥

शब्दार्थ :—सतरु = सीधी, नीठि = प्रयत्न।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका अपनी सखी से कहती है कि मैं क्रोध दिखाने के लिए कभी तो भौंहें सीधी करती हूं, कभी नीरस वचन बोलती हूं—यद्यपि यह सब करने में मन को कठिन प्रयत्न करना पड़ता है। फिर भी मैं क्या करूं यह दृष्टि उन हरि (नायक) की ओर देखकर स्वभावतः हास्यमयी हो जाती है।

अलंकार :- विभावना।

बहु धनु लै, अहसानु कै, पारौ देत सराहि।
बैद बधू हँसि, भेद सौं, रही नाह-मुह चाहि ।।७०८।।

शब्दार्थ :—पारौ = पारा, भेद = रहस्य।

प्रसंग-भावार्थ :—किसी वैद्य और उसकी वधू के विषय में एक सखी अन्य सखी से कहती है कि उस वैद्य ने बहुत सा धन लेकर तथा अहसान करते हुए किसी व्यक्ति को पुष्टिदायक-पारे की भस्म दी। जब वैद्य की वधू ने इस बात को देखा तब वह उसकी ओर एक रहस्यभरी मुस्कराहट से वैद्य की ओर देखने लगी।

विशेष :—(वैद्य स्वयं भी नपुंसक है। वधू का हँसना वैद्य के लिए मानों एक चेलेञ्ज है कि पहले तो अपना ही निदान करा लो फिर औरों को दवा देना)।

अलंकार :- सूक्ष्म।

बतरस-लालच लाल की, मुरली धरी लुकाइ।
सौह करैं, भौहनु हँसै, दैन कहैं नटि जाइ ।।७०९।।

शब्दार्थ :—बतरस = बात रूपी रस, लुकाइ = छिपाकर, नटिजाइ = मना करती हैं।

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि नायिका ने नायक की मधुर-मधुर बातों के रस रूपी लालच से उसकी मुरली को छिपाकर रख दिया है। जब वह उससे मुरली देने के लिए कहता है तो वह कभी न लेने की शपथ खाती है, कभी भौंहों में ही हंस जाती है और देने के लिए प्रार्थना किए जाने पर वह स्पष्ट अस्वीकार कर देती है।

अलङ्कार :—कारकदीपक तथा रूपक।

नैंकु उतै उठि बैठियैं, कहा रहे गहि गेहु ।

छु टी जाति नह-दी छिनकु, महदी सूकन देहु ।।७१०।।

शब्दार्थ :—नह-दी = नाखून पर रची ।

प्रसंग-भावार्थ :—नायिका नायक से कहती है कि थोड़ा इधर से हटकर उधर (बाहर) ही चले जाश्रो । यह क्या तुम घर में घुसकर बैठ गए हो ? मेरे हाथों को छोड़ दो नहीं तो नाखूनों पर लगी हुई यह महदी छूट जाएगी । इसे क्षणभर सूख जाने दो, फिर भले ही तुम यहां पर बैठे रहना ।

अलंकार :—पर्यायोक्ति ।

नाह गरजि नाहर-गरज, बोलु सुनायौ टेरि ।

फँसी फौज में बंदि बिच, हँसी सबनु तनु हेरि ।।७११।।

शब्दार्थ: —नाह = नाथ, नाहर = सिंह, हेरि = देखकर ।

प्रसंग-भावार्थ :—एक सखी दूसरी सखी से रुक्मिणी और कृष्ण का वर्णन करती है कि जैसे ही सिंह की गर्जना के समान नायक ने आकर उसे आह्वान की पुकार दी वैसे ही वह अनेक शत्रुओं की (रुक्म तथा शिशुपाल आदि की) फौज में घिरी होने पर भी, उन सबों की ओर देखती हुई मुस्करा कर सोचने लगी, कि देखें अब तुम मेरा क्या कर सकते हो, अब तो मेरा नाथ आगया है ।

अलंकार :—उपमा तथा यमक ।

(जयशाह का यशो-वर्णन)

सामां सेन, सयान की, सबै साहि कै साथ ।

बाहुबली जयसाहिजू, फते तिहारैं हाथ ।।७१२।।

शब्दार्थ :—सामां = सामग्री-श्यामा, सेन=सेना-श्येन, सयान = बुद्धिमान, शचान, की सबैं = सभी की, कीश तथा वया, साहि = शाहजहाँ, फते = विजय-एक बाज ।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि मिर्ज़ा जयसिंह की प्रशंसा में कहता है कि विलास की सामग्री, सेना, बुद्धिमान व्यक्ति आदि तो सभी शाहजहाँ के साथ हैं किन्तु

उनकी विजय केवल बाहुबली मिर्ज़ा जयशाह के ही हाथों है।

विशेष :—शाहजहाँ के साथ सेनापति के रूप में जयसिंह जाया करते थे।

अलंकार :—अनुप्रास, श्लेष, अतिशयोक्ति परिकर तथा मुद्रा [श्यामा, श्येन, शचान, कीस, बैं, और फतहबाज़ कबूतर का नामाङ्कन किए जाने का कारण]

घर घर तुरुकिनि, हिंदुनी, देति असीस सराहि।
पातिनु राखि चादर चुरी, तैं राखी जयसाहि ॥७१३॥

शब्दार्थ :—तुरुकिनि = तुर्कों की स्त्रियाँ, सराहि = प्रशंसा करके, चुरी = चूड़ी।

प्रसंग-भावार्थ :—प्रत्येक घर की मुसलमान तथा हिन्दू सुहागिन स्त्रियाँ आशीर्वाद तथा प्रशंसा (वृद्धाएं आशीर्वाद तथा युवास्त्रियाँ सराहना) करती हुई कहती हैं कि मिर्ज़ा जयशाह ने हमारी सुहाग की चादर और चूड़ियों की रक्षा करके हमारे पतियों को बचाया है और हमें सुहाग दिया है।

विशेष :—मुसलमानों के यहाँ चादर तथा हिन्दुओं के यहाँ चूड़ी सौभाग्य के प्रतीक हैं।

अलंकार :—वीप्सा, अनुप्रास, परिकर तथा क्रम।

यौं दल काढ़े बलक तैं, तैं जयसिंह भुवाल।
उदर अघासुर कैं परैं ज्यों, हरि गाइ, गुवाल ॥७१४॥

शब्दार्थ :—तैं = से, तैं = तुमने, भुवाल = राजा, गुवाल = गोपालक।

प्रसङ्ग-भावार्थ :—मिर्ज़ा जयसिंह ने बलख के युद्ध में अपने सैनिकों की रक्षा भी की तथा विजय भी प्राप्त की। इसी घटना को कवि दृष्टान्त के द्वारा कहता है कि जैसे अघासुर के महान् उदर में से गाय तथा गोपों को हरि (कृष्ण) ने निकाल कर उन्हें जीवन दिया वैसे ही आपने भी इस दल के प्राण बचा लिए।

अलंकार :—परिकर, उदाहरण तथा यमक।

चलत पाइ निगुनी गुनी, धनु मनि-मुत्तिय-माल।
भेंट होत जयसाहि सौं, भागु चाहियतु भाल ॥७१५॥

शब्दार्थ :—धनु = धन, मुत्तिय = मोती ।

प्रसंगभावार्थ :—कवि मिर्ज़ा जयसिंह के दान की प्रशंसा में कहता है कि चाहे गुणी हो अथवा मूर्ख, महाराज जयशाह के यहाँ से धन, मणि तथा मोतियों की माल (ढेरी, समूह) भेंट में अवश्य पाता है। उनके दरबार में यह सब पाने के लिए भाग्य में लिखा होना आवश्यक नहीं है। अर्थात् यह धनराशि पाना नहीं अपितु सम्राट् से भेंट करना ही भाग्य ललाट की महत्वपूर्ण रेखा है।

अलंकार :—वक्रोक्ति तथा तुल्ययोगिता।

अनी बड़ी उमड़ी लखैं, असि बाहक, भट भूप।
मंगलु करि मान्यौं हियैं, भौ मुँह मंगलु रूप ॥७१६॥

शब्दार्थ :—अनी = सेना, असिवाहक = तलवार धारण करने वाले, भट = वीर, मंगल = शुभ, लाल रंग का एक नक्षत्र।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि मिर्ज़ा जयसिंह के युद्ध कौशल का वर्णन करता है कि शत्रु की विशाल वाहिनी को उमड़ता हुआ देखकर तलवार धारण करने वाले वीर सैनिकों एवं सम्राटों से युद्ध करना (जयसिंह ने) उसने मंगल कार्य समझा और फलतः वीरता तथा उत्साह के कारण उसका मुख मंगल नक्षत्र के समान आरक्त हो उठा।

अलंकार :—यमक, अनुप्रास तथा विभावना।

रहति न रन, जयसाहि-मुख, लखि लाखनु की फौज।
जाँचि निराखरऊँ चलै लै, लाखनु की मौज ॥७१७॥

शब्दार्थ :—मुख = सम्मुख, जाँचि = याचना करने पर, निराखरऊँ = निरक्षर भी।

प्रसंग-भावार्थ :— कवि अपने आश्रयदाता जयसिंह की युद्धवीरता तथा दानवीरता के लिए कहता है कि लाखों की सेना भी जयसिंह को युद्ध भूमि में सम्मुख देखकर टिक नहीं पाती तथा निरक्षर व्यक्ति भी याचना करने पर उनके द्वारा लाखों काप्रसाद–पुरस्कार पाते हैं।

अलंकार :—अत्युक्ति।

प्रतिबिंबित जयसाहि दुति, दीपति-दरपन-धाम ।
सबु जगु जीतन कौं कर्‌यौ, काय-व्यूहु मनु काम ॥७१८॥

शब्दार्थ :–दीपति = आलोकित करती है, दर्पन धाम = शीश महल, काय व्यूहु = काया का व्यूह ।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि राजा जयसिंह के रूप एवम् पराक्रम का वर्णन करता है कि शीशमहल की दीवारों पर मिर्ज़ा जयशाह का अनेक रूपी प्रतिबिंब पड़ रहा है जिसे देखकर लगता है मानों कामदेव ने संसार भर की विजय करने के लिए एक कायव्यूह की रचना की हो ।

अलंकार :—असिद्धास्पद फलोत्प्रेक्षा ।

हुकुम पाइ जयसाहि कौ, हरि-राधिका प्रसाद ।
करी बिहारी सतसई, भरी अनेक सवाद ॥७१९॥

शब्दार्थ :––जयसाहि = मिर्ज़ा राजा जयसिंह, प्रसाद = प्रसन्नता, कृपा, सवाद = रस ।

प्रसंग-भावार्थ :—कवि ग्रन्थ की समाप्ति में अपने आश्रयदाता तथा ग्रन्थ के विषय में कहता है कि मिर्ज़ा राजा जयसिंह के आदेश पर, कृष्ण तथा राधिका की कृपा प्राप्त करके मुझ बिहारीदास ने प्रस्तुत सतसई का निर्माण किया जो अनेक रसों से युक्त है ।

विशेष :—बिहारी सतसई यद्यपि श्रृङ्गार रस प्रधानग्रन्थ है; तथापि इसमें शान्त, वीर, अद्‌भुत, हास्य आदि अनेक रसों का यथास्थान वर्णन किया गया है ।

'बिहारी सतसई'

(दोहा सूचिका)

बिहारी सतसई	मूल पाठ	बिहारी बोधिनी	बिहारी रत्नाकर
१	मेरी भवबाधा हरौ	१	१
२	प्रगट भए द्विजराज कुल	६९७	१०१
३	तजितीरथ	४	२०१
४	सीस मुकट	२	३०१
५	कोऊ करिक संग्रहौ	७०१	६१
६	या अनुरागी	१८३	१२१
७	जपमाला छापैं तिलक	६८०	१४१
८	कीजै चित सोई	६९९	२२१
९	हरि कीजौं	७०७	२४१
१०	नितप्रति एकत हीं	९	२३८
११	मोहू दीजै मोषु		२६१
१२	मैं तपाइ त्रयताप	४१४	२८१
१३	तौ लगि या मन	६८३	३६१
१४	भजन कह्यौ	६८५	३७१
१५	पतवारी माला पकरि	६८६	३९१
१६	यह बरियाँ नहिं	६८७	४०१
१७	मोहिं तुम्हें बाढ़ी	४०७	४२७
१८	या भव पारावार	६८४	४३३
१९	लोपे कोपे इन्द्रलौं	१४	५२१
२०	ब्रजबासिनु को उचितु धनु	६९०	५६१
२१	करौं कुबत जग	७०३	४२५
२२	दूरि भजत प्रभु	६८८	४२८

बिहारी सतसई	मूल पाठ	बिहारी बोधिनी	बिहारी रत्नाकर
२३	निज करनी सकुचेंहि	७०५	४२६
२४	गिरि तें ऊचें	६१८	२५१
२५	मैं समुझ्यौ निरधारि		१८१
२६	मोहनि मूरति स्यामु की	३	१६१
२७	दियौ सु सीस	२७९	८१
२८	कब कौ टेरत	६६६	७१
२९	बन्धु भए का दीन के	६९४	६१
३०	नीकी दई अनाकनी	६९१	११
३१	जमकरि मुँह तरहरि	६७८	२१
३२	कौन भाँति रहिहै	६९३	३१
३३	जगतु जनायौ	६७९	४१
३४	दीरघ साँस न	६९२	५१
३५	जाकें एकाएक हूँ	६६९	४७१
३६	मनमोहन सों मोहु करि	३०५	६४१
३७	समै पलट पलटै	७०९	६६१
३८	को छूट्यौ इहि जाल	६६४	६७१
३९	अपनें अपनें मत लगे	७१०	५८१
४०	लटुवा लौं प्रभु	६२६	५०१
४१	तौ बलियै भलियै	७०८	६२१
४२	ज्यौं ह्वै हौं त्यौं	७०२	७०१
४३	चिरजीवौ जोरी जुरै	८	६७७
४४	थोरैं हूँ गुन रीझते	६९५	२८
४५	जौ न जुगति	१८६	७५
४६	कहा भयौ जो	५०९	५७
४७	अजौं तर्यौना ही	१२३	२०
४८	कहलाने एकत	५६५	४८९
४९	बैठि रही अति	५६६	५२
५०	नाहिन ए	५६४	४८८
५१	पावस घन अंधियार	५६८	४८६
५२	धुरवा होंहि न	५७२	५४९
५३	तिय तरसौंहैं मन	५६७	४८४
५४	उठि ठक ठक एतौ	५७७	७०४

बिहारी सतसई	मूल पाठ	बिहारी बोधिनी	बिहारी रत्नाकर
५५	प्रलय करन बरषन	१२	७४१
५६	बामा, भामा, कामिनी	५७६	७०३
५७	हठ न हठीली	५७३	५६२
५८	छिनकु चलति	२६५	३८४
५९	कुढंग कोपु तजि	५७१	४०४
६०	अब तजि नाँउ	५७५	६७२
६१	वेई चिरजीवी अमर	५७४	५६३
६२	पावक झर तैं	५७०	४०२
६३	घन घेरौ छुटिगौ	५७९	४८५
६४	अरुन सरोरुह	७११	४८७
६५	आड़े दै आले	४६७	२८३
६६	मिलि विहरत	५८२	६६७
६७	कियौ सबै जग	५८१	४९५
६८	ज्यौं ज्यौं बढ़ति	५८०	४९२
६९	आवत जात न	५८३	१७१
७०	रहि न सकी	५८६	३४४
७१	तपन तेज तापन	५८५	३४३
७२	लगति सुभग	५८४	३४२
७३	सुनत पथिक	४९८	२८५
७४	इहि बसंत न	५९१	५७४
७५	अनत मरैंगे	५९३	
७६	फिरि घर कौं	५९२	५९७
७७	छकि रसाल	५९०	४९६
७८	दिसि दिसि कुसुमित	५२८	४७६
७९	नहिं पावस	६७०	३७४
८०	बन बाटनु पिक	५२७	४७५
८१	कुंज भवन तजि	३७४	८४
८२	द्वैज सुधा दीधित	५८८	९२
८३	जौन्ह नहीं यह	५८९	२३४
८४	हौं हीं बौरी	५२०	
८५	धनि यह द्वैज	५८८	३८५
८६	रनितभ्रङ्ग घंटावली	५९०	३८९

बिहारी सतसई	मूल पाठ	बिहारी बोधिनी	बिहारी रत्नाकर
८७	रही रुकी क्यों हूँ	५६१	३८६
८८	रुक्यौ साँकरे	५६४	६८४
८९	चुवत स्वेद	५६२	३९०
९०	लपटीं पुहुप पराग	५६३	३९२
९१	तंत्री नाद	६१७	९४
९२	चटक न छाँड़त	६१९	६६८
९३	सम्पति केस	६२०	११७
९४	कबौं न ओछे	६२४	
९५	कोटि जतन कोऊ करौ	५२५	६६७
९६	जेती संपति	६२२	१११
९७	नीच हियैं	६२३	४९१
९८	नए बिससिए	६२१	३११
९९	दुसह दुराज	६३२	३५७
१००	कहैं इहैं	६३४	४२९
१०१	संगति सुमति न	३६८	२२८
१०२	नहि परागु	२६८	३८
१०३	सीतलतारु	६७१	५९
१०४	घर घर डोलतु	६९८	१५१
१०५	बड़े न हूजै	६३५	१९१
१०६	कनक कनक	६५१	१५२
१०७	जात जात बितु	६८९	२३५
१०८	जिन दिन देखे	६५५	२५५
१०९	सबै सुहाए ई	४०	२७१
११०	सबै हंसत	६४०	२७६
१११	बहकि बड़ाई	६५८	२८२
११२	स्वारथु सुकृतु न	६६६	३००
११३	संगति दोषु	५६	३०३
११४	डर न टरैं	१९४	३१८
११५	नर की अरु	६४२	३२१
११६	बढ़त बढ़त संपति	६४३	३३१
११७	गुनी गुनी सबके	६३६	३५१
११८	प्यासे दुपहर जेठ के	७१९	३६६

विहारी सतसई	मूल पाठ	विहारी वोधिनौ	विहारी रत्नाकर
११९	दृग उरझत	१९२	३६३
१२०	विषम वृषादित	६७७	३६७
१२१	वसै बुराई जासु	६३३	३८१
१२२	जौ चाहतु	६४४	२९७
१२३	क्यौं वसियै	२१६	४०७
१२४	अति अगाध	६४५	४११
१२५	गोधन तू हरष्यौ	१७	६९६
१२६	भावरि अनभावरि	६५४	६३७
१२७	पिय मन रुचि	२६७	६४०
१२८	पटु पाँखैं	६६५	६१९
१२९	अरे परेखौ	६५०	६२०
१३०	ओछे वड़े न	७१२	५९०
१३१	अनियारे दीरघ	८१	५८८
१३२	बुरी बुराई जौ	६५३	५८४
१३३	चितु दै देखि चकोर		५४७
१३४	मीत न नीत	६४६	४८१
१३५	इक भीजैं	२८	४६१
१३६	मूड़ चढ़ाएऊ	६७३	४५१
१३७	इहीं आस अटक्यौ	६५६	४३७
१३८	वे नर इहाँ नागर	६६२	४३८
१३९	चल्यौ जाइ	६७५	४३९
१४०	समै समै सुन्दर	७१२	४३२
१४१	मरतु प्यास पिंजरा	६६८	४३५
१४२	दिन दसु	६६७	४३४
१४३	तौ अनेक	७०६	४२१
१४४	करलै सूंघि	६६३	६२४
१४५	करि फुलेल कौ	६७६	
१४६	जदपि पुराने वक	६५९	
१४७	अरे हंस ! या नगर में	६६०	
१४८	को कहि सकै बड़ेन सौं	६६१	४३१
१४९	सरस कुसुम मंडरात	६५७	३६९
१५०	ढरे ढार	२६०	२३२

बिहारी सतसई	मूल पाठ	बिहारी बोधिनी	बिहारी रत्नाकर
१५१	जनमु जलधि	७१७	३७६
१५२	गहै न नैंकौ	६७२	३७७
१५३	गढ़ रचना बरुनी		३१६
१५४	कैसें छोटै नरनु तैं	६२४	१३१
१५५	पग पग मग	११३	४६०
१५६	कौंहर सी	११०	४४
१५७	पांइ महावरु	१०९	३५
१५८	रह्यौ डीठु	१०८	२०८
१५९	जंघ जुगल	१०७	२१०
१६०	लगी अनलगी	१०६	६६४
१६१	ज्यौं ज्यौं जोबन जेठ	१०५	११२
१६२	चलन न पावतु	१०४	८७
१६३	गड़े बड़े छबि	१००	४४८
१६४	नैंक हंसौंहीं	१०३	१००
१६५	पत्रा हीं तिथि	१०२	७३
१६६	सूर उदित हूँ	१०१	२५८
१६७	लौने मुँहु	९८	२८
१६८	पिय तिय सौं	९९	४३
१६९	तो लखि मो मन	९७	५५६
१७०	ललित स्याम	९५	२७०
१७१	डारे ठोड़ी गाड़	९६	१७
१७२	कुच गिरि चड़ि	९४	२६
१७३	सुदुति दुराई	९३	६६
१७४	बेसरि मोती	९०	७०६
१७५	लसत सेत	९२	१०६
१७६	बरन बास	९१	६९४
१७७	बेधक अनियारे	८६	२७
१७८	जटित नीलमनि	८५	१४३
१७९	बेसरि मोती दुति	८८	१७३
१८०	इंहिं द्वै हीं	८९	३०६
१८१	जदपि लौंग	८७	६८५
१८२	अर तैं टरत	५२	३

बिहारी सतसई	मूल पाठ	बिहारी बोधिनी	बिहारी रत्नाकर
१८३	औरै ओप	३८०	४
१८४	जोग जुगति	५४	१३
१८५	कहत नटत	६२	३२
१८६	खेलन सिखए	५१	४५
१८७	रस सिंगारु	५०	४६
१८८	सायक सम	५३	५५
१८९	बरजीते	५५	६७
१९०	कंज नयनि	६४	७८
१९१	पहुँचति डटि	६८	१७७
१९२	डीठि बरत	६५	१९३
१९३	लोभ लगे	१९६	१९५
१९४	लीनैं हूं	६७	२१३
१९५	भौंह उंचै	७०	२४२
१९६	फूले फदकत	८३	२४७
१९७	नीचीयै नीची	७५	२५७
१९८	अहे कहै न	२९२	२७९
१९९	ऐंचति सी	७१	३२०
२००	जदपि चबाइनु	८४	३३६
२०१	झूठे जानि न	५८	३४५
२०२	दृगनु लगत	५७	३४९
२०३	तिय कित कमनैंती	७६	३५६
२०४	लागत कुटिल	७३	३७५
२०५	तच्यौ आँच	५२४	३७८
२०६	छुटै न लाज	७८	५२४
२०७	करे चाह सौं	७९	५४२
२०८	चमचमात	८२	५७६
२०९	फिरि फिरि दौरत	५९	६७०
२१०	सटपटाति	७२	६४६
२११	दूर्‌यौ खरे	७७	६३८
२१२	गड़ी कुटुम की	६९	५९८
२१३	नैन तुरंगम	७४	
२१४	खरी भीर	६०	

बिहारी सतसई	मूल पाठ	बिहारी बोधिनी	बिहारी रत्नाकर
२१५	सब ही तनु	६१	३०
२१६	सब अँग करि	६३	२८४
२१७	जुरे दुहुनु के	६६	१९८
२१८	नासा मोरि	४८	४०६
२१९	खौरि पनिच	४९	१०४
२२०	तिय मुख लखि	४६	७०७
२२१	भाल लाल बैंदी	४२	६९०
२२२	मिलि चंदन	४५	१८०
२२३	सहज सुचिक्कन	३३	६५
२२४	कुटिल अलक	३७	४४२
२२५	कर समेटि कच	३५	६८७
२२६	छुटैं छुटावैं	३६	५७३
२२७	वे ई कर	३४	४३६
२२८	ताहि देखि	३८	
२२९	पीठि दिए	५५३	३५०
२३०	छुटत मुठिनु	५५५	३५२
२३१	ज्यौं ज्यौं पटु	५५९	३५३
२३२	रस भिजए	५५७	५१४
२३३	जज्यौं उझकि	५५६	५०३
२३४	दियौ जु पिय	५५४	२८०
२३५	गिरै कंपि	५५८	६३३
२३६	न्हाइ पहिरि	६०४	७००
२३७	चितवत जितवत	६०५	५१७
२३८	सुनि पगगुधुनि	४९९	६२३
२३९	नहिं अन्हाइ	६००	६४५
२४०	मुँहुँ पखारि	६०१	६६६
२४१	विहंसति सकुचित	६०२	६९३
२४२	मुहुँ धोवति	६०३	६९७
२४३	लै चुभकी	३६६	१५२
२४४	छिटके नाह	३६७	१५३
२४५	भई जु तन	११३	१८९
२४६	दुरत न कुच	११४	१८८

बिहारी सतसई	मूल पाठ	बिहारी बोधिनी	बिहारी रत्नाकर
२४७	छप्यौ छबीलौ	११६	५३८
२४८	सहज सेत	१२१	३४०
२४९	सोनजुही	११८	१९०
२५०	डारी सारी नील की	१२७	५०
२५१	जरी कोर गोरे बदन	१३१	२०४
२५२	देखति सोनजुही	१३२	३३०
२५३	तीज परबु	१३३	३१५
२५४	झीनें पट मैं	१३७	१६
२५५	भाल लाल बैंदी छए	४२	३५५
२५६	नीकौ लसतु	३९	१०५
२५७	कहत सबै	४१	१२७
२५८	पायल पांइ	४३	४४१
२५९	सोहत अँगूठा	११२	२०९
२६०	भूषन पहिरि	११६	३३५
२६१	पंचरँग रँग	१३४	६२६
२६२	सोहति धोती	२६२	४७८
२६३	टटकी धोई	६४७	४७७
२६४	किय हायल	१११	२१२
२६५	मानहुँ विधि तन	११७	४१३
२६६	सालत है नटसाल	१२२	६
२६७	लसै मुरासा	१२०	६७३
२६८	मंगल बिंदु	१२४	४२
२६९	तरिवन कनकु	१२६	८२
२७०	गोरी छिगुनी	१२५	३३८
२७१	उर मानिक की	१३०	३३९
२७२	तन भूषन	१२८	२३६
२७३	पाइ तरुनि कुच	१२९	२३७
२७४	पहिरत हीं	१४४	५१३
२७५	अंग अंग नग	१४७	६९
२७६	ह्वै कपूर मनिमय	१४८	६६२
२७७	करत मलिन	१५२	३३४
२७८	अंग अंग प्रतिविम्ब	१५३	६८०

बिहारी सतसई	मूल पाठ	बिहारी बोधिनी	बिहारी रत्नाकर
२७९	रंच न लखियत	११५	६९५
२८०	तियतिथि	२५	२७४
२८१	छुटी न सिसुता	२४	७०
२८२	नव नागरि तन	३१	२२०
२८३	देह दुलहिया	३०	४०
२८४	अपने अँग के	२९	२
२८५	तिय निय हिय	६१०	२९८
२८६	भावुक उभरौं	२७	२५२
२८७	लाल अलौकिक		१६५
२८८	लहलहाति तन	३२	५३२
२८९	गाढ़ैं ठाढ़ैं	७१४	४६२
२९०	केसरि कैसरि	१३९	१०२
२९१	कहि लहि कौनु	१४१	१३३
२९२	वाहि लखैं	१४०	१०९
२९३	रहि न सक्यौ	१४३	४४५
२९४	कहा कुसुम	१४५	५१२
२९५	हौं रीझी	१३६	८
२९६	फिरि फिरि चितु	१३८	१०
२९७	कंचनु तनु	१४६	३५९
२९८	वाल छवीली	१५०	६०३
२९९	दीठि न परत	१५१	३३३
३००	अंग अंग छवि	१५४	६९१
३०१	खरी लसति	१४९	४४०
३०२	रूप सुधा	१६३	६५०
३०३	तो तन अवधि	१६६	५६७
३०४	छाले परिबैं	१५९	४८३
३०५	त्यौं त्यौं प्यासेई	१६२	४१७
३०६	अरुन बरन	१५२	४१८
३०७	लिखन बैठि जाकी	१६५	३४७
३०८	भूषन भारु	१५६	३२२
३०९	कन दैबौ	१६१	२९५
३१०	मैं बरजी कै बार तूं	१६२	२५६

बिहारी सतसई	मूल पाठ	बिहारी बोधिनी	बिहारी रत्नाकर
३११	न जकधरत	१५७	४०५
३१२	दुमह सौति	१६४	६००
३१३	लाई लाल	३२१	६१३
३१४	दहैं निगोड़े	४५८	
३१५	खिचैं मान अपराध	४६१	६४९
३१६	तु हूँ कहति	४५९	५४८
३१७	मोंहि लजावत	४६०	५६६
३१८	नभ लाली	४६२	११५
३१९	दच्छिन पिय	४६३	२६०
३२०	मोहि दयौ	४६५	८३
३२१	आपु दियौ मनु	४६४	२९०
३२२	ज्यों कर त्यौं	६०७	६४७
३२३	अहे दहेंड़ी	६०८	६९९
३२४	देवर फूल हने	६०९	२४६
३२५	और सबै	६१५	६०२
३२६	फिरि फिरि बिलखी	६४१	१३८
३२७	परतिय दोषु	६३९	२६४
३२८	ओठ उचै	६५२	६१४
३२९	रवि बन्दौ	६१६	२२४
३३०	गोरी गदकारी	५९७	७०८
३३१	कहति न देवर	५९५	८५
३३२	पहुला हारि	५९६	२४८
३३३	गदराने तन	५९८	९३
३३४	छला परौसिनि	४७५	३७९
३३५	डीठि परौसिनि		३८३
३३६	चलत देत	४७४	५५१
३३७	आयौ मीतु	५४६	६५७
३३८	मृगनैंनी दृग	५४३	२२२
३३९	कियौ सयानी	५४५	६५६
३४०	बिछुरैं जिए	५५१	५७८
३४१	कहि पठई	५४८	२५४
३४२	जदपि तेज	५५०	१४५

बिहारी सतसई	मूल पाठ	बिहारी बोधिनी	बिहारी रत्नाकर
३४३	ज्यौं ज्यौं पावकु	५५२	३५४
३४४	रहे बरोठे	५४६	२२३
३४५	मलिन देह	४४७	१६३
३४६	पूसमास सुनि	५७७	१४६
३४७	रहिहैं चंचल	५७६	३६५
३४८	अजौं न आए	४८१	२०३
३४९	मिलि चलि	८४	६२५
३५०	ललन चलनु	४८२	४०८
३५१	चाह भरी	४८३	६२२
३५२	ललन चलनु सुनि	४८२	३५८
३५३	बिलखी डबकौंहैं	४७६	१६६
३५४	चलत चलत लौं	४८०	१७२
३५५	बालमु बारैं	४६८	१८७
३५६	बाढ़त तो उर	४७२	४४८
३५७	बिथुर्‌यौ	४७१	५०७
३५८	सुघर सौतिबस	४६९	३४६
३५९	हठि हिंतु करि	४७०	३८०
३६०	बिय सौतिनु		१२२
३६१	हँसि हँसि हेरति	३५९	१७९
३६२	निपट लजीली	३६१	३६८
३६३	बाम तमासौ	३५८	
३६४	खलित बचन	३६०	६५३
३६५	खरी पातरी	४३५	१४
३६६	लग्यौ सुमनु	४३२	१९
३६७	चितवनि रुखे	४२३	२९
३६८	राति दिवस	४५५	४५३
३६९	कहा लेहुगे	४४३	४९
३७०	हा हा बदनु	४४१	५३
३७१	हम हारी कै कै	४५०	१०७
३७२	आए आपु भली करी	४४९	१३६
३७३	तो रस रांच्यौ	४४०	१९७
३७४	सोवत लखि मन	४३०	२३३

बिहारी सतसई	मूल पाठ	बिहारी बोधिनी	बिहारी रत्नाकर
३७५	रस की सी रुख	४२६	२४३
३७६	मानु करति	४३४	२७३
३७७	क्यौं हूं सहवात	४४७	३०६
३७८	तो ही कौ		३१०
३७९	गहिली गरबु न	४४२	३१३
३८०	अनरस हूं रस	४४६	३३७
३८१	रुख रूखी मिस	४३६	४१५
३८२	पति रितु	४२८	४१६
३८३	सौंहें हूं	४३७	५०६
३८४	चलौ चलैं	५४४	५३६
३८५	दोऊ अधिकाई भरे	४३१	५५६
३८६	वाही दिन तैं	४४८	५६५
३८७	गह्यौ अबोलौ	४३३	५६१
३८८	एरी यह तेरी	४३८	६६४
३८९	बिधि बिधि कौन	४३९	६७५
३९०	बिलखी लखै	४२४	५८७
३९१	मुहुं मिठास दृग	४२७	३२३
३९२	कपट सतर	४२०	४१२
३९३	सकुचि न रहियै	४४४	७२
३९४	दुरैं न निघरट्यौ	४२१	४८२
३९५	ससि बदनी	४२१	
३९६	कत लपटैयतु	४१०	४९९
३९७	कत कहियत	४०७	५२०
३९८	फिरत जु अटकत	४१६	५२८
३९९	कत बेकाज	३९७	४४६
४००	रह्यौ चकितु	४००	४१०
४०१	वैसीयै जानी	३९५	३९५
४०२	प्रान प्रिया	४०४	२९७
४०३	कत सकुचत	४०३	२८९
४०४	अनत बसे	४०१	२८६
४०५	भए बटाऊ	४१२	२७२
४०६	पट सौं पौंछि	४१९	५५५

बिहारी सतसई	मूल पाठ	बिहारी बोधिनी	बिहारी रत्नाकर
४०७	सुभर भर्‌यौ	४१३	५४६
४०८	जो तिय तुम	४१७	५५८
४०९	सदन सदन	३८९	५४०
४१०	रही पकरि	३९९	२११
४११	केसर केसरि	३८८	१९९
४१२	मरकत भाजन	३९४	१८६
४१३	लाल न लहि	३९२	१८४
४१४	तरुन कोकनद	३८७	१६९
४१५	बाल ! कहा	३८६	१६८
४१६	तेह तरेरौ	३८५	११३
४१७	जिंहि भामिनि	५२२	६०८
४१८	मोहि करत कत	४१८	५७९
४१९	मोहू सौं बातनु	३९१	५६९
४२०	तुरत सुरत	३०३	१८५
४२१	वेई गड़ि	३८२	९७
४२२	पावक सो नयननु	३९८	७९
४२३	गहकि गाँसु	३८४	६५
४२४	वाही की चित	३९६	३३
४२५	पलनु पीक	३८३	२२
४२६	पट के ढिग	३९०	२१४
४२७	सुरंग महाबर	४०२	२८७
४२८	आजु कछू औरै	४१५	५२३
४२९	पल सौहैं	४११	४९८
४३०	लाल सलौने	४०९	३९७
४३१	नख रेखा सोहै	४०८	२४०
४३२	ह्यां न चलै	४०५	३३२
४३३	न करु न डर	४०६	३९४
४३४	हंसि हँसाइ	४२५	३१४
४३५	निरखि नबोढ़ा	१७३	२९६
४३६	डीठ्यौ दै	१७४	३८७
४३७	मानहुँ मुख	१७२	२८८
४३८	स्वेद सलिल	१७१	२५९

विहारी सतसई	मूल पाठ	विहारी बोधिनी	विहारी रत्नाकर
४३९	सनि कज्जल चख	१७५	५
४४०	चितई ललचौंहैं	१७६	१२
४४१	उर उरभ्यौ	२०५	५५४
४४२	समरस समर	२०४	५२७
४४३	सखी सिखाबति	२०६	
४४४	जो तव होत	२०८	६१५
४४५	अपनी गरजनि	२१०	४०६
४४६	उर लीने अति	२०७	५६०
४४७	लाल तिहारे रूप	२०६	३९८
४४८	गोप अथाइनु तैं	३·८	१०६
४४९	अरी खरी सरपट	३१४	४५६
४५०	जुवति जौन्ह में	३१५	७
४५१	छिपैं छिपाकर	३१३	५८०
४५२	निसि अंधियारी	३१२	२०७
४५३	फूली फाली	३१०	४५८
४५४	ज्यौं ज्यौं आवति	३१६	५४३
४५५	झुकि झुकि झपकौंहैं	५१७	५८९
४५६	उयौ सरद राका	३११	२३१
४५७	सघन कुंज घन	३०९	२९९
४५८	अंगुरिनु उँचि	३१८	५०५
४५९	मिस हीं मिस	३२०	५३१
४५०	दोऊ चाह भरे	४२५	५४५
४६१	लहि सूनैं घर	३२६	५८२
४६२	तनक झूठ	३३१	६४४
४६३	चाले की बातैं	३१९	१३४
४६४	नहिं हरि लौं	३२६	४९४
४६५	रही पैंज कीनी	६२३	५४४
४६६	रहि मुंह फेरि	३२४	५७७
४६७	हंसि ओठनु	३४८	६२७
४६८	कर उठाइ	३४७	४२४
४६९	सरस सुमिल	३५०	१७८
४७०	नाक मोरि	३००	६३२

बिहारी सतसई	मूल पाठ	बिहारी बोधिनी	बिहारी रत्नाकर
४७१	दीप उजेरैं	३३३	४६३
४७२	लखि दौरत पिय	३३४	४६४
४७३	चमक तमक	३३८	७६
४७४	जदपि नाहिं	३३९	३२४
४७५	भौंहनु त्रासति	३३२	६८३
४७६	सकुचि सुरति	३३१	४६५
४७७	पति रति की	३३७	२४
४७८	सकुचि सरकि	३३५	४६६
४७९	हरषि न बोली	३२८	१४९
४८०	कोरि जतनु	२८४	३९७
४८१	भैंटत बनै न	३२९	५६४
४८२	गली अँधेरी	३२७	२५३
४८३	बिनती रति बिपरीत	३४१	१३०
४८४	पर्‌यौ जोरु	३४०	१२९
४८५	रमन कह्यौ	३४४	३१९
४८६	मेरे बूझत	३४२	१३७
४८७	राधा हरि, हरि	३४३	१५५
४८८	लहि रत सुख	३४६	६५५
४८९	रंगी सुरत रँग	३४५	१८३
४९०	नटि न सीस	३७५	६०७
४९१	सही रँगीली	३७७	५११
४९२	यौं दलि मलियतु	३७८	६५१
४९३	कियौ जु चिबुक	३८१	५१८
४९४	छिनकु उघारति	३७९	६६५
४९५	मोसौं मिलवति	३७६	५०८
४९६	नीठि नीठि उठि	३७२	६४३
४९७	लाज गरब	३७३	२३
४९८	लखि लखि	३७१	६३०
४९९	दोऊ चोर मिहींचनी	३७०	५३०
५००	प्रीतम दृग मिहचत	३५२	४२२
५०१	दृग मिहचत	३५१	२००
५०२	बरजैं दूनी	३६९	६८६

बिहारी सतसई	मूल पाठ	बिहारी बोधिनी	बिहारी रत्नाकर
५०३	हेरि हिंडोरैं	३६८	९९
५०४	रहौ गुनी बेनी	१७०	४८०
५०५	देख्यौ अनदेख्यौ	१६८	६१८
५०६	त्रिबली नाभि	१६७	८८
५०७	बिहँसि बुलाइ	१६९	६१७
५०८	खल बढ़ई	२१६	४४४
५०९	उनकौ हितु	२१४	४४७
५१०	करतु जातु	२१५	४५२
५११	छुटत न पैयत	२१७	३२५
५१२	बढ़ति निकसि	३६२	६९८
५१३	अपनैं कर गुहि	३६५	२०४
५१४	घामु धरीकु	३६३	१२७
५१५	चलित-ललित	३६४	४०३
५१६	मरिबे कौ	४८९	५८५
५१७	प्रजर्‌यौ आगि	५८६	५५३
५१८	दुसह बिरह	४८५	६६६
५१९	करि राख्यौ	४८८	
५२०	पलनु प्रगटि	४८७	६५९
५२१	प्रिय प्राननु की	५९६	२७८
५२२	कहे जु बचन	४९४	५३७
५२३	सकै सताइ न	४९१	५९५
५२४	ध्यान आनि ढिग	४९०	५९४
५२५	अरी परे न	४९३	५२९
५२६	इत आवति	४९९	३०७
५२७	बिरह सुकाई	५००	३२९
५२८	स्यौं बिजुरी		४४५
५२९	करके मीड़े	५०५	५१६
५३०	छतौ नेहु	५०४	४५७
५३१	नयैं बिरह	५०३	४५६
५३२	बिरह बिपति	५०२	४५५
५३३	लाल तिहारे बिरह की	५०६	
५३४	याकै उर औरै	५०७	४८

बिहारी सतसई	मूल पाठ	बिहारी बोधिनी	बिहारी रत्नाकर
५३५	जब जब वै सुधि	५१०	६२
५३६	कौन सुनैं कासौं	५१२	६३
५३७	मरी डरी कि टरी	५०८	५६
५३८	औरै भाँति भए बए	५११	८६
५३९	मरनु भलौ बरु बिरह तैं	५१७	१४८
५४०	विकसित नवमल्ली	५१८	१७५
५४१	करी बिरह	५१६	१४०
५४२	यह बिनसतु	५१४	१ ०
५४३	नित संसौ	५१५	१२४
५४४	नैंकु न झुरसी	५१३	६८
५४५	औंधाई सीसी	५१९	२१७
५४६	सोवत जागत	५२१	२२७
५४७	कौड़ा आँसू	५२२	२३०
५४८	स्याम सुरति	५२५	२९२
५४९	गोपिन कैं अँसुवन	५२६	२९३
५५०	ही औरै सी	५२९	५१०
५५१	भौ यहु ऐसौई समौ	५३०	
५५२	जात मरी	५३२	२७७
५५३	मार सुमार	५३३	३०८
५५४	रह्यौ ऐंचि	५३४	४००
५५५	बिरह बिथा	५३५	४१४
५५६	पिय बिछुरन कौ	५३७	१५
५५७	सोवत सपनैं	५३६	११६
५५८	कागद पर	५३८	६०
५५९	रँगराती	५४०	१६४
५६०	विरह विकल	५३९	५२६
५६१	तर झुरसी	५४१	३२८
५६२	कर लै चूमि	५४२	६३५
५६३	सकत न तुव	४५३	१३२
५६४	मनु न मनावन	४५२	४५४
५६५	खरैं अदब	४५४	३६०
५६६	मैं मिसहा	३४५	६४२

बिहारी सतसई	मूल पाठ	बिहारी बोधिनी	बिहारी रत्नाकर
५६७	कर मुँदरी	३५३	६११
५६८	गनती गनिबे तैं	५३१	२७५
५६९	कालबूत दूती बिना	३०७	३६९
५७०	मोहि भरोसौ	३०६	६८२
५७१	हितु करि तुम	३०१	५९३
५७२	परसत पौंछत		७०२
५७३	नैंकौं उहि न	३०३	६१६
५७४	नाँउ सुनत हीं	३०२	५९९
५७५	ठाढ़ी मन्दिर पै	२९८	
५७६	रही अचलु सी	२९७	५३३
५७७	पल न चलैं	२९९	५३४
५७८	कब की ध्यान लगी	२९६	५८६
५७९	नाक चढ़ैं सीबी	३००	६०६
५८०	ढोरी लाई	२९४	५२२
५८१	मैं यह तोही	२९३	४७०
५८२	वै ठाढ़े	२९१	३८२
५८३	तू रहि, हौंही	२८९	२६८
५८४	दियौ अरघु	२९०	२६९
५८५	वाल बेलि	२८७	२१६
५८६	नखसिख रूप भरे	२३८	१५८
५८७	जसु अपजसु	२३७	१५७
५८८	जात सयान	२३६	६२९
५८९	ह्वै छिगुनी	२३९	१५९
५९०	लटकि लटिकि	२४१	१६२
५९१	नैंना नैंकु	२४०	१६०
५९२	तो हीं निरमोही	२४३	३६
५९३	नेहू न नैंननु	१७८	३७
५९४	इन दुखिया	२४८	६६३
५९५	देखत चूर कपूर	२६४	
५९६	देखत कछु कौतिगु	२७०	६३४
५९७	कहा कहौं	२७७	११०
५९८	लाज लगाम	२४७	६१०

बिहारी सतसई	मूल पाठ	बिहारी बोधिनी	बिहारी रत्नाकर
५९९	वहके सब	२४५	६
६००	फिरि फिरि बूझति	२४२	२१९
६०१	दुख हाइनु	२४४	५९२
६०२	नैंकु न जानी	२७८	११४
६०३	जो बाकैं	२७३	१४२
६०४	रही दहेंड़ी	२८३	२४५
६०५	मैं तोसौं	२७४	६६
६०६	रह्यौ मोहु	२५२	४९३
६०७	डगकु डगति .	२५०	१३९
६०८	नहिं नचाइ	२५३	१६४
६०९	चिलक चिकनई		१६६
६१०	लरिका लैबे के	२४९	३८६
६११	चितवनि भोरे	२५५	३०५
६१२	सहित सनेह सकोच	२५४	२६५
६१३	छिनु छिनु मैं	२५६	२०२
६१४	मैं लै दयौ	२५८	५३५
६१५	चुनरी स्याम सतार	२५७	३२६
६१६	तो पर बारौं	२५९	२५
६१७	रही लटू	२६१	४७३
६१८	हँसि उतारि	२६०	९०
६१९	छिनकु छबीले	२६५	५०४
६२०	टुनहाई सब	२६९	३४८
६२१	नागरि बिबिध	२६६	५०६
७२२	तू मति मानैं	२८६	२५०
६२३	पूछे क्यों	२८५	६८८
६२४	कोरि जतन कीजै	२८४	३९७
६२५	सन सूक्यौ	२७५	१३५
६२६	लखि लौने	२७१	५८
६२७	मन न धरति	२७२	२३९
६२८	तू मोहन	२८१	६०९
६२९	कहा लड़ै ते	२८०	१५४
६३०	बड़े कहावत	२८२	२२९

बिहारी सतसई	मूल पाठ	बिहारी बोधिनी	बिहारी रत्नाकर
६३१	बहकि न इहिं	२७३	६५४
६३२	थाकी जतन	१८०	१२५
६३३	होमति सुखु	१८४	५४
६३४	मैं हौं जान्यौ	१८५	६४
६३५	को जाने ह्वै हैं कहा	१८८	१५०
६३६	तजतु अठानु	१८९	१७०
६३७	फिरि सुधि दै	५७८	६६०
६३८	जिहिं निदाघ	५२३	२४४
६३९	नई लगति	१९७	२०५
६४०	तजी संक	१९९	२१८
६४१	झटकि चढ़ति	१९५	१९४
६४२	चलतु घेरु	१९३	४६०
६४३	पिय कैं ध्यानु	२०२	५८३
६४४	ह्याँ तै ह्वाँ	२०३	५२५
६४५	चकी जकी	२०१	३३६
६४६	इत तैं उत	१९८	२०६
६४७	मोहू सौं तजि	१८७	७७
६४८	लई सौंह	१९०	२४९
६४९	छला छबीले	१७९	१२३
६५०	सघन कुंज छाया	५	६८१
६५१	जहाँ जहाँ ठाढ़ौ	७	१८२
६५२	मोर मुकुट की	१०	४१९
६५३	डिगत पानि	१३	६०१
६५४	कारे बदन डरावने	६१४	५१५
६५५	नख रुचि		५५०
६५६	नावक सर से	८०	५७०
६५७	चित पित मारक	३४९	५७५
६५८	इहिं कांटैं		६०५
६५९	बुधि अनुमान	६८२	६४८
६६०	पार्‌यौ सोरु	६११	६६२
६६१	बेंदी भाल	१३५	६७९
६६२	दृग थिरकौंहैं	६०६	६९२

बिहारी सतसई	मूल पाठ	बिहारी बोधिनी	बिहारी रत्नाकर
६६३	सोहतु संग	६४८	२६७
६६४	गोपिन सँग	१९	२९१
६६५	मिलि परछाँही	१८	६७४
६६६	भृकुटी मटकनि	१९१	३०२
६६७	सखि सोहति	६	३१२
६६८	हे हिय	२२१	५०२
६६९	लाज गहौ	१५	१२६
६७०	मकराकृति गोपाल	१६	१०३
६७१	किती न गोकुल	२२	६५२
६७२	मोरचंद्रिका	२०	६७६
६७३	सोहत ओढ़ै	२१	६८९
६७४	अधर धरत	२३	४२०
६७५	कैंवा आवत		७०५
६७६	बसि सकोच		७४
६७७	उन हर की	१८१	१२८
६७८	फेरि कछुक	१८२	१४४
६७९	निरदय नेहु	२१८	३७०
६८०	देह लग्यौ	२२०	४६७
६८१	जद्यपि सुन्दर	२२५	६५८
६८२	चितु तरसत	२२३	२६२
६८३	दुचितैं	२२६	२९४
६८४	प्रेम अडोलु	२२२	६३१
६८५	जालरंध्र	२२४	२६३
६८६	नैन लगे	२२७	३७२
६८७	ऊँचैं चितै	६१३	३७१
६८८	साजे मोहन	२२८	४७
६८९	अलि इन लोइन सरनु	२२९	४५०
६९०	जौ लौं लखौं	२३१	७०९
६९१	बनतन कौ	२३२	१४७
६९२	चितु बितु बचत	२३३	१७४
६९३	सुरति न ताल	२३४	५५२
६९४	सीरैं जतननु	४९५	२६६

बिहारी सतसई	मूल पाठ	बिहारी बोधिनी	बिहारी रत्नाकर
६९५	देखौ जागत	२१२	४२३
६९६	सुख सौं बीती	२११	५७१
६९७	उड़ति गुड़ी		३७३
६९८	विरह जरी	४६२	५६६
६९९	बाम बाँह	५४४	५७२
६००	औरै गति	७१३	६७८
७०१	वारौं वलि	२६२	६२८
७०२	लखि गुरुजन	४५१	३४
७०३	रहैं निगोड़ै	४५८	५६८
७०४	मारयौ मनुहारिनु	४६६	४६८
७०५	हरि छवि जल	१४२	३०७
७०६	हरि हरि बरि	२८८	११६
७०७	सतरु भौंह	४५६	१०८
७०८	वहु धनु लै	६१२	४७६
७०९	बतरस लालच	३५६	४७२
७१०	नैंकु उतै	३५७	५००
७११	नाह गरजि नाहर गरज	६३७	२१५
७१२	सामाँ सेन	७२३	७१०
७१३	घर घर तुरुकिनि	७१६	७१२
७१४	यौं दल काढ़े	६२८	७११
७१५	चलत पाइ	६२७	१५६
७१६	अनी बड़ी	६२६	२२६
७१७	रहति न रन	६३०	८०
७१८	प्रतिबिम्बत	६३१	१६७
७१९	हकमु पाइ	७२४	७१३

सहायक ग्रंथ तथा ग्रंथकार

भूमिका भाग

ग्रन्थकार :—

नाम	पृष्ठ
विक्रमादित्य	२१, ६४, ६५, ६६
कबीर	२०, २५, २७, ५८, ६५, ६६, ७०, ७३, ७५, ८६, १११
जायसी	२०, ५०, ५७, ५८, ५९, ७३, १११
रामसहायदास	२१, ६४, ६५
भास	१
कालिदास	१, ४३, ४८, ५७, ५८, ६५, ६६, ९३, १०८
अश्वघोष	१
भवभूति	१, ४३, ५७, ९३, ९८
दण्डी	१, ५७, ८७, १०८
सुबन्धु	१
बाणभट्ट	१, १३, १६, ४३, ५७
हर्ष	१
सूर	१, २४, २५, २६, २७, २८, ३०, ३२, ५०, ५७, ६६, ६७, ७०, ७३, ७७, ८९, ९३, ९४, १०४, १०६, ११४, ११५
रत्नाकर	२, ४, १८, ८२, ९५, १०५, ११३
मिश्रबन्धु	२, ३, १०७

ग्रन्थ :—

नाम	पृष्ठ
महाभारत	१, १४, ५७, ५८, ७३
रामायण	१, ५७, ५८, ७३, ९४
विज्ञान गीता	८
संग्रामसार	५
रसचंद्रिका	५
हरिप्रकाश टीका	५
लालचंद्रिका	८, १०८
रामचंद्रिका	५
दूहा संग्रह	८
अग्निपुराण	१२
ध्वन्यालोक	१२, १५
अमरुकशतक	१२, १३, १५, १८, ६६, ८६, ९३, ९६, ९७, ९८
ऋग्वेद	१३, ५७, ५८
गाथा सप्तशती	१३, १४, १५, १६, १७, १८, २२, ६६, ८४, ९३, ९६

ग्रन्थकार :—

ग्रन्थ :—

ग्रन्थकार :—

ग्रन्थ :—

ग्रन्थकार :—

ग्रन्थ :—

ग्रन्थकार :—

सहायक ग्रंथ तथा ग्रंथकार

टीका भाग

ग्रन्थकार :—

ग्रन्थ :—

ग्रन्थकार :—

ग्रन्थ :—